न्याय-वैशेषिक दर्शन की सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित प्रमुख ग्रन्थों का समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिये प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री :

निशा खन्ना

निर्देशक :

श्री राज कुमार शुक्ल

प्रवक्ता संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विक्रमाब्द २०५२ (१९९६ ई०)

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय है - 'न्याय — वैशेषिक दर्शन की सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित प्रमुख ग्रन्थों का समीक्षात्मक, अध्ययन' है। यह नव्य न्याय के प्रकरण ग्रन्थों से सम्बन्धित विषय है। इस विषय के अन्तर्गत तर्कभाषा, तार्किकरक्षा, तर्कसंग्रह, तर्कामृत, तर्ककौमुदी तथा कारिकावाली का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। इस शोध प्रबन्ध में न्याय के षोडश पदार्थों तथा वैशेषिक के सप्तपदार्थों का तुलनात्मक विवेचन, उपरोक्त प्रकरण ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। प्रस्तुत विषय अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है, जिसमें न्याय एवं वैशेषिक के सिद्धान्तों का ज्ञान एक साथ ही हो जायेगा।

वेदान्त, योग, सांख्य इत्यादि दर्शनों पर तो बहुत कार्य हुऐ हैं, किन्तु न्याय वैशेषिक पर अत्यन्त अल्प संख्या में कार्य हुये हैं, इस कारण भी यह शोध प्रबन्ध अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रस्तुत प्रबन्ध में सात अध्याय हैं, इन सभी से पूर्व विषय-प्रवेश हैं, जिसके अन्तर्गत न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय का उद्भव और विकास, न्याय-वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थों, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थों एवं उनके ग्रन्थकारों का परिचय दिया गया है। प्रथम अध्याय में पदार्थ लक्षण, प्रमाण लक्षण तथा प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण किया गया है। द्वितीय अध्याय में अनुमान प्रमाण, तृतीय अध्याय में उपमान एवं शब्द प्रमाणों का निरूपण किया गया है, चतुर्थ अध्याय में अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव, इन्हीं चार प्रमाणों में कैसे होता है, इसका विवेचन किया गया है, तथा प्रामाण्यवाद का भी निरूपण किया गया है, पंचम अध्याय में न्याय में मान्य प्रमेय, संशय आदि अन्य पन्द्रह पदार्थों का निरूपण किया गया है, षष्ठ अध्याय में द्रव्य का निरूपण और गुण का निरूपण तथा सातवें अध्याय में कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव का निरूपण किया गया है। इन सभी के पश्चात अन्त में, अर्थात् उपसंहार रूप में इन सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों की परस्पर तुलना तथा शोध विषय की उपयोगिता का उल्लेख किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के सफल सम्पादन का श्रेय मेरे पूज्य गुरूवर्य श्री राज कुमार शुक्ल को ही है, जिनका पर्याप्त निर्देशन मुझे यथावसर प्राप्त होता रहा । अतः हम उनकी महती अनुकम्पा के प्रति अत्यन्त आभारी है। इसके साथ ही मैं भूतपूर्व कुलपति इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग डा. आद्या प्रसाद मिश्र, तथा वर्तमान कुलपति इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग - प्रो. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव एवं वर्तमान अध्यक्ष, संस्कृत विभाग - प्रो. सुरेश चन्द्र पाण्डेय का भी विशेष आभार मानती हूँ जिनका निर्देशन तथा यथावसर सहयोग मुझे प्राप्त होता रहा । इसके अतिरिक्त मैं उन सभी गुरूजनों के ऋणों से भी मुक्त नहीं हो सकती, जिन्होंने दर्शनादि का अध्यापन कर, मुझे इस कार्य के योग्य बनाया।

मैं अपने पारिवारिक सदस्यों और विशेषकर अपने पूज्य पिता जी श्री मोती लाल खन्ना, माता, ज्येष्ठ भ्राताओं तथा ज्येष्ठ बहनों की विशेष आभारी हूँ, जिनके असीम उत्साह, प्रबल अभिलाषा, तथा सहयोग ने, मुझे इस कार्य में प्रवृत्त किया।

अन्त में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के टंकक श्री आशुतोष शुक्ला के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुये मैं अपना कथन समाप्त करती हूँ । प्रस्तुत प्रबन्ध जिस रूप में भी है, विद्वद्वर्ग के समक्ष मूल्यांकन हेतु प्रस्तुत है ।

मेरे साधन और ज्ञान की परिधि अत्यन्त संकीर्ण है । अतः इस प्रबन्ध में त्रुटियों का बाहुल्य होना स्वाभाविक ही है। यत्नपूर्वक परिशोधित होने पर भी इस प्रबन्ध में - भ्रान्ति होने से, प्रमादवश अथवा टंकण दोष होने के कारण मानव सुलभ जो कुछ भी दोष है, वे विद्वानों के द्वारा परिमार्जनीय हैं :-

नैवावद्यं जगतीह किन्चन्न -
वाप्यवद्यं किल वस्तुजातम् ।
ततो बुधा आददते गुणान् हि,
हंसा यथा क्षीरपयोविवेकात् ।'

शोधछात्रा

निशा खन्ना

(निशा खन्ना)

विषयानुक्रमणिका

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन की सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित प्रमुख ग्रन्थों का समीक्षात्मक अध्ययन

विषयानुक्रमणिका

शरीर

इन्द्रिय

अर्थ

बुद्धि

मन

प्रवृत्ति

दोष

प्रेत्यभाव

फल

दुःख

अपवर्ग

(ख) संशय से निग्रहस्थान तक के पदार्थों का निरूपण

संशय

प्रयोजन

दृष्टान्त

सिद्धान्त

अवयव

तर्क

निर्णय

वाद

जल्प

वितण्डा

हेत्वाभास

छल

जाति

निग्रहस्थान

षष्ठ अध्याय :-

(क) द्रव्य निरूपण

द्रव्य लक्षण

द्रव्य भेद

पृथ्वी

जल

तेज

वायु

आकाश

कॉल

दिक्

आत्मा

मन

तमस् द्रव्य की अतिरिक्त पदार्थता का खण्डन

(ख) गुण निरूपण

गुण लक्षण

गुण भेद

रूप

रस

गन्ध

स्पर्श

संख्या

परिमाण

पृथकत्व

संयोग

विभाग

विषय - प्रवेश

विषय - प्रवेश

प्रस्तुत विषय 'न्याय - वैशेषिक दर्शन की सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित प्रमुख ग्रन्थों के समीक्षात्मक अध्ययन' में इन सम्मिश्रित ग्रन्थों में न्याय और वैशेषिक के पदार्थों का सम्मिश्रण किस प्रकार से हुआ है, तथा इन पदार्थों की तुलनात्मक विवेचना की जायेगी।

अब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि इन सम्मिश्रित ग्रन्थों की श्रेणी में कौन-कौन से ग्रन्थ आ सकते हैं, अतः अब इस जिज्ञासा के निवारण हेतु, इस श्रेणी में आ सकने वाले ग्रन्थों एवं उनके ग्रन्थकारों का वर्णन किया जा रहा है :-

तार्किक रक्षा	वरदराज कृत	12वीं शती
तर्कभाषा	आयार्च केशवमिश्र कृत	13वीं शती
तर्कसंग्रह	अन्नम्भट्ट कृत	17वीं शती
तर्कामृतम्	जगदीश तर्कालंकारकृत	17वीं शती
तर्ककौमुदी	लौगाक्षिभास्कर कृत	17वीं शती
कारिकावली	विश्वनाथ पंचानन	17वीं शती

अब यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि ऊपर जिन ग्रन्थों की गणना की गयी है, उन्हें किस आधार पर 'सम्मिश्रित ग्रन्थ' कहा जा सकता है, तब इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है :-

'तार्किकरक्षा' एवं 'तर्कभाषा' ये दोनों ग्रन्थ न्याय प्रधान सम्मिश्रित ग्रन्थ हैं, इन्हें सम्मिश्रित ग्रन्थ इस आधार पर कहा जा सकता है, क्योंकि 'तर्कभाषा' में 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत, वैशेषिक के सातों पदार्थों का ग्रहण कर लिया गया है, और 'तार्किकरक्षा' में 'प्रमेय' के अन्तर्गत, मोक्ष के लिये उपयोगी बताते हुये इन सातों पदार्थों को ग्रहण कर लिया गया है, अतः इन दोनों ही ग्रन्थों में न्याय के षोडश पदार्थों के साथ ही, वैशेषिक के भी सातों पदार्थों का मिश्रण होने से, इन्हें सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित ग्रन्थ कहा जा सकता है।

यह तो न्याय प्रधान सम्मिश्रित ग्रन्थों की चर्चा की गयी, अब वैशेषिक प्रधान ग्रन्थों का विवेचन किया जा रहा है -

इस श्रेणी में तर्कामृत, तर्ककौमुदी, तर्कसंग्रह तथा कारिकावली इन चार ग्रन्थों की गणना की जा सकती है। इन्हें सम्मिश्रित ग्रन्थ इस आधार पर कहा जा सकता है कि इनमें 'बुद्धि' नामक गुण के अन्तर्गत, न्याय में मान्य चारों प्रमाणों प्रामाण्यवाद, संशय तथा तर्क इत्यादि को ग्रहण किया गया है। मुख्यतया इन ग्रन्थों में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चारों ही प्रमाणों का स्वतंत्र रूप से विवेचन होने के कारण ही, इन्हें न्याय वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित ग्रन्थ कहा जा सकता है, इनमें वैशेषिक के सातों पदार्थों के साथ ही 'बुद्धि' नामक गुण में न्याय के पदार्थों का भी समावेश किया गया है।

अब यह जानना भी अत्यावश्यक है कि 'न्याय और वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थों की परम्परा', कब से प्रारम्भ हुयी ? अतः अब इसका संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है :-

किन्तु 'न्याय-वैशेषिक' के 'प्रकरण ग्रन्थों' की विवेचना करने के पूर्व 'न्याय' शब्द के अर्थ को जानना आवश्यक है -

'न्याय का अर्थ' :-

जहां तक 'न्याय' शब्द के अर्थ का प्रश्न है, तो वह इसके स्वरूप से ही स्पष्ट है कि 'नीयते अनेन इति न्यायः' अर्थात वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मस्तिष्क एक निष्कर्ष तक पहुंच सके, उसे न्याय कहते हैं, संकुचित अर्थों में 'न्याय' से तात्पर्य 'परार्थानुमान तर्क' से है, जबकि व्यापक अर्थो में प्रमाणों द्वारा किसी विषय की समीक्षा करने का नाम 'न्याय' है।

प्रमाणैः अर्थपरीक्षणं न्यायः । प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अनुमानेन पुनः ईक्षणं तया प्रवर्त्तते इति न्यायविद्या आन्वीक्षिकी इति ।'

भाष्यकार वात्स्यायन ने परार्थानुमान के लिये 'परमन्याय' शब्द का प्रयोग किया है, जिसक स्वयमेव पाँच भाग हैं। इस 'न्याय शास्त्र' के लिये आन्वीक्षिकी, वादविद्या, तर्कविद्या आदि अन्य नाम भी - मनुस्मृति, स्कन्दपुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में मिलते हैं।

अब जहाँ तक वैशेषिक के नामकरण का प्रश्न है, तो ऐसा प्रतीत है कि 'विशेष' नामक एक विलक्षण पदार्थ को मानने के कारण ही, इस दर्शन का नाम 'वैशेषिक' हुआ है। इस दर्शन को 'औलूक्य दर्शन' और 'कणाद दर्शन' भी कहा जाता है।

न्याय और वैशेषिक सम्प्रदाय का उद्भव और विकास -

न्याय तथा वैशेषिक दोनों ही शास्त्रों का स्वतंत्र रूप से उद्भव और विकास हुआ है, किन्तु दोनों में घनिष्ठ संबंध है, दोनों में ऐतिहासिक दृष्टि से यह संबंध है कि, दोनों ही माहेश्वर सम्प्रदाय के हैं। महाभारत के एक संदर्भ मे यह प्रतीत होता है कि न्याय-वैशेषिक का परस्पर घनिष्ठ संबंध था। चरक संहिता में भी जो न्याय और वैशेषिक के पदार्थों का निरूपण किया गया है, उससे ज्ञात होता है कि उस समय न्याय और वैशेषिक में कोई भेद नहीं माना जाता था। न्यायसूत्र तथा वैशेषिक सूत्र के अध्ययन से भी यह विदित होता है कि दोनों में कुछ सूत्र समान ही हैं, इस प्रकार दोनों संप्रदायों का आरम्भ से ही घनिष्ठ संबंध रहा है। उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में भी वैशेषिक सिद्धान्तों का स्वकीय सिद्धान्तों के समान ही विवेचन किया गया है, अतः ये दोनों ही शास्त्र परस्पर समानतंत्र तथा पूरक शास्त्र कहे जाते हैं, आगे चलकर तो दोनों सम्प्रदायों का एक सम्मिलित रूप विकसित हो गया, जो न्याय - वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थों में मिलता है, अतः अब प्रकरण ग्रन्थों का विवेचन किया जा रहा है :-

न्याय और वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थ -

ग्यारहवीं शती में टीका - परम्परा को छोड़कर, विद्वान स्वतंत्र ग्रन्थ लेखन

में प्रवृत्त होने लगे। इस युग के शास्त्र के सर्वांगीण विवेचन की अपेक्षा किसी विशिष्ट अंग का विवेचन अधिक उपयोगी समझा जाने लगा। अतः एक विशेष प्रकार के ग्रन्थों का प्रचलन अधिक हो गया, जिन्हें 'प्रकरण ग्रन्थ' कहा जाता है। 'प्रकरण' वे ग्रन्थ होते हैं, जिनमें शास्त्र के समस्त प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन नहीं किया जाता, केवल कुछ विषयों का ही प्रतिपादन किया जाता है। 'प्रकरण' का लक्षण इस प्रकार है:-

'शास्त्रैकदेशसम्बद्ध शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ।।

अर्थात शास्त्र के एक अंश के प्रतिपादक और आवश्यकतानुसार अन्य शास्त्र के उपयोगी अंश का भी प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों को 'प्रकरण ग्रन्थ' कहा जाता है। ये प्रकरण ग्रन्थ जब लिखे गये, उस काल को 'न्याय साहित्य' में 'नव्य न्याय' शब्द से संबोधित किया गया।

नव्य न्याय में इस प्रकार के निम्न अनेक प्रकरण ग्रन्थों का निर्माण हुआ उन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:-

1- न्याय के वे प्रकरण ग्रन्थ जो केवल एक प्रमाण पदार्थ का निरूपण करते हैं और शेष पन्द्रह पदार्थों को प्रमाण के भीतर ही अन्तर्भूत कर लेते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में भी 'भासर्वज्ञ कृत न्याय सार' उल्लेखनीय है।

2- द्वितीय प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ हैं, जो मुख्यतः न्याय के ग्रन्थ हैं, किन्तु उनमें वैशेषिक के पदार्थों का भी निरूपण किया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में 'वरदराजकृत तार्किकरक्षा' तथा केशवमिश्रकृत तर्कभाषा' के नाम लिये जा सकते हैं।

3- तृतीय प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ वे हैं, जो मुख्यतः वैशेषिक के ग्रन्थ हैं, परन्तु न्याय दर्शन के 'प्रमाण' पदार्थ का पूर्ण रूप से उनमें समावेश किया गया है। इनमें से कुछ में 'प्रमाण' का अन्तर्भाव 'वैशेषिक' के 'गुण प्रकरण' में तथा कुछ में 'आत्म

प्रकरण' में जो कि द्रव्य का भेद है, उसमें किया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में 'अन्नम्भट्ट कृत तर्कसंग्रह' विश्वनाथ पंचानन कृत कारिकावली, लौगाक्षिभास्कर कृत तर्ककौमुदी तथा जगदीश तर्कालंकार कृत तर्कामृत के नाम लिये जा सकते हैं।

'न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित प्रमुख ग्रन्थों एवं उनके ग्रन्थकारों का परिचय-

अब न्याय - वैशेषिक दर्शन की सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित प्रमुख ग्रन्थों एवं उनके ग्रन्थकारों के विषय में संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है :-

वरदराज : वरदराज की 'तार्किकरक्षा' का न्यायशास्त्रीय प्रकरण ग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान है। वरदराज का जन्म संभवतः आंध्र में हुआ था। इन्होंने 'तार्किकरक्षा' पर 'सारसंग्रह' नामक एक टीका भी लिखी थी। (तार्किकरक्षा में विष्णुस्वामी के शिष्य ज्ञानपूर्ण ने 'लघुदीपिका' तथा मल्लिनाथ ने 'निष्कण्टक' नामक टीका की रचना की। वरदराज ने स्वयं ही वाचस्पति मिश्र और उदयनाचार्य का उल्लेख किया।) अतः वरदराज का समय उनके बाद में ही होगा [1]। सर्वदर्शनसंग्रह में भी वरदराज का उल्लेख है, जिसकी रचना माधवाचार्य ने चौदहवीं शताब्दी में की थी। अतः वरदराज का समय बारहवीं शती माना जाता है। तार्किकरक्षा में वरदराज ने इस बात का विश्लेषण करने का प्रयास भी किया है कि द्रव्य, गुण आदि पदार्थों का ज्ञान मोक्ष प्राप्ति में सीधा साधक नहीं है, अतः उनका गौतम ने निरूपण नहीं किया है। [2] तार्किकरक्षा में न्यायदर्शन के अनुसार प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का निरूपण करते हुए, प्रमेय के मध्य में आत्मा, शरीर आदि बारह पदार्थों के साथ द्रव्य गुण आदि छः पदार्थों का भी विश्लेषण किया गया है।

1- आलोच्य दुस्तरगभीरतरान् प्रबन्धान्,
वाचस्पतेरूदयनस्य तथा परेषाम् ।
मयात्र समगृहात वावद्के,
नित्यं कथासु विजिगीषुभिरेष धार्यः ।। - तार्किकरक्षा

2- मोक्षे साक्षादनंगत्वादक्षपादैर्न लक्षितम् ।
तन्त्रान्तरानुसारेण षट्कं द्रव्याणि लक्ष्यते ।। - तार्किकरक्षा

केशवमिश्र : केशवमिश्र की तिथि के संबंध में कोई निश्चित तथ्य 'तर्कभाषा' में नहीं मिलते, अतः इस संबंध में अधिक से अधिक एक सीमा विशेष का ही निर्धारण अभी तक संभव हो पाया है। हेत्वाभास के संदर्भ में केशवमिश्र ने उदयन के मत का उल्लेख किया है।[1] अतः 20वीं शती उनके समय की पूर्व सीमा माना जा सकता है तथा 14वीं शती उनकी अपर सीमा मानी जा सकती है, क्योंकि तर्कभाषा के टीकाकारों में से सर्वप्राचीन चिन्नम्भट्ट ने "तर्कभाषा प्रकाशिका" की पुष्पिका में इस बात का उल्लेख किया है कि वे विजयनगर में हरिहर महाराज के आश्रय में थे। उनका समय 1350 से 1400 ई0 माना जाता है, इस प्रकार केशवमिश्र के समय की सीमा 1000 से 1400 के मध्य में निश्चित की जा सकती है।

केशवमिश्र का यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि प्रमाण आदि से अनभिज्ञ आलसी व्यक्ति को भी थोड़ा सा परिश्रम करके न्याय के क्षेत्र में प्रवेश कराने के लिये 'तर्कभाषा' की रचना की गयी।

केशवमिश्र ने 'तर्कभाषा' में न्याय के पदार्थों में वैशेषिक के पदार्थों का अन्तर्भाव किया है। इसके लिये उन्होंने 'न्यायसूत्र' में परिगणित 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिक के द्रव्य आदि सात पदार्थों का अन्तर्भाव कर लिया है। केशवमिश्र ने न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों में जहां पार्थक्य है, वहाँ केवल एक ही मत का उल्लेख करके विवाद खड़ा नहीं किया है। उन्होंने दोनों दर्शनों के सामंजस्य का प्रयत्न किया है। वैशेषिक के विशिष्ट विषयों जैसे - पाकजोत्पत्ति आदि का निरूपण किया है, और बौद्ध, मीमांसा, वेदान्त आदि मतों का खण्डन भी किया है। तर्कभाषा सरल, सुबोध और संक्षिप्त होने के साथ ही केवल बालकों के लिये ही नहीं, अपितु विद्वानों के लिये भी अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकायें लिखी गयीं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :-

---

1- अत्रोदयनेन व्याप्तस्य हेतोः पक्ष धर्मताया प्रतीतिः । सिद्धिस्तदभावोऽसिद्धिः इत्य सिद्धिलक्षण मुक्तम् ।। 'तर्कभाषा ।

तर्कभाषा प्रकाशिका	चिन्नम्भट्ट
उज्जवला	गोपीनाथ
तत्त्वप्रबोधिनी	गणेश दीक्षित
तर्ककौमुदी	दिनकरभट्ट
तर्कदीपिका	केशवभट्ट
तर्कभाषाप्रकाश	गोवर्धनमिश्र
तर्कभाषा प्रकाशिका	बलभद्र
तर्कभाषा प्रकाशिका	कौण्डिन्य दीक्षित
तर्कभाषा प्रसादिनी	बागीश भट्ट
तर्कभाषा सार मंजरी	माधव देव
न्यायप्रदीप	विश्वकर्मा
न्यायसंग्रह	रामलिंग
परिभाषा दर्पण	भास्करभट्ट

प्रो0 आचार्य बदरीनाथ शुक्ल ने 'तर्कभाषा' के महत्व को बताते हुये कहा है कि उचितरूप से अध्ययन कर यदि इस ग्रन्थ को अभ्यस्त रखा जाये तो न्याय, वैशेषिक दोनों दर्शनों के समग्र प्रमेय करामलकवत् हो सकते हैं।[1]

अन्नम्भट्ट : अन्नम्भट्ट आंध्र प्रदेश के चित्तूर जिले के रहने वाले थे। तर्कसंग्रह एक बालोपयोगी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों का एक साथ प्रतिपादन किया गया है,[2] और न्याय के पदार्थों का वैशेषिक के सात पदार्थों में अन्तर्भाव कर लिया गया है।[3] अन्नम्भट्ट ने इस ग्रन्थ पर 'तर्कसंग्रह दीपिका' नामक एक टीका

1- तर्कभाषा भूमिका - बदरीनाथ शुक्ल, पृष्ठ 29.

2- 'कणादन्यायमतयोर्बालि व्युत्पत्तिसिद्धये
अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः ।।'

3- सर्वेषामपि पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात् सप्तैव पदार्था
इति सिद्धम् - तर्कसंग्रह ।

लिखी, जो 'नीलकण्ठी' नाम से प्रख्यात है। इस ग्रन्थ की सबसे प्रमुख टीका 'न्याय बोधिनी' मानी जाती है। विद्याभूषण ने इस ग्रन्थ पर लगभग पैंतीस टीकाओं के नामों को उल्लेख किया है, जो इस ग्रन्थ की महत्ता को सूचित करता है। अन्नम्भट्ट ने वैशेषिक दर्शन के अनुसार सात पदार्थों का उल्लेख करके 'गुण' के अन्तर्गत बुद्धि और बुद्धि के अन्तर्गत चारों प्रमाणों का विवेचन किया है।

विश्वनाथ पंचानन : विश्वनाथ पंचानन रघुनाथ शिरोमणि के शिष्य परम्परा में गिने जाते हैं। इनके एक कथन से यह ज्ञात होता है कि, इनके पिता का नाम विद्यानिवास था, 'विद्यानिवास सूनोः कृतिरेषा विश्वनाथस्य' इन्होंने 'भाषा परिच्छेद' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसे 'कारिकावली' भी कहा जाता है। अपने एक शिष्य पर दया करके, उसके आग्रह पर इन्होंने 'कारिकावली' की व्याख्या 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' लिखी ।[1] न्यायसूत्रवृत्ति की पुष्पिका के अनुसार विश्वनाथ ने 1634 ई0 में इसका लेखन समाप्त किया था।[2] विश्वनाथ नवद्वीप (बंगाल) के निवासी और रघुनाथ शिरोमणि के मतानुयायी थे।

विश्वनाथ ने सात पदार्थों में से द्रव्य के एक भेद आत्मा को बुद्धि का आश्रय बताया है और इसी संदर्भ में बुद्धि के दो भेद किये - (1) अनुभूति और (2) स्मृति। अनुभूति के अन्तर्गत चारो प्रमाणों का निरूपण किया गया है।

लौगाक्षिभास्कर : इनका वास्तविक नाम भास्कर और उपनाम लौगाक्षि था। ये न्याय वैशेषिक और मीमांसा आदि शास्त्रों में पारंगत थे। इन्होंने मणि..र्णिका घाट का उल्लेख किया है, अतः प्रतीत होता है कि ये बनारस के रहने वाले थे। इन्होंने 'तर्ककौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें द्रव्य, गुण आदि सातों पदार्थों का उल्लेख करके

1- 'निजनिर्मितकारिकावली मतिसंक्षिप्त चिरन्तनोक्तिभिः ।
विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावंशवदः ।।'

2- रसवाणतिथौ शकेन्दुकाले बहुले कामतिथौ शुचौ सिताहे ।
अकरोन्मुनि सूत्रवृत्तिमेतां ननु बृन्दावनविपिने स विश्वनाथः ।"

बुद्धि को आत्मा का गुण बताया गया है और बुद्धि के दो भेद किये गये हैं, अनुभव और स्मृति। अनुभव के भी दो प्रकार के हैं :- प्रमा और अप्रमा। इन्होंने प्रथमतः वैशेषिक मतानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण बताये हैं, तथा पुनः न्यायमतानुसार उपमान और शब्द प्रमाण, इस प्रकार चारों प्रमाणों का विवेचन किया है।

इस प्रकार इन्होंने प्रमाण का अन्तर्भाव हो जाने से न्याय के पदार्थों का वैशेषिक के पदार्थों में अन्तर्भाव बताया है।

जगदीश तर्कालंकार : इन्होंने एक सन्यासी से अट्ठारह वर्ष की अवस्था में पढ़ना प्रारम्भ किया था। न्याय शास्त्र की शिक्षा इन्होंने भवानन्द तर्कालंकार से प्राप्त की थी। न्याय रहस्य में इनके एक कथन से यह भी विदित होता है कि, इनके गुरू रामभद्र सार्वभौम थे। इनके पिता का नाम यादवचन्द्र विद्यावागीश था। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की -

1- तत्वचिन्तामणि - दीधिति प्रकाशिका, जो जागदीशी के नाम से अधिक विख्यात है।

2- तत्वचिन्तामणि - मयूख, जो सीधे ही तत्वचिन्तामणि की एक टीका है।

3- न्यायादर्श

4- शब्दशक्ति प्रकाशिका

5- तर्कामृत

6- द्रव्यभाष्य टीका।

7- न्यायलीलावती - दीधिति व्याख्या।

उपर्युक्त ग्रन्थों में से 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' को सर्वाधिक ख्याति मिली, कहा भी गया है कि 'जगदीशस्य सर्वस्वं शब्दशक्ति प्रकाशिका'। तर्कामृत 'न्याय और वैशेषिक सम्मिलित प्रक्रिया ग्रन्थ' कहा जाता है। इस ग्रन्थ के दो काण्ड हैं - प्रथम काण्ड को विषयकाण्ड कहा जाता है, इसमें जगदीश ने पदार्थों के दो भेद किये हैं- भाव और अभाव तथा द्वितीय अर्थात ज्ञानकाण्ड में चारों प्रमाणों का विवेचन किया है। जगदीश का कथन है कि मुक्ति के लिये, आत्मा का ज्ञान और ज्ञान के बाधक तथ्यों का ज्ञान

प्रथम - अध्याय

(क) पदार्थ लक्षण

(ख) प्रमाण लक्षण

(ग) प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण

(क) 'पदार्थ लक्षण

किसी दर्शन में मान्य पदार्थों का स्वरूप स्पष्ट करना तो सहज है, किन्तु 'पदार्थ' क्या है ? इसे निश्चित करना अत्यन्त दुष्कर है, अतः अब सर्वप्रथम 'पदार्थ' क्या है ? इसका स्पष्ट रूप से विवेचन किया जा रहा है :-

'तर्क संगह' की दीपिका नामक टीका में 'पदार्थ' का अर्थ, उसकी व्युत्पत्ति पर आधारित है। वहाँ 'पदार्थ' का अर्थ 'पदस्य अर्थः पदार्थ' अर्थात् जो किसी भी पद का अर्थ हो, उसे 'पदार्थ' कहते हैं, तात्पर्य यह है कि इस लोक में जितनी भी वस्तुयें ऐसी हैं, जिनकी संज्ञा हो सकती है, वे सभी वस्तुयें 'पदार्थ' की श्रेणी में आती हैं। दूसरे शब्दों में 'अर्थ' उसे कहते हैं, जिसके प्रति इन्द्रियाँ गतिशील होती हैं :- 'ऋच्छन्तीन्द्रियाणि यं सः '

वैशेषिक दर्शन में ज्ञान के विषय को प्रमेयभूत पदार्थ कहा गया है। दूसरे शब्दों में पदार्थ 'प्रमा' के विषय है -

'प्रमितिविषयाः पदार्थाः [1]।

ये सब प्रमितिविषयी (भूत) पदार्थ ही अभिधा के विषय होने के कारण अभिधेय भी होते हैं। पदार्थ प्रमा या प्रमिति के विषय हैं, इससे सिद्ध होता है कि कोई भी वस्तु या पदार्थ ऐसा नहीं, जिसका किसी शब्द के द्वारा निर्वचन न हो सके अर्थात् जिसका कोई नाम या संज्ञा न हो। अतः विश्व के सभी विषय 'पदार्थ' संज्ञा से संज्ञित होते हैं। पदार्थों का किसी संज्ञा द्वारा संज्ञित होना। तात्पर्य यह है कि अभिधेयत्व, ज्ञेयत्व, 'प्रमेयत्व' पदार्थ का लक्षण माना गया है - 'अभिधेयत्वं, पदार्थ सामान्य लक्षणम्[2]'। इस प्रकार जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है कि कोई भी नामधारी वस्तु 'पदार्थ' है। पदार्थ का एक अन्य लक्षण 'पदार्थत्वं ज्ञेयत्व[3]' किया गया है।

1- शिवादित्य - सप्तपदार्थी ..

2- तर्कसंग्रह पर अन्नम्भट्ट कृत टीका 'तर्कदीपिका'

3- सिद्धान्तचन्द्रोदय ।

पदार्थधर्मसंग्रह में प्रशस्तपादाचार्य ने पदार्थ का लक्षण - 'षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि' किया गया है। तात्पर्य यह है कि 'पदार्थ' के तीन लक्षण हैं :-

1- पदार्थ सत् है।

2- पदार्थ ज्ञेय है।

3- पदार्थ अभिधेय है।

जो पदार्थ ज्ञेय होगा, वह अभिधेय भी अवश्य होगा। ऐसे पदार्थ का एक सामान्य लक्षण यह किया जा सकता है कि :-

'ज्ञेयत्वं प्रमेयत्वं अभिधेयत्वं अस्तित्वम् पदार्थसामान्य लक्षणम्' ।

न्याय - वैशेषिक दर्शन तो 'पदार्थ' शब्द का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु कुछ अन्य दर्शन 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग न करके 'तत्व' शब्द का प्रयोग करते हैं:- यथा सांख्य, योग तथा वेदान्त आदि दर्शन। अतः यह जानना भी आवश्यक है कि 'तत्व' शब्द का अभिप्राय क्या है ? तो 'तत्व' जैसा कि इस पद से ही स्पष्ट है कि 'तद्भाव को कहते हैं अर्थात् सत् पदार्थ की सत्ता या अस्तित्व अथवा असत् पदार्थ की असत्ता या अनस्तित्व को ही तत्व कहते हैं। अतः सत् वस्तु को सत् है, इस प्रकार यथार्थ रूप से ग्रहण करना ही तत्वज्ञान है, और असत् वस्तु को असत् है, इस प्रकार का यथार्थ ज्ञान होना ही तत्वज्ञान है। तात्पर्य यह है कि सत् या असत् विषय हैं, वे ही तत्व कहे जाते हैं। 'सर्वदर्शनसंग्रह[2]' में भी तत्व की ऐसी ही व्याख्या की गयी है। इसे ही अन्य शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि तत्वज्ञान या वस्तु के मूलरूप का ज्ञान ही मोक्ष के लिये उपयोगी है, अतः जिस वस्तु का ज्ञान मोक्षोपयोगी हो वही तत्व है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि 'पदार्थ' कहा जाये अथवा 'तत्व' कहा जाये, दोनों का तात्पर्य समान ही है।

1- न्यायभाष्य, पृष्ठ 47.

2- सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ 189.

अब जहाँ तक तत्वों अथवा पदार्थों की संख्या का प्रश्न है ? तो सभी दर्शनों में तत्वों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है और स्वाभाविक भी है, क्योंकि सभी प्राणियों की बुद्धि अथवा विचार भिन्न-भिन्न होते हैं।

वेदान्ती एकमात्र परमतत्व या परब्रह्म को ही सत् तत्व मानते हैं, अर्थात् इन्हें एक तत्व ही अभिमत है। सांख्य दर्शन दो तत्व ही स्वीकार करते हैं। (1) प्रकृति (2) पुरूष । इन दोनों के विवेकज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है, ऐसा सांख्य दार्शनिक मानते हैं। ये दो ही मुख्य तत्व हैं, यद्यपि प्रकृति में 23 अवान्तर परिणाम भी हैं, जिन्हें सांख्य योगाचार्य 'तत्व' संज्ञा से अभिहित करते हैं। योग दर्शन भी सांख्य के समान ही मुख्य दो तत्व स्वीकार करते हैं और प्रकृति के अवान्तर परिणाम को सम्मिलित करके कुल पच्चीस तत्व मानते हैं, परन्तु योगियों ने एक अन्य तत्व 'ईश्वर' भी माना है, किन्तु वे इसे पुरूष के एक प्रकार के रूप में ही स्वीकार करते हैं, अतः इसे पुरूष विशेष ही कहा जा सकता है, इसे पृथक तत्व मानना उचित नहीं। किन्तु न्याय दर्शन-षोडश पदार्थों को मानते है, इनके अनुसार इन षोडश पदार्थों के तत्वज्ञान अथवा यथार्थज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] वैशेषिक दर्शन भी सप्तपदार्थों को स्वीकार करता है - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य वेशेष, समवाय और अभाव ।

पदार्थ का प्रयोजन :

अब न्याय - वैशेषिक में मान्य पदार्थों का विवेचन करने के पूर्व यह जान लेना अत्यावश्यक है कि 'पदार्थो के विवेचन का प्रयोजन क्या है ? न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में इन पदार्थों के तत्वज्ञान को ही मोक्ष का साधन माना गया है, तथा 'मोक्ष' को आत्यन्तिक दुख की निवृत्ति रूप से माना गया है, अतः पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना निःश्रेयस् के लिये अनिवार्य है।

1- 'प्रमाणप्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभासच्छलजाति निग्रह स्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'

--न्यायसूत्र -- 1/1/1.

(ख) प्रमाण - लक्षण

यह 'प्रमाण पदार्थ' न्याय तथा वैशेषिक दोनों ही शास्त्रों में मान्य पदार्थ है। न्यायशास्त्र सोलह पदार्थों को मानता है, जिसमें प्रमाण पदार्थ प्रथम 'पदार्थ' है, किन्तु वैशेषिक शास्त्र इसे पृथक पदार्थ नहीं मानता, वैशेषिक में 'प्रमाण' का विवेचन 'बुद्धि' गुण के सन्दर्भ में किया गया है। न्याय - शास्त्र और वैशेषिक शास्त्र में उसके भेदों के विषय में भी भिन्नता है :- न्यायशास्त्र प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को मानता है, जबकि वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को ही मानता है, तथा अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं में कर लेता है।

न्याय - शास्त्र 'प्रमाण' की प्रधानता को बल देता है, अतः इसे 'प्रमाण प्रधान' दर्शन कहा जाता है, जबकि वैशेषिक 'प्रमेय' की प्रधानता को बल देता है, अतः इसे 'प्रमेय प्रधान' दर्शन कहा जाता है।

किन्तु जहाँ तक न्याय - वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों का प्रश्न है तो इन ग्रन्थों में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों का विवेचन किया गया है, अतः चारों प्रमाणों का ही विवेचन किया जायेगा। किन्तु इन चार प्रमाणों के विवेचन के पूर्व 'प्रमाण' के लक्षण को जानना अत्यावश्यक है, अतः 'प्रमाण' के लक्षण किया जा रहा है -

लक्षण :

जहाँ तक प्रमाण के स्वरूप का प्रश्न है, वह तो उसकी व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है - 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा प्रमेय का ज्ञान प्राप्त किया जाये वही 'प्रमाण' है। प्र उपसर्ग, मा धातु से ल्युट् प्रत्यय लगने से यह शब्द निष्पन्न हुआ, जिसका अर्थ है प्रमा का कारण या मुख्य कारण [1]। लगभग सभी आचार्यों ने 'प्रमा के करण को ही प्रमाण' कहा है, और यह युक्तिसंगत भी है।

1- न्याय भाष्य - 1/1/3 तथा न्यायमञ्जरी - पृष्ठ 250.

शिवादित्य ने 'सप्त पदार्थों' में प्रमाण का लक्षण, यह किया है कि 'प्रमाण' वह है जो वास्तविकता के अनुरूप ज्ञान को उत्पन्न करता है ।

चिन्नम्भट्ट ने तर्कभाषा प्रकाशिका टीका में 'प्रमायाः यत्करणम् तत्प्रमाणम्' किया है ।

इस प्रकार संक्षेप में 'प्रमा का करण ही प्रमाण' है अर्थात् 'प्रमाकरणं प्रमाणम्'[1] यह लक्षण सभी को मान्य है।

उपरोक्त लक्षण में 'प्रमा' और 'करण' ये दो शब्द प्रयुक्त हुये हैं, अतः इनके अर्थ को समझना आवश्यक है, जहाँ तक 'प्रमा' के स्वरूप का प्रश्न है तो "तर्कभाषाकार" तथा 'तार्किकरक्षाकार' ने यथार्थानुभवः प्रमा' यह 'प्रमा' का लक्षण किया है, अर्थात् 'यथार्थ अनुभव' को 'प्रमा' कहते हैं, यथार्थ पद लक्षण में देने से संशय, विपर्यय, तर्क तथा स्मृति का निराकरण हो जाता है, क्योंकि संशय, विपर्यय और तर्क को 'अप्रमा' माना गया है। अतः 'अप्रमा' को समझना भी आवश्यक है, अतः 'अप्रमा' का लक्षण 'अयथार्थानुभवो अप्रमा' है, अर्थात् जो पदार्थ जैसा है, उसको उसी रूप में ग्रहण करना यथार्थज्ञान या 'प्रमा' कहलाता है, उससे भिन्न रूप में ग्रहण करना अयथार्थ ज्ञान या 'अप्रमा' कहलाता है। इस अयथार्थ ज्ञान के ग्रन्थकारों ने संशय विपर्यय और तर्क ये तीन भेद बताये हैं। संशय और तर्क का विवेचन तो आगे अध्यायों में किया जायगा। किन्तु जहाँ तक 'विपर्यय' का प्रश्न है, तो इसका लक्षण 'योगदर्शन'[2] में विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूप-प्रतिष्ठम्' किया गया है अर्थात् अत्तद्रूप में प्रतिष्ठित मिथ्याज्ञान को विपयर्य कहते हैं, यथा - शुक्ति को पड़ी देखकर कभी-कभी उसके 'चाकचिक्य' अर्थात् चमक आदि के कारण उसको रजत

1- केशवमिश्र कृत 'तर्कभाषा' (2) योगसूत्र - 1/8.

द्रष्टव्य : 1- शिवादित्य ने सप्तपदार्थी में प्रमा' का लक्षण - 'तत्वानुभवः प्रमा 'तथा' 'प्रमाण' का लक्षण - 'प्रमायोगव्यवच्छिन्नं प्रमाणम् किया है।

2- तर्कसंग्रह में 'तद्वतित प्रकारकोऽनुभवो यथार्थ 'तथा मुक्तावली में - 'तद्वद्विशेष्यकृत्वे सतितत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा' किया गया है।

समझ लिया जाता है, ऐसी स्थिति में शुक्ति में रजत का ज्ञान होता है, वह अतद्रूप अर्थात् अरजत रूप शुक्ति में प्रतिष्ठित होता है। अतएव अतद्रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण उसका मिथ्याज्ञान अथवा 'विपर्यय' कहते हैं, और वह अयथार्थ ज्ञान होता है। नैयायिकों ने इसी अतद्रूत पतिष्ठ अर्थ का बाध कराने के लिये 'तद्भाववति तत्प्रकारकं ज्ञानमप्रमा' कहा है।

'प्रमा' के उपरोक्त लक्षण" में दूसरा पद 'अनुभव' है, इस पद के प्रयोग से 'स्मृति' का निराकरण होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के दो भेद माने गये हैं :- स्मृति और अनुभव 'ज्ञात विषय ज्ञान को 'स्मृति' तथा उससे भिन्न अज्ञातविषयक ज्ञान को 'अनुभव' कहते हैं। ज्ञानविषयक ज्ञान भी दो प्रकार का होता है 'स्मृति' और 'प्रत्यभिज्ञा'[1] केशवमिश्र ने सादृश्य अदृष्ट और चिन्ता आदि को स्मृति के बीज अथवा संस्कार के 'उद्बाधक बताया है।

अभी तक 'प्रमाण' के लक्षण में प्रयुक्त 'प्रमा' पद का विवेचन किया जा रहा था, अब लक्षण में प्रयुक्त 'करण' पद की व्याख्या की जा रही है - 'करण' का लक्षण "व्यापारवदासाधारणं कारणं करणम्"[2] तथा "साधकतम् करणम्"[3] किया गया है अर्थात् व्यापार वाला, ऐसा जो असाधारण कारण है, वह कारण 'करण' कहलाता है तथा 'साधकतम् को करण कहते हैं, अर्थात जिस कार्य का जो अतिशयेन साधक हो, उसे साधकतम कहते हैं; तात्पर्य यह है कि सर्वोत्कृष्ट कारण ही 'करण' कहलाता है। इस प्रकार 'प्रमाण' के लक्षण में प्रयुक्त प्रमा और करण दोनों पदों की व्याख्या की गयी।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चारों ही प्रमाण 'व्यापार' वाले हैं, और प्रत्यक्ष आदि प्रमा के असाधारण कारण होते हैं, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाण, उन प्रत्यक्षादि

1- तर्कभाषा 'संस्कार प्रकरण' - 'सादृश्याद्दृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकः'।

2- लौगाक्षिभास्कर कृत 'तर्ककौमुदी' तथा जगदीश तर्कालंकार कृत 'तर्कामृतम्'

3- केशवमिश्र कृत 'तर्कभाषा'

प्रमा के करण कहे जाते हैं। अब 'व्यापार' का लक्षण - 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापार' किया है, अर्थात् जो कारण से जन्य है, तथा उस कारण से जन्य कार्य का जो जनक है, उसे 'व्यापार' कहते हैं। "

प्रमाण का लक्षण समझने के लिये 'करण' को समझना आवश्यक है, और करण को समझने के लिये 'कारण'[1] को समझना अत्यावश्यक हैं अतः अब कारण के लक्षण तथा भेद का निरूपण किया जा रहा है :-

कारण का लक्षण, केशवमिश्र[2] ने 'यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियताऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्' किया है, अर्थात् जिसकी कार्य से पूर्व सत्ता निश्चित हो और जो अन्यथासिद्ध न हो, उसे 'कारण' कहते हैं, किन्तु विश्वनाथ तथा लोगाक्षिभास्कर ने करण का लक्षण 'अन्यथा-सिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता कारणत्वं[3] किया है, अर्थात अन्यथासिद्ध से रहित, नियम से पूर्व रहने वाला कारण होता है, यह कारण का लक्षण किया है।

उपरोक्त कारण के लक्षण में 'अन्यथासिद्ध' पद प्रयुक्त हुआ है, अतः इसके अभिप्राय को समझना अत्यावश्यक है :- 'अन्यथासिद्ध' का लक्षण 'अवश्यक्लृप्तनियत पूर्ववर्तिन एवं कार्यसंभवे तदभिन्नत्वम् अन्यथासिद्धिः अर्थात् कार्य की उत्पत्ति में नियम से पूर्ववर्ति तथा अवश्य प्राप्त तो कारण हैं, उन कारणों से ही, उस कार्य की उत्पत्ति सम्भव होने से उन कारणों से भिन्न जो कारण हैं,उन्हें ही अन्यथासिद्ध कहा जाता है, यथा-घट के प्रति रासभ आदि 'अन्यथासिद्ध' हैं ।

जहाँ तक 'अन्यथासिद्ध' के भेदों का प्रश्न है, तो विश्वनाथ[4] ने इसके पाँच भेद माने हैं, किन्तु लोगाक्षिभास्कर ने इसके तीन भेद ही माने हैं, किन्तु अन्य विद्वानों

1- सप्तपदार्थी - 'कार्योत्पादकत्वं कारणत्वम्'

2- केशवमिश्र कृत 'तर्कभाषा'

3- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 16 तथा तर्ककौमुदी तथा न्यायकुसुमांजलि 4/1/19.

4- भाषा-परिच्छेद - करिका 19 से 22.

को भी पाँच भेद ही मान्य हैं, अत अब विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित पांच भेदों का ही विवेचन किया जा रहा है -

'येन सहं पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य,
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभाव विज्ञानम् ।
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते,
अतिरिक्तमथापि यद् भवेत् नियतावश्यक पूर्वभाविन

इन अन्यथासिद्धों में प्रथम 'येन सह पूर्वभाव.' है अर्थात् जिस धर्म के कारण का कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत होता है, वह 'धर्म' उस कार्य के प्रति 'अन्यथासिद्ध' समझा जाता है, जैसे - दण्डत्व आदि । दण्ड, घट कार्य का कारण है, उसकी कारणता 'दण्डत्व' धर्म से विशिष्ट (युक्त) दण्ड में गृहीत होती है, एवं च 'दण्डत्व' धर्म के साथ 'दण्ड' का पूर्वभाव 'घट' कार्य के प्रति गृहीत होने से वह दण्डत्व धर्म, घट कार्य के प्रति प्रथम प्रकार का अन्यथासिद्ध है।

कारणमादाय व यस्य :

यह द्वितीय अन्यथासिद्ध है, किसी कार्य के प्रति, जिस पदार्थ के नियतपूर्वभावित्व का ज्ञान, उसके कारण के द्वारा होता है, वह पदार्थ, उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है, जैसे घट काय के प्रति दण्ड में रहने वाल 'रूप' ।

अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभाविज्ञानम् :

यह तृतीय अन्यथासिद्ध है, किसी अन्य कार्य के प्रति पूर्वभावज्ञात कर लेने पर ही जिस पदार्थ का प्रस्तुत कार्य के प्रति पूर्वभाव जाना जा सके, वह पदार्थ प्रस्तुत कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध कहलाता है, जैसे - घट कार्य के प्रति आकाश अन्यथासिद्ध है।

जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते :

यह चतुर्थ अन्यथासिद्ध है, अर्थात् कारण को जो कारण हो, वह चतुर्थ

प्रकार का अन्यथासिद्ध होता है, जैसे - कुलाल का पिता, घट कार्य के प्रति चतुर्थ प्रकार का अन्यथासिद्ध है।

अतिरिक्तमथापि यद् भवेन्नियतावश्यक पूर्वभाविन :

यह पंचम प्रकार का अन्यथासिद्ध है, इसका अर्थ यह है कि नियतावश्यक पूर्वभावी से भिन्न जो कुछ भी है वह सभी पाँचवें प्रकार का अन्यथासिद्ध कहलाता है, यथा - घटोत्पत्ति के समय देवात् आये हुये रासभ 'पंचम प्रकार का अन्यथासिद्ध है।

इस प्रकार विश्वनाथ पंचानन द्वारा वर्णित पाँच प्रकार के अन्यथासिद्धों का विवेचन किया गया, किन्तु लोगाक्षिभास्कर ने तथा 'तर्कसंग्रह' पर अन्नम्भट्ट कृत 'तर्कदीपिका" टीका में अन्यथासिद्ध के तीन प्रकार ही माने गये हैं, अतः जब लोगाक्षिभास्कर द्वारा वर्णित तीन प्रकार के अन्यथासिद्धों का विवेचन किया जा रहा है .- (1) येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्वभावाडवगम्यते तेन तस्य तं प्रति अन्यथासिद्धिराद्या, यथा - घटं प्रति दण्डेन दण्डरूपस्य दण्डत्वस्य च । (2) अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एवं यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तं पति तस्यान्यथासिद्धि द्वितीया, यथा घटं प्रति आकाशस्य कुलालपितुश्च। (3) अन्यत्रक्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिन एवं कार्यसंभव नत्सहभूतस्यमन्यथा सिद्धिस्तृतीया । यथा घट विशेषं प्रति देवादागतरासभस्य ।'

गंगेश उपाध्याय ने भी 'तत्वचिन्तामणि में अन्यथा सिद्ध के ये तीन ही प्रकार बताये हैं।

इस प्रकार 'कारण' के लक्षण में आये हुये 'अन्यथासिद्ध' पद की व्याख्या हुयी, अब कारण के लक्षण में प्रयुक्त 'कार्य' पद का लक्षण किया जा रहा है:-

'अन्यथासिद्ध नियतापश्चात्भावित्वम् कार्यत्वम्[1]' तथा 'कारणपश्चाद्भाविकार्यम्[2]' तथा 'कार्यम् प्रागभाव प्रतियोगि[3]' ये लक्षण ग्रन्थकारों ने किये हैं, अर्थात अन्यथासिद्ध

1- तर्कभाषा, केशवामिश्र कृत् ।
2- तर्ककोमुदी, लोगाक्षिभास्कर कृत् ।
3- तर्कसंग्रह - अन्नम्भट्ट कृत् ।

न होकर, नियतरूप से कारण के पश्चात् होना तथा प्रागभाव का प्रतियोगी होना ही 'कार्य' का लक्षण है।

इस प्रकार 'कारण' के लक्षण की व्याख्या की गयी। अब अन्य के द्वारा मान्य 'कारण' के लक्षण एवं उसके खण्डन का विवेचन किया जा रहा है :-

कुछ लोगों ने कारण का लक्षण 'कार्यानुकृतान्वय व्यतिरेकिकारणम्' किया है, अर्थात कार्य के द्वारा जिसके अन्वय और व्यतिरेक का अनुकरण किया जाये, वह 'कारण' है, किन्तु 'कारण' का यह लक्षण उपयुक्त नहीं, क्योंकि नित्य और विभु पदार्थों में घटित न होने से यह अव्याप्ति दोष से दूषित है। अतः यह लक्षण ठीक नहीं है।

कुछ ने 'कार्यव्यतिरेक प्रयोजक व्यतिरेक प्रतियोगित्वं कारणत्वं 'यह लक्षण किया है, अतः जिसका अभाव, कार्य के अभाव का प्रयोजक हो, उसे 'कारण' कहते हैं. किन्तु यह लक्षण भी नित्य - विभु आकाशादि द्रव्यों में अव्याप्त होने से ठीक नहीं है।

उदयनाचार्य[1] ने भी 'तर्कभाषाकार' के अनुसार ही कार्यमात्र के प्रति नित्य और विभु पदार्थों को कारण कहकर 'अनन्यथासिद्ध..........कारणत्वम्' ही कारण का लक्षण किया है।

अभी तक कारण के स्वरूप का विवेचन किया गया, अब कारण भेदों का निरूपण किया जा रहा है :-

कारण के भेद :

जहाँ तक कारण के भेदों का प्रश्न है, तो इसके तीन भेद बताये गये हैं:- समवायि, असमवायि और निमित्त, किन्तु कारण के भेदों के विषय में अन्य विद्वानों में मतभेद हैं - 'वाक्यवृत्तिकार' ने कारण के दो ही भेद 'साधारण' और 'असाधारण'

1- न्यायकुसुमांजलि - 1/19.

माने हैं। पातञ्जल - योगसूत्र के व्यासभाष्य[1] में कारण के उत्पत्ति कारण और स्थितिकारण आदि नौ भेद माने गये हैं। गीता[2] में एक प्रसंग में किसी कार्य के पाँच कारण स्वीकार किये गय हैं - अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और देव । वेदान्त दर्शन में कारण के निमित्त और उपादान, ये दो भेद स्वीकार किये हैं । इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'कारण के भेदों' के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

किन्तु इस स्थल पर 'न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में प्रतिपादित समवायि, असमवायि और निमित्त इन तीन कारणों का ही विवेचन किया जा रहा है:-

समवायिकारण :

इसका लक्षण[3] तर्ककौमुदी, तर्कसंग्रह, तर्कभाषा, तथा मुक्तावली में इस प्रकार किया गया है :- 'यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्' तथा 'यत्समवेतं कार्य भवति ज्ञेयेतु समवायि जनकं तत्' तात्पर्य यह है कि 'जिसमें समवाय संबंध से कार्य उत्पन्न होता है, उसे समवायिकारण कहते हैं, जैसे तन्तुओं में ही समवाय संबंध से पट उत्पन्न होता है, अतः तन्तु ही पट का समवायिकारण होता है, इसी प्रकार पट भी अपने रूप का समवायिकारण होता है, यह वर्णन हर्ष ने भी 'नैषधीयचरित्र' में बड़ी सुंदरता से किया है।

किन्तु यह शंका उठना स्वाभाविक ही है कि समवाय संबंध कहते किसे हैं? तब इसका समाधान करते हुये, केशवमिश्र ने 'तर्कभाषा' में इसका लक्षण, इस प्रकार किया है - 'अभिप्राय यह है कि दो अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध ही समवाय संबंध

1- उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्ति विकारप्रत्ययाप्तयं ।
वियोगान्त्यत्वधृतयं कारणं नवधा स्मृतम् ।। - योगसूत्र व्यासभाष्य 2/28.

2- गीता - 18 अध्याय, 14 वाँ श्लोक ।

3- वैशेषिक - 7/2/26 तथा प्रशस्तपादभाष्य - पृष्ठ 770-77। तथा
सप्तपदार्थी - 'स्वसमवेतकार्योत्पादकत्वं समवायिकारणत्वम्'

कहलाता है, अब प्रश्न यह उठता है कि यह 'अयुत्तसिद्ध' है क्या ? अतः इसका लक्षण केशवमिश्र तथा विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है - 'ययोर्मध्ये एकमविनश्यद पराश्रितवेवावतिष्ठते तावयुत्तसिद्धौ' अर्थात् जिन दो पदार्थो में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे पदार्थ के आश्रित ही रहता है, वे दोनों ही परस्पर 'अयुत्तसिद्ध' कहलाते हैं, जैसे अवयव - अवयवी, गुण - गुणी, क्रिया - क्रियावान्, जाति - व्यक्ति, विशेष और नित्यद्रव्य ।

अवयव - अवयवी :

यथा - तन्तु अवयव हैं और पट अवयवी हैं, तन्तु से पट को पृथक नहीं किया जा सकता, इस कारण दोनों अयुत्तसिद्ध हैं, और उनका परस्पर संबंध 'समवाय संबंध' कहलाता है।

गुण - गुणी :

यथा-घट गुणी है, और रूप उसका गुण है, घट के रूप को घट से पृथक नहीं किया जा सकता, अतः दोनों अयुत्तसिद्ध हैं, और दोनों का संबंध समवाय कहलाता है।

क्रिया - क्रियावान :

उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि कर्मो को क्रिया कहते हैं, वह क्रिया जिसमें रहती है. उसे क्रियावान कहते हैं। क्रियावान में ही क्रिया रहती है, क्रियावान से क्रिया को अलग नहीं किया जा सकता, इस कारण दोनों अयुत्तसिद्ध हैं, और उनका संबंध समवाय कहलाता है।

जाति - व्यक्ति :

ये दोनों पदार्थ भी अयुत्तसिद्ध कहलाते हैं। 'जाति' को 'सामान्य' शब्द से भी संबोधित किया जाता है, भिन्न भिन्न अनेक वस्तुओं में समानाकार की प्रतीति कराने में जो पदार्थ निमित्त होता है, उसे जाति कहते हैं, यथा - अनेक भिन्न-भिन्न घटों

द्रष्टव्य :- 1- न्याय - समवाय का प्रत्यक्ष मानते हैं, जबकि वैशेषिक इसे अनुमेय मनता है, इसका विवेचन - तर्कसंग्रह की तर्कदीपिका टीका में किया गया है।

2- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य - 2/2/17.

में 'यह घट है, यह घट है, यह भी घट है' इस प्रकार की एकाकार की प्रतीति होती है, यह प्रतीति, जिसके कारण होती है, वही 'घटत्व' जाति कहलाती है, यह घटत्व जाति, हमेशा घट व्यक्तियों में ही रहती है, कभी उन घट व्यक्तियों से अलग नहीं रहती, अत: जाति और व्यक्ति परस्पर अयुत्तसिद्ध हैं, तथा उनका संबंध, समवाय संबंध कहलाता है।

विशेष और नित्यद्रव्य :

ये दोनों पदार्थ भी 'अयुत्तसिद्ध' कहलाते हैं। नित्य द्रव्य नौ हैं :- पृथिवी, जल, तेज, आकाश, काल, दिग्, आत्मा और मन तथा वायु के चार प्रकार के परमाणु इन नित्य द्रव्यों में 'विशेष' पदार्थ रहता है और वह सदैव उन द्रव्यों के आश्रित ही रहता है, वह कभी भी उनसे अलग नहीं रहता, अतः विशेष और नित्य द्रव्य को अयुत्तसिद्ध कहते हैं, तथा उनका संबंध समवाय संबंध कहलाता है। यह समवाय संबंध नित्य ही होता है तथा एक ही होता है।[1]

अब अयुत्तसिद्धों को समझने के पश्चात् 'अयुत्तसिद्ध' के अर्थ को समझना भी अत्यावश्यक है, अतः अब 'अयुत्तसिद्ध' शब्द का अर्थ समझाया जा रहा है:- 'अयुत्तसिद्ध' शब्द का अर्थ है, जो युत्तसिद्ध न हो, 'युत' शब्द 'यु मिश्रणामिश्रणयो' धातु का अर्थ 'अमिश्रण' लिया गया है, अतः जो दो पदार्थ युत्तसिद्ध अर्थात् अलग अलग रूप में निष्पन्न होते हैं, उन्हें 'युत्तसिद्ध' कहते हैं, यथा - हाथी और घोड़ा 'युत्तसिद्ध' हैं, ऐसे युत्तसिद्ध पदार्थों का जो सम्बन्ध होता है, उसे संयोग संबंध कहते हैं। 'युत्तसिद्ध' से जो भिन्न हो, उसे 'अयुत्तसिद्ध' कहते हैं, अयुत्तसिद्धों में जो संबंध होता है, उसे ही 'समवाय सम्बन्ध' कहते हैं, जिसमें समवाय संबंध से कार्य उत्पन्न होता है, उसे समवायिकारण कहते हैं।

असमवायिकारण :

इसका लक्षण 'तत्रासन्नं जनकं द्वितीयम्'[2] तथा 'यत्समवायिकारण प्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्य

1- तार्किकरक्षा - समवायस्तु सम्बन्धो नित्यः स्याद् एक एव सः ।

2- भाषा - परिच्छेद - कारिका ।। तथा तर्ककौमुदी ।

तद्समवायिकारणम्'[1] किया गया है, अर्थात् समवायिकारण के साथ सम्बन्ध रखने वाला जो कारण होता है, उसे 'असमवायिकारण' कहते हैं। किसी कार्य के समवायिकारण के साथ असमवायिकारण का संबंध कभी तो साक्षात् होता है और कभी परम्परया। प्रथम संबंध को वैशेषिक दर्शन में 'लघ्वी प्रत्यासत्ति' और दूसरे को 'महती प्रत्यासत्ति' कहते हैं।[2]

द्रव्य की उत्पत्ति में असमवायिकारण का स्थान अवयवों के आरम्भक संयोग को ही प्राप्त होता है। घट के निर्माण मे दो कपालों को संयोग ही असमवायिकारण होता है और समवायिकारण दो कपाल होते हैं, दो कपालों में समवाय संबंध से घट वर्तमान है, घट का असमवायिकारण कपाल - संयोग भी गुण होने के कारण अपने आधारभूत द्रव्य दो कपालों में समवायसम्बन्ध से ही रहता है, इससे यह स्पष्ट है कि कार्य घट और असमवायिकारण, कपालसंयोग, दोनों ही समवाय संबंध से दो कपालों में आश्रित हैं, इसे ही 'कार्यकार्थप्रत्यासत्ति' भी कहते हैं[3] क्योंकि कार्य घट और असमवायिकारण दो कपालों के संयोग की एक अर्थ दो कपालों में सन्निकर्ष है, इसे 'साक्षात्प्रत्यासत्ति' भी कहते हैं।

अब परम्परा सम्बन्ध से असमवायिकारण के उदाहरण-स्वरूप, गुण आदि के असमवायिकारण को लिया जा सकता है, यथा - घट के रूप में असमवायिकारण कपालरूप हैं, कार्य और कारण का एक स्थान में रहना आवश्यक है, अतः कारण और कार्य को किसी एक आधार में रहना चाहिये, यह साक्षात्सम्बन्ध से संभव नहीं है। कपालरूप समवाय संबंध से कपाल में तथा घट रूप समवाय संबंध से घट में रहता है। कपाल और घट, कारण और कार्य के रूप में सम्बद्ध होकर भी एक नहीं है, जिस प्रकार का रूप कपालों में होता है, उसी प्रकार का 'कार्यकारणभाव' मानना आवश्यक है, अतः न्याय-

---

1- तर्कभाषा, तर्कसंग्रह और तर्कसंग्रह पर 'न्यायबोधिनी' तथा 'तर्कदीपिका' टीका

2- उपस्कार टीका: वैशेषिकसूत्रं - 2/1/22, 10/2/3.

3- मुक्तावली-कारिका 18 तथा चिन्नम्भट्टकृत' तर्कभाषा प्रकाशिका 'टीका पृष्ठ 114.

वैशेषिक परम्परा सम्बन्ध को मानता है, कारण कपालों का रूप समवाय संबंध से कपालों में आश्रित है, कार्य, घट का रूप समवाय संबंध से कपाल में रहता है, इसलिये कार्य घट का रूप अपने समवायिकारण के माध्यम से अपने असमवायिकारण कपाल रूप के आधार कपालों में माना जाता है, यही कारण है, कि इसे 'परम्परासम्बन्ध' कहते हैं, इसे 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति'[1] भी कहा जाता है, क्योंकि असमवायिकारण, कपाल का रूप कार्य घट - रूप के साथ, कार्य के समवायिकारण घट के साथ, एक अर्थ - कपाल द्वय में समवायसंबंध से वर्तमान है, अभिप्राय यह है कि कार्य और असमवायिकारण एकत्र समवेत नहीं हैं, किन्तु कार्य का समवायिकारण और असमवायिकारण एकत्र कपालद्वय में समवेत हैं। 'गुण तथा कर्म' ही असमवायिकारण होते हैं।[2] द्रव्य तथा कर्म का असमवायिकारण 'संयोग' ही होता है।

निमित्त कारण :

इसका विवेचन 'तर्कभाषाकार' ने इस प्रकार किया है :- 'यन्न समवायिकारणं, नाप्यसमवायिकारणं, अथ च कारणं तन्निमित्तकारणम्। तर्कसंग्रहकार ने 'तदुभयभिन्नंकारणं निमित्तं कारणं" कहकर निमित्तकारण का विवेचन किया है। जबकि 'तर्ककौमुदीकार' ने 'समवायसमवायिकारणतातिरिक्तकारणतावन्निमित्तकारणम्' तथा 'भाषा परिच्छेदकार' ने' आभ्यां परं तृतीयं स्यात्' कहकर निमित्तकारण का विवेचन है।

इन सभी ग्रन्थकारों के कथन का अभिप्राय यह है कि जो न समवायिकारण हो और न असमवायिकारण हो, किन्तु फिर भी जो कारण हो, अर्थात् इससे भिन्न जो कारण है, उसे ही 'निमित्त कारण' कहते हैं, यथा - तुरी, वेमा आदि पट के निमित्त कारण हैं, ये निमित्तकारण अनेक होते हैं, इन अनेक निमित्तकारणों के भी दो भेद हैं :- साधारण और असाधारण। ।

1- मुक्तावली-कारिका 18 तथा चिन्नम्भट्टकृत 'तर्कभाषा प्रकाशित टीका' - पृष्ठ 114.

2- कारिकावली - 1/23.

साधारण कारण :

जिनकी अपेक्षा, प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में होती है, उन्हें साधारण निमित्तकारण' कहते हैं, ये नौ हैं - बुद्धि, इच्छा, कृति, कार्य का प्रागभाव, जीवात्मा का अदृष्ट (धर्म और अधर्म) काल, दिक् और प्रतिबन्धक का अभाव। साधारणकारण[1] के आश्रय - दिक्, काल, अद्दष्ट, ईश्वरेच्छा तथा प्रतिबन्धका भाव ।

असाधारण निमित्त कारण :

जिनकी किसी एक कार्य की उत्पत्ति में आवश्यकता हो, उन्हें असाधारण निमित्त कारण कहते हैं, जैसे - घट के निमित्त कुम्भकार, चक्र आदि हैं।

समवायिकारण और असमवायिकारण ये दोनों तो 'असाधारण कारण' ही होते हैं, इनमें से असमवायिकारण को न्यायवैशेषिक दर्शन में छोड़कर अन्य दर्शनों में निमित्त कारण का ही अंग माना गया है।

उपरोक्त ये तीनों कारण केवल भाव पदार्थ के ही होते हैं। अभाव पदार्थ का तो केवल निमित्त कारण ही होता है, क्योंकि उस अभाव का कहीं भी समवाय संबंध नहीं रहता, अतः कोई पदार्थ अभाव का समवायिकारण नही कहलाता और जब उसका कोई समवायिकारण नहीं, तब उसका कोई असमवायिकारण भी नहीं हो सकता, अतः अभाव का तो केवल 'निमित्तकारण' ही होता है।

अतः इन त्रिविध कारणों में से जो कारण, किसी प्रकार से भी दूसरे कारणों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट रहता है, उसे ही 'कारण' कहते हैं, अतः प्रमाण का लक्षण 'प्रमाकरणम् प्रमाणम्' उचित ही है।

किन्तु कुछ विद्वानों ने प्रमाण का लक्षण, इस लक्षण से भिन्न प्रकार से किया है, जिसका विवेचन 'वरदराज' ने 'तार्किकरक्षा' में इस प्रकार किया है :-

---

1- प्रशस्तपादभाष्य - 'दिक्कालयोः पञ्चगुणत्वम् सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तकारणत्व तथा 'न्यायकुसुमाञ्जलि' - 1/10.

'अविसंवादिविज्ञानं प्रमाणमिति सौगता: ।
अनुभूतिः प्रमाणं सा स्मृतेरन्येति केचन् ।
अज्ञातचरतत्वार्थ निश्चायकमथापरे,
प्रमेय व्याप्यमपरे प्रमाणमिति मन्वते,
प्रमानियतसामग्रीं प्रमाणं केचिदूचिरे ।।'

किन्तु उपरोक्त लक्षणों का खण्डन 'तार्किकरक्षा' की 'सारसंग्रह' टीका में किया गया ।

इसी प्रकार मीमांसकों ने प्रमाण का लक्षण 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्'[1] तात्पर्य यह है कि 'अज्ञात अर्थ का जो ज्ञापक हो, वह प्रमाण' है। किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही घट में, यह घट है, यह घट है, इस प्रकार का धारावाहिक ज्ञान कराने वाली द्वितीयादि ज्ञान गृहीतग्राही होने से, वह धारावहिक ज्ञान 'अप्रमाण' कहा जायेगा। अतः 'अनधिगतार्थगन्तृ' यह प्रमाण का लक्षण उचित नहीं है।

मीमांसकों को छोड़कर अन्य दार्शनिक अधिगत विषयक ज्ञान को भी 'प्रमाण' मानते हैं, अतः उदयनाचार्य, श्रीधराचार्य, जयन्तभट्ट और वाचस्पति मिश्र आदि नैयायिक तथा वैशेषिक दार्शनिकों ने अपने-अपने ग्रन्थों में धारावाहिक ज्ञान में सूक्ष्मकालभेद का ग्रहण नहीं माना है, तर्कभाषाकार ने 'सूक्ष्मकालभेद' के ग्रहण होने या न होने के संबंध में विचार किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि न्याय - वैशेषिक को उपरोक्त लक्षण मान्य नहीं है। अतः उन्होंने 'प्रमाण' का लक्षण 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' ही माना है। न्यायसूत्रकार गौतम के अनुसार 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' में प्रमाण शब्द का प्रयोग 'प्रमाकरण' के लिये ही किया गया है।

अतः प्रमाण का 'प्रमाकरणम् प्रमाणम्' यह लक्षण सर्वथा उचित तथा सर्वमान्य ही है।

1- तर्कभाषा, केशवमिश्र कृत और वरदराज कृत 'तार्किकरक्षा' ।

'सर्वदर्शन संग्रहकार' ने 'प्रमाण' की परिभाषा 'साधनाश्रयव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तम् की है।[1]

प्रमाण - भेद :

जहाँ तक भेदों का प्रश्न है तो यह पहले ही बताया जा चुका है कि 'न्याय' शास्त्र 'चार प्रमाण' तथा वैशेषिक शास्त्र 'दो प्रमाणों' को ही मानता है, तथा 'चार्वाक' एक 'प्रत्यक्षप्रमाण' सांख्य - प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तथा प्रभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द और अर्थापत्ति तथा वेदान्ती - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव ये छः प्रमाण तथा पौराणिक - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव और ऐतिह्य ये आठ प्रमाण मानते हैं।[2] किन्तु तर्कभाषाकार ने तथा तार्किकरक्षाकार ने इन प्रमाणों का अन्तर्भाव - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों में किया है, किन्तु 'वैशेषिक शास्त्र' प्रत्यक्ष और अनुमान में उपमान और शब्द का भी अन्तर्भाव मानकर 'दो प्रमाण' ही मानते हैं ।

किन्तु जहाँ तक न्याय - वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों का प्रश्न है, तो इन ग्रन्थों में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार प्रमाणों का विवेचन किया गया है, अतः अब इन चारों प्रमाणों का क्रमशः विस्तृत निरूपण किया जायेगा।

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण

न्याय दर्शन में मान्य 'प्रत्यक्ष प्रमाण' प्रथम प्रमाण है। अब यह जानना अत्यावश्यक है कि प्रत्यक्ष प्रमाण किन-किन दर्शनों में मान्य है ? भारतीय दर्शनों में ही नहीं, अपितु भारतीय साहित्य के सभी भेदों तथा उपभेदों में भी 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग बहुलता से होता है। साधारण जनसमाज में भी इस शब्द का प्रचलन है। अंग्रेजी में 'प्रत्यक्ष' के लिये 'Perception' शब्द का व्यवहार किया जाता है। भारतीय - ज्ञान मीमांसा

1- सर्वदर्शन संग्रह - पृष्ठ 235.

2- तार्किकरक्षा - 'प्रमाण प्रकरण'

पर विचार करने वाला, शायद ऐसा कोई आचार्य ही हो, जिसने प्रत्यक्ष की चर्चा न की हो, न्यायशास्त्र में 'प्रत्यक्ष' का प्रयोग 'प्रमा' और 'प्रमाण' अर्थात् साधन और फल दोनों अर्थों में किया गया है। इस प्रकार के द्विविध अर्थ में अन्य प्रमाणों का प्रचलन नहीं है। इस प्रकार यह 'प्रत्यक्ष प्रमाण' लगभग सभी दर्शनों में मान्य है।

केशवमिश्र तथा कुछ अन्य नैयायिक प्रत्यक्ष से उत्पन्न ज्ञान के लिये 'साक्षात्कार' शब्द को उपयुक्त समझते हैं, यद्यपि वे 'साक्षात्कार' के कारण को भी प्रत्यक्ष ही कहते हैं, उनके मतानुसार 'प्रत्यक्ष' का प्रयोग केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के लिये ही किया जाना चाहिये।[1]

प्रत्यक्ष की परिभाषा के विषय में विभिन्न दर्शनों के आचार्यों में मतभेद पाया जाता है, यहां तक कि न्यायशास्त्र की अपनी परम्परा में भी आचार्यों का पूर्ण ऐकमत्य नहीं है, प्रत्यक्ष की परिभाषा का मूलाधार तो गोतमीय सूत्र ही है, परन्तु उसमें प्रयुक्त शब्दों की उपयोगिता और व्याख्या के विषय में उत्तरवर्ती नैयायिकों ने विभिन्न विचार प्रकट किये हैं, नव्य न्याय के आचार्यों ने तो गोतम की सारी ही परिभाषा को असंगत मानकर प्रत्यक्ष को नये ढंग से परिभाषित किया है, नैयायिकों द्वारा प्रत्यक्ष का जो विवेचन किया गया है, वह अन्य समस्याओं के समान अन्य दर्शनों के खण्डन-मण्डन पर ही आधारित है, अतः न्याय की दृष्टि से प्रत्यक्ष की परिभाषा पर विचार करने से पहले, इस संबंध में अन्य दार्शनिकों के मतों का निरूपण भी आवश्यक है।

अब जहाँ तक 'प्रत्यक्ष' शब्द के अर्थ का प्रश्न है तो 'प्रत्यक्ष' शब्द को दो खण्डों में बाँटा जा सकता है - 'प्रति' और 'अक्ष' । प्रशस्तपाद के अनुसार 'प्रति' का अर्थ है - 'समीप या सामने' - और 'अक्ष' का अर्थ है 'आँख' , अतः 'प्रत्यक्ष' का शाब्दिक अर्थ हुआ - आँखों के पास या सामने। अभिप्राय यह है कि विषय के प्रति क्रियाशील होने से, जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह 'प्रत्यक्ष'[2] है। नेत्रों के द्वारा

1- केशवमिश्र कृत 'तर्कभाषा' - 'साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्, साक्षात्कारिणीय च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा" ।

2- अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्ति प्रत्यक्षम्' - न्यायभाष्य ...तथा.. प्रतिगतमाश्रितम् अक्षम् - न्यायविन्दु धर्मोत्तर टीका, पृष्ठ 19.

जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'प्रत्यक्ष' ज्ञान है। उद्योतकर के अनुसार, प्रत्यक्ष का अभिप्राय है 'इन्द्रियों से संबंधित', जबकि प्रशस्तपाद के विचार में इसका अर्थ है 'इन्द्रियों पर आधारित' । जयन्तभट्ट का मत है कि 'प्रत्यक्ष' शब्द का व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ 'अक्षम् प्रति' का ग्रहण करने पर, जो भी ज्ञान इन्द्रियों पर निर्भर होगा, उसे प्रत्यक्ष मानना होगा और इस प्रकार सुख भी साधारण प्रत्यक्ष की सीमा में आ जायेगा, इसकी अपेक्षा यदि इस शब्द का परम्परा से प्रचलित अर्थ स्वीकार कर लिया जाये तो इसका अभिप्राय यह है कि 'वह ज्ञान जो इन्द्रियों से उद्भुत होता है, न कि केवल वे वस्तुयें, जो इन्द्रियों से सम्बद्ध हैं, वे सभी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत हैं।

'प्रत्यक्ष' शब्द की उपर्युक्त सभी व्युत्पत्तियो का विश्लेषण करते हुये, यह कहा जा सकता है कि 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग, प्रत्यक्ष प्रमाकरण और प्रत्यक्ष प्रमा के विषय के रूप में होता है, वे 'प्रत्यक्ष' शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों पर आधारित हैं :-

1- 'प्रति - विषयं प्रतिगतम्, अक्षम् इन्द्रियं यस्मै प्रयोजनाय तत् प्रत्यक्षम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ है - 'इन्द्रियजन्यज्ञान । इसी ज्ञानात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिये, इन्द्रिय विषय के प्रति गमन करती है। 2- 'प्रतिगतम् - विषयं प्रत्यक्षम्' अर्थात् विषय सन्निकृष्टम् अक्षम् प्रत्यक्षम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रत्यक्ष शब्द, प्रत्यक्ष प्रमा के करण का बोधक है, क्योंकि विषय सन्निकृष्ट इन्द्रिय को ही मुख्य रूप से प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। 3- 'प्रतियं विषयं प्रतिगतम् अक्षं स प्रत्यक्षः ' इस व्युत्पत्ति के अनुसार, प्रत्यक्ष शब्द, प्रत्यक्ष प्रमा के विषयभूत अर्थ का बोधक होता हैं, क्योंकि जिस विषय के प्रति इन्द्रिय का गमन होता है, अर्थात् जो अर्थ इन्द्रिय सन्निकृष्ट होता है, वही प्रत्यक्ष प्रमा का विषय होता है। [1]

लक्षण :

अब जहाँ तक 'प्रत्यक्ष' के लक्षण का प्रश्न है तो, इसका लक्षण सभी दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है :-

---

1- तर्कभाषा - हिन्दी व्याख्या , बदरीनाथ शुक्ल कृत - पृष्ठ 66.

शिवादित्य ने सप्तपदार्थी में प्रत्यक्ष का लक्षण 'अज्ञायमानकरण जन्यस्तत्त्वानुभवः प्रत्यक्ष प्रमा' तथा 'प्रत्यक्ष प्रमायोग - व्यच्छिन्नं प्रत्यक्ष प्रमाणम्' किया है।

'न्यायविन्दु' में 'धर्मकीर्ति में प्रत्यक्ष का लक्षण - 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्' किया है, न्यायविन्दु के धर्मोत्तर टीकाकार ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'इन्द्रियाश्रितं यत् तत् प्रत्यक्षम् । 'बोद्ध मतानुयायी वसुबन्धु ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'ततोऽर्थादविज्ञानं प्रत्यक्षम् तथा दिङ्गनाग ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'प्रत्यक्षकल्पनापोढम्' किया है। मीमांसा सूत्रकार जैमिनी ने 'सत्सम्प्रयोगे पुरूषेन्द्रियाणां बुद्धिजन्य तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' यह लक्षण किया है, किन्तु वार्तिककार ने इस लक्षण को दोषयुक्त माना है। सांख्याचार्य वार्षगण्य ने श्रोत आदि इन्द्रियों की वृत्ति को प्रत्यक्ष माना है, किन्तु संशय आदि ज्ञानों में अतिव्याप्ति होने के कारण, तात्पर्यटीकाकार ने इसे दोषपूर्ण माना है।[1] सांख्यकारिकाकार[2] ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'प्रतिविषयाध्यवसायों दृष्टम् किया है। योगसूत्रकार[3] तथा योगभाष्यकार ने प्रत्यक्ष कालक्षण इस प्रकार किया है - 'इन्द्रिय प्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विष्या सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधानावृत्तिः प्रत्यक्ष प्रमाणम्। तत्र प्रत्यक्षानुमानागमः प्रमाणानि' ।

वेदान्त परिभाषा[4] में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया गया है - 'प्रत्यक्ष प्रमा का करण, प्रत्यक्ष प्रमाण है और प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्यस्वरूप है' ।

प्रशस्तपाद के अनुसार - प्रत्यक्ष उस ज्ञान को कहते हैं, जिसमें वस्तु का सामान्य और विशेष के आगमन से रहित आलोचनमात्र ज्ञान रहता है।

'न्यायसूत्रकार' ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्क्षम्' तथा 'भाष्यकार' ने 'अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृतिः प्रत्यक्षम् वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा' किया है।

1- तात्पर्यटीका - 1/1/4, पृष्ठ 155.
2- सांख्यकारिका - 5वी कारिका
3- योगसूत्र - 1/7, योगभाष्य 1/7.
4- वेदान्त परिभाषा - पृष्ठ 20-37.

अभी तक तो अनेक दार्शनिकों द्वारा किये गये 'प्रत्यक्ष' के लक्षण का विवेचन किया गया, किन्तु अब 'न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित ग्रन्थों में प्रतिपादित 'प्रत्यक्ष' के लक्षण का विवेचन किया जा रहा है :-

'तर्कभाषा' में प्रत्यक्ष का लक्षण 'साक्षात्कारि प्रमाकरणं प्रत्यक्षम्', 'मुक्तावली' तथा तर्कसंग्रह में 'इन्द्रियजन्यज्ञानं प्रत्यक्षम्', तथा 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् किया गया है, मुक्तावली में प्रत्यक्ष का द्वितीय लक्षण 'ज्ञानाकरणं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' किया गया है, तर्कामृत तथा तर्ककौमुदी में 'प्रत्यक्ष प्रमाकरणं प्रत्यक्षम्' तथा तार्किकरक्षा में 'अपरोक्षप्रमाव्याप्तं प्रत्यक्षम्' में प्रत्यक्ष के लक्षण किये गये हैं ।

इस प्रकार उपरोक्त लक्षणों के आधार पर संक्षेप में प्रत्यक्ष का लक्षण, यह किया जा सकता है कि 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न तथा प्रत्यक्ष प्रमा के करण को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहा जाता है।

सभी दार्शनिकों के लक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'प्रत्यक्ष' का लक्षण, सभी दर्शनों में भिन्न भिन्न प्रकार से किया गया है, किन्तु सभी दर्शनों में 'प्रत्यक्ष प्रमाण' की सत्ता स्वीकार की गयी है, अतः 'प्रत्यक्ष प्रमाण, अत्यन्त ही महत्वपूर्ण प्रमाण है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद :

प्रत्यक्ष प्रमाण के सामान्यतया दो भेद किये गये हैं :- बाह्य प्रत्यक्ष और आन्तर प्रत्यक्ष। 'बाह्य प्रत्यक्ष' के भी घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत ये पाँच भेद मांने गये हैं। और 'मानस' इन्द्रिय को 'अन्तर प्रत्यक्ष' कहा जाता है। बाह्य और आन्तर दोनों मिलकर, वह 'इन्द्रिय रूप' प्रत्यक्ष छः प्रकार के होते हैं। और वह इन्द्रिय रूप 'प्रत्यक्ष प्रमाण' द्रव्यग्राहक और द्रव्य अग्राहक, इस भेद से पुनः दो प्रकार का होता है। चक्षु, त्वक् और मन ये तीन इन्द्रिय 'द्रव्यग्राहक' तथा घ्राण, रसन, श्रोत्र यह तीन इन्द्रिय, द्रव्य के अग्राहक होते हैं।

किन्तु न्याय वैशेषिक के सम्मिश्रित ग्रन्थों में प्रत्यक्ष का विभाजन, इस विभाजन से भिन्न प्रकार से किया गया है :-

तर्क कौमुदी, तर्कामृत, तर्कसंग्रह, तार्किक रक्षा, तर्क भाषा और मुक्तावली में प्रत्यक्ष का विभाजन दो प्रकार से किया गया है :-

प्रथम विभाजन - सविकल्पक और निर्विकल्पक ।

द्वितीय विभाजन - लौकिक और अलौकिक ।

लौकिक के भी छः भेद - घ्राणज, रासन, चाक्षुष, स्पार्शन, श्रोत्र और मानस तथा अलौकिक के भी तीन भेद - सामान्य लक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज ।

अब इन भेदों का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है :-

सविकल्पक प्रत्यक्ष :

सविकल्पक प्रत्यक्ष का लक्षण 'तर्ककौमुदी' में इस प्रकार किया गया है:-

विशेषणविशेष्य सम्बन्धावगाहि प्रत्यक्षम् सविकल्पकम्' अर्थात् विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला 'प्रत्यक्ष' सविकल्पक कहलाता है।

तार्किकरक्षाकार वरदराज ने 'नामादिभिर्विशिष्टार्थः - विषयं सविकल्पकं' अर्थात् नाम, जाति आदि से युक्त प्रत्यक्ष सविकल्पकं प्रत्यक्ष कहलाता है, यह लक्षण किया है।

तर्क संग्रहकार ने 'सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्' अर्थात् 'प्रकार' तात्पर्य यह है कि विशेषण युक्त ज्ञान 'सविकल्पक' होता है। 'सविकल्पक ज्ञान' का अर्थ है - 'विशिष्ट ज्ञान' । उसके विशेषण, विशेष्य और इन दोनों का सम्बन्ध ये तीन विषय होते हैं। विशेष्य में विशेष्यता रहती है, विशेषण में प्रकारता रहती है और संबंध में संसर्गता रहती है। इन तीनों का निरूपण करने वाला, वह विशिष्ट ज्ञान ही होता है, और ज्ञान से यह तीनों विशेषतायें निरूपित होती हैं, अतः प्रकारता निरूपण ज्ञान को 'सविकल्पक' कहते हैं, यथा :- 'यह ब्राह्मण है' इस स्थल पर ब्राह्मण विशेष्य

होता है, ब्राह्मणत्व विशेषण होता है और इन दोनों में समवाय संबंध होता है। सविकल्पक ज्ञान में चार प्रकार के विशेषणों का ज्ञान होता है - जाति, गुण, क्रिया और नाम ।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष :

इसका लक्षण तर्ककौमुदी, तर्कसंग्रह तथा तार्किकरक्षा में इस प्रकार किया गया है :- तर्ककौमुदी में 'विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहि प्रत्यक्षं निर्विकल्पम्', तार्किकरक्षा में 'अविशिष्टार्थ - विषयं प्रत्यक्षम् निर्विकल्पकम् तथा तर्कसंग्रह में निष्प्रकारकं ज्ञानंनिर्विकल्पकम् किया गया है, अर्थात् जिस ज्ञान में विशेष्य, विशेषण और संबंध ये तीनों विषय नहीं होते अर्थात् जो ज्ञान इन तीनों से रहित होता है, वह निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये हैं - सविकल्पक और निर्विकल्पक, किन्तु बौद्ध लोग केवल निर्विकल्पक को प्रमाण मानते हैं, सविकल्पक को नहीं और नैयायिक सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दोनों को ही मानते हैं, यही नैयायिकों का बौद्धों से मतभेद है। बौद्धों के मत तथा उनका खण्डन केशवमिश्र ने तर्कभाषा में इस प्रकार किया है :-

बौद्ध लोग निर्विकल्पक को ही प्रमाण इसलिये मानते हैं क्योंकि निर्विकल्पक 'वस्तुमात्र विषयक' होने से, वस्तु से ही उत्पन्न होने से 'अर्थज' है, 'अर्थज' होने से 'निर्विकल्पक' को प्रमाण माना जाता है, किन्तु सविकल्पक ज्ञान तो नाम, जाति आदि के साथ होता है, उसमें 'जाति' की भी प्रतीति होती है, अतः जाति को भी उसका कारण मानना चाहिये, परन्तु बौद्ध मत में 'जाति' कोई भावभूत पदार्थ नहीं है, अतः उससे उत्पन्न होने के कारण 'सविकल्पक ज्ञान' अर्थज न होने से उसको प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता।

किन्तु नैयायिक इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि सामान्य (जाति) भी भावभूत पदार्थ है, तात्पर्य यह है कि घटादि में जो 'अनुगत प्रतीत' होती है, उसके उपपादन के लिये बौद्ध 'अतद्व्यावृत्तिरूप अपोह' का सहारा लेते है किन्तु यह मार्ग बहुत ही टेढ़ा है, जब कोई व्यक्ति, दस घट व्यक्तियों को देखता है तो देखने वाले

व्यक्ति के मन में उनकी समानता की ही प्रतीति होती है, अत: इस एकाकार की प्रतीति का कारण भावभूत सामान्य को ही मानना चाहिये, अपोह को नहीं।

तब सविकल्पक भी प्रत्यक्ष होगा ।

पाश्चात्य दार्शनिकों का भी 'सविकल्पक' के विषय में नैयायिकों से मतभेद हैं, वे इसे अनेक ज्ञानों का सम्मिश्रण ही मानते हैं, अत इसे प्रत्यक्ष को कोटि में नहीं माना जाता।

केशवमिश्र ने 'तर्कभाषा' में इस प्रत्यक्ष के विषय में आने वाली समस्याओं के समाधान के लिये करण, व्यापार तथा फल का विवेचन किया है। उनके अनुसार, इन्द्रिय 'करण' हैं, इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष 'व्यापार' है तथा निर्विकल्पक ज्ञान 'फल' है। यदि सविकल्पक ज्ञान 'फल' है तो निर्विकल्पक ज्ञान 'व्यापार', इन्द्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष 'करण' होता और यदि ज्ञान से उत्पन्न इच्छा 'फल' है तो सविकल्पक ज्ञान 'व्यापार' तथा निर्विकल्पक ज्ञान 'करण' होगा। किन्तु इस प्रक्रिया में निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान को समान कोटि में रखा जाना सम्भव नहीं, सविकल्पक के प्रति इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कह सकते, जैसा कि अनेक नैयायिक मानते हैं।

इस प्रत्यक्ष का द्वितीय विभाजन इस प्रकार किया गया है :- लौकिक और अलौकिक, अत. अब लौकिक और अलौकिक रूप प्रत्यक्ष के भेदों का निरूपण किया जा रहा है :-

लौकिक प्रत्यक्ष :

नैयायिकों ने इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को 'प्रत्यक्ष प्रमा' कहा है, इन्द्रियों का अभिप्राय है - ज्ञानेन्द्रियों से । ये ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं :- नेत्र, त्वक्, श्रोत्र, घ्राण, रसना। 'मन' ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों हैं, उसे भी प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति कारण माना जाता है।

सन्निकर्ष भी छ: प्रकार के होते हैं - संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषण - विशेष्यभाव, इन्हें 'षोढा सन्निकर्ष'

भी कहा जाता है। इनका विवेचन तर्कभाषा, तर्कसंग्रह, तर्कामृत, तर्ककौमुदी तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावली इन न्याय - वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में किया गया है, इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर अब इन छः सन्निकर्षों का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है :-

संयोग :

इन्द्रिय तथा अर्थ के संयोग से जहाँ प्रत्यक्ष प्रमा की उत्पत्ति होती है, वहाँ 'संयोग' नामक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होता है, जैसा कि तर्कभाष्कार का कथन है कि - 'तत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते, तदा चक्षुरिन्द्रियं घटोऽर्थः अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव अयुत्तसिद्धयाभावात् '।

अर्थात् जब चक्षु के द्वारा, घट का प्रत्यक्ष होता है, तब चक्षु तथा घट का संयोग सन्निकर्ष ही होता है, ये दोनों अयुत्तसिद्ध भी नहीं हैं, ऐसा नहीं है कि अविनश्यदवस्था में इनमें से एक - दूसरे के आश्रित ही रहता है, अतः यहाँ 'संयोग सन्निकर्ष ही है, समवाय नहीं। अन्यथा अयुत्तसिद्ध होने पर तो इनका संबंध समवाय ही होता। इसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा आत्मा के विषय में "मैं हूँ' इस प्रकार का ज्ञान होता है, तब मन इन्द्रिय है, आत्मा अर्थ है, इन दोनों का सन्निकर्ष 'संयोग' ही है।

संयुक्त समवायसन्निकर्ष :

'संयुक्त समवाय' का अर्थ है :- संयुक्त में समवाय । इस सन्निकर्ष को स्पष्ट करते हुये 'तर्कसंग्रहकार' ने कहा है :- 'चक्षु संयुक्ते घेटे रूपस्य समवायात्', किन्तु 'तर्कभाषाकार' ने इसे और स्पष्ट करते हुये कहा है कि :

'यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृह्यते, घटे श्यामं रूपमस्ति इति, तदा चक्षुरिन्द्रियं घटरूपमर्थः अनयो सन्निकर्षः संयुक्त समवाय एव'

भाव यह है कि जब चक्षु आदि से घट में रहने वाले रूप आदि का ग्रहण होता है कि 'घट में श्यामरूप' है, तब चक्षु इन्द्रिय है, घटरूप विषय है, इन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्त समवाय ही है, क्योंकि चक्षु से घट में रूप का समवाय है।

इसी प्रकार जब मन में, आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले सुख आदि का ग्रहण होता है, तो यही संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है। 'घट श्यामहै', ऐसा प्रत्यक्ष करने के लिये तो घट के सभी अवयवों का प्रत्यक्ष करना आवश्यक नहीं है, किन्तु 'घट' छोटा है, घट बड़ा है' इस प्रकार (परिमाण) का ज्ञान तभी सम्भव है, जब हम घट के अधिकांश अवयवों का प्रत्यक्ष कर लें, ऐसा करने के लिये 'तर्कभाषाकार' ने निम्नलिखित चार अतिरिक्त सन्निकर्षों की भी अवश्यकता मानी है:-

1- अवयव - अवयवी

2- अवयवी - अवयव

(3 और 4) अवयव - अवयव तथा अवयवी - अवयवी - इन्द्रिय के अवयव और अवयवी का क्रमशः अर्थ के अवयव और अवयवी से ।

संयुक्तसमवेतसमवाय :

चक्षु के द्वारा, घट के रूपत्व आदि सामान्य का ग्रहण होने पर, चक्षु और घट रूपत्व का सन्निकर्ष संयुक्त समवेत समवाय कहलाता है, क्योंकि 'चक्षु संयुक्ते घटे रूपं समवेतम् तत्र रूपत्वस्य समवायात्' अर्थात् चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवेत हैं और उस रूप में रूपत्व का समवाय है।

समवाय सन्निकर्ष :

श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा 'शब्द' का ग्रहण होने पर श्रोतेन्द्रिय और शब्द में समवाय सन्निकर्ष होता है, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय कर्ण विवरावच्छिन्न आकाश ही है, और फिर शब्द तो आकाश का गुण ही है, इस प्रकार दोनों में गुण - गुणी संबंध होने से 'समवाय' सन्निकर्ष ही है। तर्कभाषाकार ने इसका विवेचन इस प्रकार किया है :-

'श्रोत्रस्याकाशात्मकत्वात् शब्दस्य चाकाशगुणत्वात् गुणगुणिनोश्च समवायात्'

समवेत समवाय सन्निकर्ष :

जब शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला शब्दत्व आदि जाति का श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, तब श्रोत्र इन्द्रिय है, शब्दत्व आदि जाति अर्थ है,

इन दोनों का सन्निकर्ष समवेत समवाय ही है, क्योंकि श्रोत्र में समवेत शब्द में शब्दत्व का समवाय सम्बन्ध होता है, 'श्रोत्र समवेते.. शब्दे शब्दत्वस्यसमवायात्'

विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष :

इसका विवेचन करते हुये तर्कभाषाकार ने कहा है 'यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावों गृह्यते, इह भूतले घटो नाडिस्त इति तदा विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्धः'

अभिप्राय यह है कि जब चक्षु संयुक्त भूमि पर, यहां भूमि पर घट नहीं है, इस प्रकार धटाभाव का ग्रहण होता है, तब विशेषणा विशेष्यभाव सन्निकर्ष होता है।

परन्तु विशेषण - विशेष्यभाव सन्निकर्ष द्वारा अभाव का ग्रहण करने के लिये अन्य पाँच सन्निकर्षों में से किसी एक का होना अनिवार्य होता है, यथा -भूमि में घटाभाव का ग्रहण तभी होता है, जब नेत्रेन्द्रिय का भूतल के साथ संयोग सन्निकर्ष होता है, या नील घट में पीताभाव ज्ञान तभी होगा, जब नेत्रेन्द्रिय का घट रूप के साथ संयुक्त समवाय सम्बन्ध हो।

समवाय का ग्रहण भी विशेष्य - विशेषण भाव सन्निकर्ष के द्वारा ही होता है, जैसे - चक्षु से सम्बद्ध तन्तु का विशेषण होने वाला यह -समवाय 'इन तन्तुओं में घट समवाय है, इस प्रकार से गृहीत होता है।

षड्विध सन्निकर्ष द्वारा ग्रहणीय विषयों का संग्रह निम्नलिखित कारिका में किया गया है :-

'घट तन्नील नीलत्व शब्द शब्दत्व जातयः ।
अभाव समवायो च ग्राह्याः सम्बन्ध षट्कतः ।।

इस प्रकार न्याय - वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में षोढा सन्निकर्षों का विवेचन किया गया है।

छः सन्निकर्षों के स्थान पर तीन की शंका :

अभाव प्रत्यक्ष के कारण भूत विशेषणता सम्बन्धों की विशषणता रूप से यदि एक सन्निकर्ष माना जाये तो संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय तथा समवेत समवाय ये चारों सन्निकर्षों के सम्बन्ध में भी समवाय अनुगत है। अतः समवायत्व रूप से उन चारों सन्निकर्षों का भी एक सन्निकर्ष मानना चाहिये, अतः संयोग, समवाय, विशषणता, यह तीन सन्निकर्ष ही सिद्ध होता है, पूर्व कहे गये छः सन्निकर्ष सिद्ध नहीं होते ।

न्याय मत से समाधान :

उपरोक्त रीति से यद्यपि तीन सन्निकर्ष ही सिद्ध होते हैं, किन्तु फिर भी शास्त्रकारों ने अपने ग्रन्थों में पूर्वोक्त छः सन्निकर्षों का ही विवेचन किया है, अतः शास्त्र सम्प्रदाय के अनुसार व पूर्व कहे गये संयोगादि छः सन्निकर्ष ही है।

अलौकिक प्रत्यक्ष :

इसका विवेचन न्याय - वैशेषिक के सम्मिश्रित ग्रन्थों, तथा - तर्कामृत, तर्ककौमुदी तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावली मे किया गया है, किन्तु 'तर्कभाषा, तार्किकरक्षा में 'अलौकिक सन्निकर्ष' का विवेचन नहीं किया गया है। जिन ग्रन्थों में इन सन्निकर्षों का विवेचन किया गया है, उनमें तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्ष बताये गये हैं, जैसा कि इस कारिका से स्पष्ट होता है।

'अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः ।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा [1] ।।

तात्पर्य यह है कि अलौकिक सन्निकर्ष के तीन भेद हैं :-

सामान्यलक्षणा, ज्ञानलक्षणा और योगज। अब इनका विस्तृत विवेचन किया जा रहा है :-

---

1- भाषा परिच्छेद - 5 कारिका - 63.

सामान्यलक्षणा :

सामान्य लक्षणा को समझने के पूर्व उसके अर्थ को समझना आवश्यक है, अत. अब 'सामान्यलक्षण' का अर्थ बताया जा रहा है :- इसमें जो 'लक्षण' पद दिया गया है, वह 'स्वरूप' का वाचक है, अथवा वह 'विषय' का वाचक है, ऐसा भी कहा जा सकता है। इस प्रकार 'सामान्य लक्षणा' के दो अर्थ ज्ञात होते हैं -

1- सामान्य है स्वरूप जिस सन्निकर्ष का, इस सन्निकर्ष का नाम सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष है ।

2- सामान्य है विषय जिस सन्निकर्ष का, उसका नाम सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष है।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार, विश्वनाथ ने 'सामान्यलक्षणा' सन्निकर्ष का लक्षण इस प्रकार किया है :- 'इन्द्रिय सम्बद्ध लौकिक सम्बन्ध वाला जो पदार्थ है, वह पदार्थ है, विशेष्य, जिस विषय में इस प्रकार का जो चाक्षुष आदि ज्ञान है, उस ज्ञान विषय में प्रकारी भूत जो सामान्य है, उस समान्य को 'सामान्य लक्षण सन्निकर्ष' कहते हैं। अथवा अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि सामान्य को इन्द्रियसम्बद्ध है विशेष्य, जिसके ज्ञान में विशेषणरूप समझाना चाहिये ।

अब 'सामान्य लक्षण' को मानने की आवश्यकता क्यों है ? ऐसी शंका होने पर, उसकी उपयोगिता को बताते हुये 'मुक्तावलीकार' कहते हैं कि इसकी उपयोगिकता यह है कि 'न्याय-वेशेषिक' व्याप्ति को अनुमान के लिये आवश्यक मानते हैं, उसका स्वरूप यह है 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' अर्थात् 'साधन धूम' की 'साध्य वह्नि' के साथ व्याप्ति है, परन्तु बौद्धों ने इसका खण्डन करते हुये कहा है कि जब तक सारे धूम और सारी वह्नियों का प्रत्यक्ष न हो, तब तक इस प्रकार का व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं हो सकता तथा दूसरी बात यह भी है कि साधारण मनुष्य को सब देशों और सब कालों के सारे धूमों और सारी वह्नियों का ज्ञान नहीं हो सकता, तब इस बौद्ध मत के समाधान के लिये न्याय - वेशेषिक ने 'सामान्य लक्षणा' सन्निकर्ष को माना है। इसको और स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है कि 'जब किसी भी धूम का धूमत्व

विशेषण के साथ ज्ञान होता है, तब धूमत्व के सामान्य होने से 'धूमत्व' रूप सारे धूमों की उपस्थिति हो जाती है, इस प्रकार सारे धूमों के उपस्थित हो जाने पर व्याप्ति ज्ञान सम्भव हो जाता है। धूमत्व सामान्य से सारे धूमों की उपस्थिति हो जाने को ही 'अलौकिक प्रत्यक्ष' कहा जाता है, जिसमें 'धूमत्व' सामान्य ही सन्निकर्ष बनता है, परन्तु यह स्पष्ट है कि इस प्रकार प्रत्यक्ष और उसका सन्निकर्ष अलौकिक ही है। सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष को इस प्रकार भी समझा जा सकता है :-

सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष में करण - इन्द्रिय, विशेष्य - धूम, विशेषण धूमत्व, सन्निकर्ष - धूमत्व सामान्य तथा प्रमा - सकल - धूमों का ज्ञान है।

ज्ञान लक्षणा सन्निकर्ष :

तर्ककोमुदीकार [1] जिस ज्ञान का जो वस्तु - विषय होता है, उस वस्तुमात्र को विषय करने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान का जो ज्ञान जनक होता है, उस ज्ञान को 'ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष' कहते हैं। मुक्तावलीकार ने 'विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः' किया है अर्थात् जिसका ज्ञान होता है, उसी का सन्निकर्ष, ज्ञान लक्षणा कहा जाता है, ऐसा विवेचन किया है।

ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष को इस उदाहरण द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जासकता है.- ' जिस पुरूष ने अनेकों बार चन्दन के सुगंध को घ्राण इन्द्रिय से प्रत्यक्ष किया है, उस पुरूष को दूर से 'चन्दन खन्ड' को देखकर 'सुरभिचन्दनखण्डनम्' तात्पर्य यह है कि यह चन्दन खण्ड सुरभि गंध वाला है, इस प्रकार का चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वहाँ उस चन्दन खण्ड के साथ तो उस चक्षु इन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध है, अतः उस चन्दनखण्ड के अंशों में तो वह प्रत्यक्ष लौकिक ही है, और उस पूरे देश में स्थित चन्दन के साथ घ्राण इन्द्रिय का संयोग संबंध तो नहीं होता, क्योंकि जैसे - चक्षु इन्द्रिय अपने गोलक से निकलकर दूर देश में स्थित पदार्थ के साथ संबंध को प्राप्त नही होता, किन्तु वे घ्राणादि इन्द्रिय अपन गोलक के साथ संबंध वाले पदार्थ के ही गन्धादि को

---

1 - 'ज्ञानलक्षणसन्निकर्षेण तु तद्विषयीभूततत्तत्पदार्थानां प्रत्यक्ष जन्यते'

ग्रहण करती है, अत. उस घ्राण इन्द्रिय के संयुक्त समवाय संबंध से उस चन्दन के सौरभ गंध का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं। यद्यपि उस चक्षु इन्द्रिय का उस सौरभ गंध के साथ संयुक्त समवाय संबंध है, किन्तु फिर भी उस चक्षु इन्द्रिय के सन्निकर्ष में, उस गन्ध गुण के प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने की योग्यता नहीं है, अतः 'सुरभि चन्दन खण्ड' या उक्त चाक्षुष प्रत्यक्ष का उस सौरभ गंध अंश विषय में लौकिक प्रत्यक्षरूपता सम्भव नहीं, अत. अलौकिक प्रत्यक्षरूपता ही कहनी होगी, उस चन्दन खण्ड को देखकर पूर्व अनुभव किये हुये, उस सौरभ गंध के संस्कार उद्बुद्ध होते हैं, उस उद्बुद्ध संस्कार से, उस सौरभ गंध का स्मरण होता है, यह सौरभ गंधविषयक स्मृतिज्ञान ही उस चक्षु इन्द्रिय का उस चन्दन के सौरभ गंध के साथ ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष करके ही, इस पुरूष को उस सौरभ गंध का अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है।

सामान्य लक्षणा तथा ज्ञान लक्षणा में भेद :

अब यह शंका उठती है कि सामान्य लक्षण सन्निकर्ष को भी ज्ञानरूप कहा था और ज्ञानलंक्षणा सन्निकर्ष को भी ज्ञानरूप कहा, अतः जब दोनों सन्निकर्ष ज्ञानरूप ही है, तो उनमें भेद क्या है ? तब इस शंका का समाधान करते हुये, मुक्तावलीकार ने कारिका 64 में 'विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणा' कहकर किया है, अर्थात् सामान्य लक्षण सन्निकर्ष तो 'धूमत्वादि' सामान्य के धूमादि आश्रय के प्रत्यक्ष ज्ञान का ही जनक होता है और ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष तो सौरभादि वस्तु के ही प्रत्यक्ष ज्ञान का जनक होता है, उन सौरभादि के आश्रय के प्रतयक्ष ज्ञान का जनक नहीं होता, यही उन दोनों सन्निकर्ष के विषय में विलक्षणता है। अतः उन दोनों सन्निकर्षों का भेद सम्भव है।

योगजसन्निकर्ष :

योगाभ्यास से जन्य, जो धर्मविशेष है, उस धर्म को 'योगज धर्म लक्षण सन्निकर्ष' कहते हैं। योगी पुरूषों को सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अर्थात् पूर्वनष्ट हुये पदार्थों का तथा आगे उत्पन्न होने वाले पदार्थों का तथा अभी वर्तमान पदार्थों का तथा

अतिदूरदेशवृत्ति पदार्थों का तथा परमाणु आकाशादिक अति इन्द्रिय पदार्थों का, उस योगी पुरूष को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, यह वार्ताश्रुति, स्मृति, पुराणादि में भी प्रसिद्ध है। उस योगी पुरूष के चक्षु आदि इन्द्रिय का उन सभी पदार्थों के साथ कोई संयोगादिरूप लौकिकसन्निकर्ष तो सम्भव नहीं और इन्द्रिय अर्थ के सम्बन्ध के बिना प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता, अतः उस योगी पुरूष के चक्षु आदि इन्द्रिय का उन सभी पदार्थों के साथ यह योगजधर्म लक्षण सन्निकर्ष ही स्वीकार करना चाहिये। योगज धर्म लक्षण सन्निकर्ष करके ही, उस योगी पुरूष को, उन सभी पदार्थों का उस-उस असाधारण रूप करके प्रत्यक्ष होता है।

योगज सन्निकर्ष के भेद :

योगज सन्निकर्ष के दो भेद 'विश्वनाथ' आदि ग्रन्थकारों ने बताये हैं [1] युक्त और युञ्जान ।

'युक्त' योगी को सर्वदा भान होता है, परन्तु 'युञ्जान' योगी को ध्यान के सहचार से पदार्थों का साक्षात्कार होता है।

जैन दर्शन का केवल ज्ञान, बौद्ध दर्शन का बोधि, सांख्य का कैवल्य तथा वेदान्त का साक्षात्कार भी वस्तुत योगज प्रत्यक्ष के ही विभिन्न रूप हैं।

प्रत्यक्ष के करण :

तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने, प्रत्यक्ष के तीन करण बताये हैं :- इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और ज्ञान ।

'इन्द्रिय' करण तब होती है, जब निर्विकल्पक ज्ञान रूप प्रमा फल होती है, जैसे :- आत्मा का मन के साथ संयोग होता है, फिर मन का इन्द्रिय के साथ, फिर इन्द्रिय का अर्थ के साथ संयोग होता है, क्योंकि इन्द्रियों के वस्तु को प्राप्त करके ही अर्थ को प्रकाशित करने का नियम है, तब इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने के बाद, अर्थ से संयुक्त इन्द्रिय के द्वारा नाम, जाति आदि से रहित, वस्तु के स्वरूपमात्र

1- भाषा परिच्छेद - कारिका 65

को ग्रहण करने वाला, निर्विकल्पक ज्ञान होता है। उस निर्विकल्पक ज्ञान का करण इन्द्रिय होती है।

जब निर्विकल्पक ज्ञान के बाद नाम, जात्यादि योजना सहित, यह ब्राह्मण है, यह श्याम है, इस प्रकार का विशषण विशेष्यभाव विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, तब 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' करण निर्विकल्पिक ज्ञान अवान्तर व्यापार तथा सविकल्पक ज्ञान फल होता है।

जब सविकल्पक ज्ञान के बाद, ज्ञात वस्तु का परित्याग करने, ग्रहण करने अथवा उपेक्षा करने की बुद्धि उत्पन्न होती है, तब 'निर्विकल्पक ज्ञान' करण, सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार तथा हानादि बुद्धि फल होती है।

इन तीनों करणों के विवेचन में 'अवान्तर व्यापार' शब्द का प्रयोग किया गया है और उसका लक्षण 'प्रमाण लक्षण' के निरूपण में ही बताया जा चुका है, अतः यहां पर 'व्यापार का लक्षण नहीं बताया जा रहा है।

(द्वितीय - अध्याय)

अनुमान निरूपण

अनुमान निरूपण

प्रत्यक्ष प्रमाण के पश्चात् अब न्याय वैशेषिक में मान्य द्वितीय अनुमान प्रमाण का निरूपण किया जा रहा है। अनुमान का लक्षण करने के पूर्व 'अनुमान' शब्द के 'अर्थ' को समझना अत्यावश्यक है। 'अनुमान' शब्द का अर्थ 'मितेन लिंगेन अर्थस्य अनु पश्चान्मानमनुमानम्' [1] किया गया है, तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात लिंग द्वारा अर्थ के अनु0 अर्थात पीछे से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'अनुमान' कहते हैं।

'अनु' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय जुड़ने से निष्पन्न 'अनुमान' शब्द का सामान्य अर्थ है 'पश्चात् ज्ञान' । व्याप्ति ज्ञान और पक्षधर्मताज्ञान के अनन्तर यह ज्ञान होता है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि दो ज्ञात सत्यों के द्वारा किसी अज्ञात सत्य का ज्ञान करना ही 'अनुमान' है।

यह तो अनुमान का व्युत्पत्तिजनक अर्थ हुआ अब अनुमान का लक्षण पूर्वक विवेचन किया जा रहा है ।

लक्षण :

जहाँ तक अनुमान के लक्षण का प्रश्न है तो न्याय - वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित प्रमुख ग्रन्थों में इसका लक्षण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है, किन्तु इन प्रकरण ग्रन्थों में वर्णित लक्षणों का विवेचन करने के पूर्व 'न्यायसूत्र' में प्रतिपादित' अनुमान' के लक्षण का विवेचन किया जा रहा है :-

'गौतम' ने 'न्यायसूत्र' में 'तत्पूर्वक त्रिविधमनुमानम्' इस रूप में अनुमान का लक्षण किया है, किन्तु सूत्र से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि 'तत्' पद का अभिधेयार्थ क्या है ? वात्स्यायन के कथनानुसार 'तत्' शब्द से 'लिंग लिंगी दर्शन और लिंग दर्शन' दोनों अभिप्रेत है। लिंगी के साथ लिंग का संबंध ग्रहण हो जाने के उपरान्त लिंग दर्शन

1- वात्स्यायन भाष्य, न्यायदर्शन - 1/1/3.

से व्याप्ति का स्मरण होता है। व्याप्ति स्मरण के बाद लिंगज्ञान होता है और लिंगज्ञान से जो ज्ञान होता है, वही अनुमान हैं[1] अर्थात् व्याप्तिस्मरण पूर्वक लिंग ज्ञान होता है।

महर्षि कणाद के अनुसार कार्य, कारण संयोगी विरोधी एवं समवायी आदि के आधार पर सम्बद्ध 'लिंगी' का जो ज्ञान होता है, उसको लैंगिक अर्थात् अनुमान कहते हैं। लीन (परोक्ष) अर्थ का बोध कराने वाले को लिंग कहते हैं। प्रशस्तपाद का भी यही कथन है कि लिंग के दर्शन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'लैंगिक' कहलाता है।[2]

अब प्रकरण ग्रन्थों के आधार पर अनुमान का लक्षण किया जा रहा है:-

जहाँ तक अनुमान के लक्षण का प्रश्न है तो वह इसकी व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट होता है कि 'अनुमीयते इति अनुमानम्' अर्थात् जिस साधन द्वारा अनुमिति की जाती है, उसे 'अनुमान प्रमाण' कहते हैं, जैसा कि 'तर्कसंग्रह', तर्कामृत तथा तर्ककौमुदी में अनुमान का लक्षण बताते हुये 'अनुमितिकरणमनुमानम्' अर्थात् अनुमिति के करण को अनुमान प्रमाण कहा गया है, किन्तु 'तार्किकरक्षा' में अनुमान का लक्षण 'व्याप्तिग्रहणसापेक्षं प्रमितेः साधनं विदुः' तथा 'कारिकावली' की टीका 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में 'परामर्शजन्यं ज्ञानं अनुमितिः' तथा 'व्याप्तिज्ञानकरणकंज्ञानमनुमितिः' किया गया है, जबकि 'तर्कभाषा' में अनुमान का लक्षण कुछ भिन्न शब्दों में किया गया है कि 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्' अर्थात् लिंग परामर्श अनुमान है, क्योंकि जिससे अनुमीति की जाये, वह अनुमान होता है, लिंग परामर्श से अनुमिति की जाती है, अतः लिंग परामर्श अनुमान है।

उपरोक्त लक्षण में 'लिंग' और 'परामर्श' ये दो शब्द है, जिनके स्पष्टीकरण के बिना लक्षण स्पष्ट नहीं हो सकता, अतएव अब 'लिंग और परामर्श' इन दोनों का अर्थ स्पष्ट किया जा रहा है :-

---

1- न्याय भाष्य - 1/1/5

2- वैशेषिकसूत्र - 9/2/1.

'लिंग' का लक्षण है 'व्याप्तिबलेन अर्थगमकं लिंगम्' अर्थात् व्याप्ति के बल से जो अर्थ का बोधक हो, उसे 'लिंग' कहते हैं। इस लक्षण मे 'व्याप्ति' शब्द नया आ गया, अतः उसको समझाना भी आवश्यक हो गया। 'व्याप्ति' का अर्थ है - साहचर्य नियम' । 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः 'अर्थात जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ वहाँ अग्नि होती है, इस साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं, इस व्याप्ति के बल से जो अर्थ का बोधक हो, उसको 'लिंग' कहते हैं, 'जैसे - धूम वह्निन का लिंग है। पर्वतादि पर धूम को देखकर, जहाँ जहाँ धुआँ होता है, वहाँ वहाँ अग्नि होती है, इस साहचर्य नियम अथवा व्याप्ति के आधार पर अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान होता है, इसलिये धूम अग्नि का लिंग कहलाता है। लिंग 'शब्द की व्युत्पत्ति' लीनम् अप्रत्यक्षं अर्थम् गमयति इति लिंगम्' की गयी है।

अनुमान के उपरोक्त लक्षण में दूसरा शब्द है 'परामर्श' इसका लक्षण दो प्रकार से किया गया है - 'लिंगस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्श' तथा 'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानं परामर्श' अथात् लिंग के तृतीय ज्ञान को परामर्श कहते हैं।

अन्नम्भट्ट ने भी 'तर्कसंग्रह' में परामर्श से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति तथा उसके करण को अनुमान कहा है।

विश्वनाथ पंचानन ने 'कारिकावली'[1] में अनुमान में व्याप्तिज्ञान को करण और परामर्श को व्यापार कहा है। केवल लिंग करण नहीं होता अन्यथा विनष्ट लिंग से अनुमिति नहीं होगी। व्याप्त का पक्ष में अवधारण ही परामर्श कहलाता है। इसको विस्तृत रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है विश्वनाथ ने 'कारिकावली' में 'परामर्श' को 'अनुमिति' में व्यापार माना है। 'वह्निव्याप्त धूमवान पर्वत' इस प्रकार के ज्ञान को 'परामर्श' कहते हैं। जो कारण से जन्य हो और कारण से जन्य का जनक हो, उसे 'व्यापार' कहते हैं। परामर्श भी व्याप्ति ज्ञान से जन्य है, और व्याप्ति ज्ञान में जन्य जो अनुमिति

1- व्यापारस्तु परामर्श करणं व्याप्तिधीर्भवेत् ।
अनुमायां ज्ञायमानं लिंग तु करणं न हि ।।
अनागतादि लिंगेन न स्यादनुमितिस्तदा ।

है, उसका जनक है, इसलिये अनुमिति में 'परामर्श' व्यापार है।

अब यह शंका होती है कि 'परामर्श' का अर्थ क्या है ? तो परामर्श का लक्षण बताते हुये विश्वनाथ 'कारिकावली' में कहते हैं कि - 'व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्व धीः परामर्श उच्यते' अर्थात् अभिप्राय यह है कि व्याप्ति विशिष्ट का पक्ष के साथ जो वैशिष्ट संबंध है, उसका ज्ञान 'परामर्श' कहलाता है, यही अनुमिति का जनक है।

परामर्श की उपयोगिता कें विषय में मीमांसकों तथा नैयायिकों में मतभेद है। इस विषय में विशद चर्चा विश्वनाथ ने 'कारिकावली' की टीका 'मुक्तावली' में की है, किन्तु यहाँ पर संक्षिप्त विवेचन ही किया जा रहा है। मीमांसकों का मत है कि महानस में धूम और अग्नि का सहचार देखकर 'धूम वह्नि का व्याप्त है' इस प्रकार व्याप्तिग्रह निश्चय हो गया, बाद में 'पर्वतधूमवाला है' इस प्रकार के पक्षधर्मताज्ञान के पश्चात् ही 'पर्वत वह्नि वाला है' यह अनुमिति होती है, इनके मत में व्याप्ति का अनुभव, संस्कार द्वारा अनुमिति के प्रति कारण है ।

जबकि न्यायमत में तो महानस में वह्नि के साथ रहने वाले धूम को देख कर धूम वह्नि का व्याप्य 'इस प्रकार का व्याप्त्यनुभव होता है, उसके बाद 'पर्वत धूमवाला' यह पक्षवृत्तिताज्ञान, उसके पश्चात् व्याप्तिस्मरण, उसके 'वह्नि का व्याप्त धूमवाला यह पर्वत' यह परामर्श, तब 'पर्वत वह्निवाला' यह अनुमिति होती है।

इस प्रकार मीमांसकों के मत में दो ज्ञानों से अनुमिति होती है, जबकि न्याय मत में 'परामर्श' एक अधिक होकर तीन ज्ञानों से अनुमिति होती है। मीमांसकों का कथन है कि सर्वत्र विशिष्ट ज्ञान अर्थात 'परामर्श' की कल्पना करना अनुचित है। इसका खण्डन विश्वनाथ ने कारिकावली की टीका मुक्तावली में किया है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि 'तर्कभाषा' में केशवमिश्र द्वारा किया गया 'अनुमान' का लक्षण ही सबसे परिष्कृत लक्षण प्रतीत होता है।

अब अन्य दर्शनों के आधार पर अनुमान के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है :-

सांख्य मत :

सांख्यसूत्रकार[1] कपिल के अनुसार 'प्रतिबन्ध दर्शन से प्रतिबद्ध का ज्ञान होना ही अनुमान है। 'प्रतिबन्ध' शब्द की व्याख्या करते हुये 'विज्ञानभिक्षु'[2] ने यह मत व्यक्त किया है कि यह 'व्याप्ति' का ही दूसरा नाम है, अतः व्याप्ति ज्ञान से होने वाला व्यापक का ज्ञान अनुमान है। ईश्वरकृष्ण[3] लिंग से लिंगी के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। वाचस्पति मिश्र के मतानुसार व्याप्य - व्यापकभाव और पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही अनुमान है।[4]

योग मत :

पतंजलि के 'योगसूत्र' में अनुमान का लक्षण उपलब्ध नहीं होता किन्तु व्यास ने 'योगभाष्य' में अनुमान की परिभाषा इस प्रकार की है - 'अनुमान करने योग्य वस्तु का समान जातियों से युक्त करने वाला तथा भिन्न जातियों से पृथक करने वाला जो संबंध है, तद्विषयक निश्चायक वृत्ति को अनुमान कहते हैं।

बौद्ध मत :

दिंगनाग के अनुसार 'अविनाभाव सम्बन्ध के द्वारा "नान्तरीयक" का दर्शन ही अनुमान है'। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अभाव में कभी भी न रहना नान्तरीयक कहलाता है।

धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' में अनुमान का लक्षण यह किया है कि 'किसी सम्बन्धी के धर्म से धर्मी के विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुमान है'।

मीमांसा मत :

जैमिनि ने अनुमान का लक्षण नहीं किया है। शबरस्वामी द्वारा प्रस्तुत लक्षण इस प्रकार है :-

---

1- प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् - सांख्यसूत्र 1-100.

2- सां० प्र० भा०, पृष्ठ 53.

3- सांख्यकारिका - 5

4- सांख्यतत्वकौमुदी, कारिका 5.

अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्य एकदेशदर्शनात् एक देशान्तरे असन्निकृष्टे अर्थे बुद्धिः'[1]।

नैयायिकों ने शबर की परिभाषा की आलोचना की है।

वेदान्त मत :

धर्मराजाध्वरीन्द्र[2] के अनुसार ज्ञाप्तिज्ञानत्व धर्म से अवच्छिन्न व्याप्तिज्ञान द्वारा उत्पन्न होने वाली अनुमिति है, जैसे कि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस उदाहरण में धूम को 'वह्निव्याप्य' कहा गया है, क्योंकि धूम में वह्नि की व्याप्ति रहती है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार अनुमान की प्रक्रिया में प्रथमतः पक्ष में हेतु के ज्ञान से महानस आदि में ग्रहण किया हुआ व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्बुद्ध होता है, उसके उपरान्त व्याप्ति के स्मरण से अनुमिति होती है। पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ तो अनुमिति नहीं हो सकती।

उपरोक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि अनुमान की परिभाषाओं के संदर्भ में विभिन्न दर्शनों के आचार्यों ने जो मत व्यक्त किये हैं, उसमे कतिपय पहलूओं में वैषम्य होने पर भी इस बात पर सहमति है कि अनुमान के लिये व्याप्ति और पक्षधर्मता का ज्ञान आवश्यक है।

इस प्रकार सभी परिभाषाओं के सार रूप में यह कहा जा सकता है कि 'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति और उसके करण को 'अनुमान' कहते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि अनुमान के लिये व्याप्ति और पक्षधर्मता का ज्ञान आवश्यक है, अतः अब व्याप्ति और पक्षधर्मता का निरूपण किया जा रहा है :-

---

1- शबरभाष्य - 1/1/5.

2- वेदान्तपरिभाषा - 'अनुमितिकरणमनुमानम्, अनुमितिश्च व्याप्ति - ज्ञानत्वेन व्याप्ति ज्ञानजन्या अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानम्, तत्संस्कारोऽवान्तर व्यापारः न तु तृतीय लिङ्गपरामर्शोऽनुमितिः करणम्। हेतुत्वासिद्धया तत्करणत्वस्य दूरनिरस्त त्वात्।'

व्याप्ति :

उपरोक्त विवरण में अनेक स्थलों पर 'व्याप्ति' और 'व्याप्य' पद का प्रयोग किया गया है, अतः इसके विषय में ज्ञान होना आवश्यक है। 'व्याप्ति के आश्रय को व्याप्य' कहते हैं। व्याप्ति का लक्षणपूर्वक विवेचन अब किया जा रहा है।

जहाँ तक 'व्याप्ति' के लक्षण का प्रश्न है तो इसका लक्षण 'न्यायसूत्रों' में तो नहीं मिलता। न्याय - वैशेषिक साहित्य में 'व्याप्ति' शब्द का सर्वप्रथम 'न्यायवार्तिक'[1] में आता है, किन्तु यहां भी विस्तृत रूप से व्याप्ति के स्वरूप का विवेचन नहीं किया गया है।

अब प्रकरण ग्रन्थों के आधार पर व्याप्ति के लक्षण का निरूपण किया जा रहा है :-

व्याप्ति का लक्षण है 'साहचर्य नियम' तथा व्याप्ति का उदाहरण है - जहाँ - जहाँ धूआँ है, वहाँ-वहाँ वह्नि है। जैसा कि तर्कसंग्रहकार तथा तर्कभाषाकार ने कहा है कि 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः इति साहचर्य नियमो व्याप्तिः' तार्किकरक्षाकार ने 'व्याप्ति' के संबंध में मात्र इतना ही कहा है कि 'व्याप्तिः संबंधो निरूपाधिकः' जबकि तर्ककौमुदीकार ने व्याप्ति का लक्षण' अव्यभिचरित साध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः' तथा तर्कामृतकार ने 'हेतु सामानाधिकरणां त्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिश्च' किया है, तात्पर्य यह है कि हेतु के अधिकरण में रहने वाला जो अत्यन्ताभाव है, उसका अप्रतियोगी जो साध्य है, उस साध्य के साथ हेतु का सामानाधिकरण्य है, उसको व्याप्ति कहते हैं, किन्तु कारिकावलीकार ने 'व्याप्ति का लक्षण कुछ भिन्न प्रकार से किया है, इन्होंने व्याप्ति के लक्षण दो प्रकार से किये हैं :-

प्रथम लक्षण :

'व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः' अर्थात् साध्य के अधिकरण से अन्य में हेतु के असम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

1- न्यायवार्तिक - 1/1/5.

द्वितीय लक्षण:

'अथवा हेतुमन्निष्ठाविरहा प्रतियोगिना साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरूच्यते' अर्थात् हेतु के अधिकरण में रहने वाला जो अभाव, उसका अप्रतियोगी जो साध्य, उसके साथ हेतु के समानाधिकरण अर्थात एक अधिकरण में रहने को 'व्याप्ति' कहते हैं।

इस प्रकार इन सभी ग्रन्थकारों के लक्षणों का समन्वय करके उनके सार रूप में यह कहा जा सकता है कि नैयायिकों के अनुसार 'हेतु और साध्य का नियत साहचर्य ही व्याप्ति है।'

यह तो न्याय 'वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों के आधार पर व्याप्ति का लक्षण किया गया , अब अन्य दर्शनों के अनुसार किये गये लक्षणों का विवेचन किया जा रहा है :-

सांख्यसूत्रकार के अनुसार साध्य के साथ साध्य साधन दोनों का अथवा साधनमात्र का जो नियम व्यभिचार शून्य साहचर्य है, उसी को 'व्याप्ति' कहते हैं।[1]

योगसूत्र में व्याप्ति का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार व्यास ने संबंध के रूप में व्याप्ति की चर्चा की है। उनके मतानुसार - जो अनुमेय के साथ समानजातीय पदार्थों में अनुवृत्त एवं भिन्न जातीय पदार्थों से व्यावृत्त हों, उसे सम्बन्ध कहा जाता है।[2]

प्रभाकर के मतानुसार नियत तथा अव्यभिचरित कार्यकारणभाव आदि संबंध ही व्याप्ति है।'

वेदान्तमतानुसार धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार 'अशेष साधनों के अधिकरण में रहने वाले साध्य के साथ हेतु का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है।'

बौद्धों ने व्याप्ति लिये 'अविनाभाव' शब्द का प्रयोग किया है जैन दार्शनिकों

1- सांख्यसूत्र - 5/26, 27.

2- योगभाष्य - 'अनुमेयस्य तुल्य जातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृतः संबंधः ।'

ने भी 'अविनाभाव' को ही व्याप्ति माना है। 'अविनाभव' का अर्थ है - साध्य के अभावीय स्थलों में हेतु की सत्ता न होना ।

इस प्रकार अब तक तो 'व्याप्ति' का लक्षण किया जा रहा था, किन्तु अब 'व्याप्ति' शब्द के सामान्य अर्थ को समझना भी अत्यावश्यक है, अतः अब 'व्याप्ति' शब्द का अर्थ समझाया जा रहा है :-

'वि' और 'आप्ति' के योग से निष्पन्न 'व्याप्ति' शब्द का सामान्य अर्थ है विशेष सम्बन्ध । यहाँ 'विशेष' का आशय है नियत' । अनुमान के तीन अंग हैं:- हेतु, पक्ष और साध्य । हेतु और साध्य के बीच अनिवार्य संबंध को व्याप्ति तथा पक्ष और हेतु के सामंजस्य को पक्षधर्मता कहा जाता है। पक्ष धर्मता का बोध होने पर भी जब तक व्याप्ति ज्ञान नहीं होता, तब तक अनुमान नहीं हो सकता।

व्याप्ति के विषय में यह कहा जा सकता है कि व्याप्ति दो वस्तुओं के एस पारस्परिक संबंध का नाम है, जो अविच्छेद, अनिवार्य तथा स्थायी हो, जिन दो वस्तुओं में व्याप्ति होती है, उनमें से एक व्यापक और दूसरा व्याप्त होता है, जिसकी व्याप्ति होती है, वह व्यापक और जिसमें व्याप्ति रहती है, वह व्याप्य कहलाता है। जिन वस्तुओं का साहचर्य नियत न हो, उसमें व्याप्ति नहीं हो सकती ।

वैसे व्याप्ति के पर्याय रूप में अन्य शब्दों का भी प्रयोग दार्शनिकों ने किया है, जैसे - लिंगलिंगिसम्बन्ध, गमकभाव, साध्यसाधनभाव, अविनाभाव नियम, प्रसिद्धि, प्रतिबन्ध, साध्याविनाभाव, नान्तरीयक, अन्यथानुपपत्ति अन्यथानुपपन्नत्व किन्तु इन अन्य शब्दों की अपेक्षा 'व्याप्ति' शब्द का ही अधिक प्रयोग मिलता है।

यह तो व्याप्ति के स्वरूप एवं लक्षणों का विवेचन किया गया । अब व्याप्ति के भेदों का निरूपण किया जा रहा है।

व्याप्ति भेद :- व्याप्ति दो प्रकार की होती है :-

1- अन्वय व्याप्ति 2- व्यतिरेक व्याप्ति ।

अन्वय व्याप्ति वह है, जहाँ साध्य, हेतु के साथ नियत रूप में सहचर हो। व्याप्ति का दूसरा भेद है- व्यतिरेक व्याप्ति। प्रत्येक अन्वय व्याप्ति की व्यतिरेक व्याप्ति अवश्य होती है, क्योंकि यदि हेतु और साध्य में व्याप्य - व्यापक भाव हो तो उनके अभाव में भी इससे विपरीत क्रम में व्याप्य-व्यापक भाव होगा। उदाहरणत यदि यह कहा जा सकता है कि जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ वह्नि है तो यह भी कहना ठीक होगा कि 'जहाँ जहाँ वह्नि का अभाव है, वहाँ वहाँ धूम का भी अभाव है। इस उदाहरण में व्यतिरेक व्याप्ति और अन्वय व्याप्ति का भेद स्पष्ट ही है। अन्वय व्याप्ति में साध्य, व्यापक है, हेतु व्याप्य, जबकि व्यतिरेक व्याप्ति में हेत्वाभाव व्यापक है और साध्याभाव व्याप्य । व्यतिरेक व्याप्ति वस्तुतः कोई स्वतंत्र चीज नहीं है, प्रत्युत अन्वय का ही दूसरा रूप है। अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति का संबंध, इस रूप में प्रकट किया जा सकता है। अन्वयव्याप्ति है - 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान । व्यतिरेक व्याप्ति है । 'यो या वह्नियभाववान सस धूमाभाववान्' इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति, अन्वय व्याप्ति को ही दूसरी भाषा में कहती है, किन्तु केवल - व्यतिरेकी अनुमानों में व्यतिरेक व्याप्ति ही काम आती है, अतः इसे पृथक माना गया है।

अनुमान के दो अंग माने गये हैं :- व्याप्ति और पक्षधर्मता[1] । अभी तक व्याप्ति का निरूपण किया जा रहा था, अब अनुमान के द्वितीय अंग 'पक्षधर्मता' का निरूपण किया जा रहा है :-

पक्षधर्मता :

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि अनुमान के दो मुख्य आधार हैं 1- व्याप्ति और 2- पक्षधर्मता । व्याप्ति का निरूपण पूर्व किया ही जा चुका है कि व्याप्ति ज्ञान द्वारा साध्य और साधन की नियम सम्बद्धता का सामान्य बोध होता है.

साध्य की पक्षधर्मता, हेतु की पक्षधर्मता के आधार पर सिद्ध होती है, अतः यह कहा जा सकता है कि व्याप्ति ज्ञान द्वारा साध्य सामान्य का निश्चय होता है,

जबकि पक्षधर्मता द्वारा साध्यविशेष की सिद्धि की जाती है। अतः पक्षधर्मता का अर्थ है - पक्ष में व्याप्ति विशिष्ट हेतु का रहना ।

जैन दार्शनिकों ने 'पक्षधर्मता' को स्वीकार नहीं किया है, जैनों का यह कथन है कि केवल अविनाभाव के आधार पर ही हेतु द्वारा साध्य का निश्चय हो जाता है, उसके लिये पक्षधर्मता को मानने की आवश्यकता नही है, खन्डन-खण्डखाद्य और तत्वप्रदीपिका में भी पक्षधर्मता का खण्डन किया गया है, किन्तु नैयायिक इसे अनुमान का एक आवश्यक अंग स्वीकार करते हैं ।

पक्षता :

'पक्षता' का लक्षण 'तर्कामृतकार' ने सिषाधयिषाविरह सहकृतसिद्धयभावः' किया है (अर्थात सिषाधयित्रा) अनुमिति की इच्छा के विह (अभाव) से विशिष्ट जो सिद्धि, उसका अभाव ही पक्षता है।

कारिकावलीकार विश्वनाथ ने 'पक्षता' को इस प्रकार समझाया है :-

सिषाधयिषा शून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते ।
स पक्षस्तत्र वृतित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् ।।

अर्थात सिषाधयिषा (अनुमिति की इच्छा से) शून्य (विरहित) सिद्धि जहाँ नहीं है, वही पक्ष है वहाँ ही व्याप्त के अर्थात् धूम आदि के वृत्तिता के रहने के ज्ञान से अनुमिति होती है। इस लक्षण को स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है कि जिस जिस रूप की सिषाधयिषा के और सिद्धि के रहने पर, जिस हेतु द्वारा अनुमिति होती है, उस उस रूप का सिषाधयिषा विरह विशिष्टसिद्धयभाव, उस हेतु द्वारा होने वाली अनुमिति में पक्षता है। जैसे 'पर्वते बह्नयनुमितिर्मेजायताम्' इस सिषाधयिषा के रहने पर वह्नि की सिद्धि रहने पर भी जिस धूम को हेतु मानकर 'पर्वतो वह्निमान' यह अनुमति होती है, उस 'पर्वत वह्नयमनुमितिर्मे जायताम्' इस सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धयभाव को धूमलिंगक अनुमति में पक्षता मानते हैं।

'पक्षता' का लक्षण सरल भाषा में यह किया जा सकता है कि 'साध्य सन्देहः पक्षता' अर्थात साध्य के विषय में जो सन्देह है, वही पक्षता है। जब कि पर्वत में

'वह्निः अस्तिन वा' यह सन्देह बना रहता है, तब तक पर्वत पक्षता सम्पन्न है, परन्तु जब एक बार किसी प्रमाण से 'पर्वत वह्निमान्' यह निश्चय हो जाता है, तब पर्वत पक्षता - शून्य हो जाता है, अतएव उसमें पुनः 'वह्निमान् यह अनुमिति नहीं होती है' ।

व्याप्ति के निरूपण में यह कहा गया है कि व्याप्ति, उपाधिरहित संबंध होता है। अतः अब 'उपाधि' का निरूपण किया जा रहा है :-

उपाधि :

केशवमिश्र[1] के अनुसार उपाधि का अर्थ है :- प्रयोजक या निमित्त साधन (जैसे धूम) और साध्य (जैसे अग्नि) में व्याप्ति के निश्चय के लिये उनका भूयः सहचार दर्शन ही पर्याप्त नहीं है। व्याप्ति निश्चय के लिये यह जानना भी अवश्यंक है कि साधन और साध्य का सम्बन्ध स्वाभाविक है या औपाधिक । यदि औपाधिक है तो व्याप्ति नहीं हो सकती अर्थात् भूयो दर्शन के साथ ही वहाँ उपाधि के अभाव का निश्चय भी होना चाहिये। उदाहरणतया मैत्री के चार पुत्रों में श्यामवर्ण को देखकर यदि कोई अनुमान करे कि उसका पाँचवा पुत्र भी श्याम वर्ण है, अर्थात ऐसी व्याप्ति बनाये कि 'यत्र-यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र-तत्र श्यामत्वम्' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ भूयो दर्शन होने पर भी उपाधि के अभाव का निश्चय नहीं हुआ है। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'श्यामत्व' का हेतु मैत्रीतनयत्व नहीं, अपितु प्रथम चार पुत्रों के गर्भधारण के समय मैत्री द्वारा हरेशाकादि का ग्रहण है। इस प्रकार 'शाकाद्यन्नपरिणति' ही श्यामत्व में प्रयोजक है, मैत्रीतनयत्व नहीं, अतः भूयः सहचार दर्शन होने पर भी, उपाधि के अस्तित्व के कारण 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्' ऐसी व्याप्ति नहीं हो सकती। उपाधि से युक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभाव कहलाता है।[1]

हेतु एवं उसके भेद :

हेतु अनुमान वाक्य का मुख्य आधार होता है। गौतम ने उदाहरण के सादृश्य के आधार पर साध्य के प्रतिपादन वाक्य को साधर्म्य हेतु और उदाहरण के वैसादृश्य

---

1. 'प्रयोजकश्चोपाधिः'--------तर्कभाषा

से साध्य के प्रतिपादक वाक्य को वैधर्म्य हेतु कहा है[1]।

इसकी व्याख्या करते हुये वात्स्यायन कहते हैं कि पक्ष में साध्य धर्म को जानकर तथा उदाहरण में उसी धर्म को देखकर प्रतिज्ञा की सिद्धि करने वाले वचन को 'हेतु' कहते हैं।

भेद .

गौतम ने हेतु के दो भेद बताये हैं :- साधर्म्य और वैधर्म्य । वात्स्यायन ने भी इन भेदों का समर्थन किया है किन्तु उद्योतकर ने अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी नाम से तीन हेतु - भेदों का उल्लेख किया है। न्याय-वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थकारों ने भी इन तीन भेदों को मान्यता दी है। अतः अब इन्हीं तीन भेदों का निरूपण किया जा रहा है :-

अन्वयव्यतिरेकी हेतु :

अन्वय एवं व्यतिरेकी दोनों प्रकार की व्याप्ति के उदाहरण जिस हेतु में प्राप्त हो सकें, उसको अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहा जाता है। उदाहरणः- पर्वत अग्नियुक्त है, धूमयुक्त होने से यहाँ 'अग्निमत्व' साध्य है और 'धूमवत्व' हेतु है। इस हेतु में अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों व्याप्तियों का समावेश है। अन्वय व्याप्ति जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे महानस में । व्यतिरेकी व्याप्ति जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं होता, जैसे महाहृद में।

यह अन्वय व्यतिरेक हेतु पंचरूपोपन्न होकर ही अपने साध्य की सिद्धि कर सकता है। एक भी रूप से रहित हो तो वह साध्य भी सिद्ध नहीं कर सकता। उपर्युक्त हेतु (धूम) की (1) पक्ष (पर्वत) पर सत्ता है, (2) सपक्ष (जैसे महानस) में भी सत्ता है और (3) विपक्ष (जैसे जलाशय) में असत्ता (व्यावृत्ति) है। इसके साथ ही (4) उसके साध्य (अग्निमत्व) का बाध नहीं हो रहा है और (5) उसका प्रतिपक्षी कोई हेतु भी नहीं है, अर्थात् साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला कोई दूसरा हेतु नहीं है।

---

1. न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका 1/1/34

इस प्रकार अन्वय व्यतिरेकी हेतु पक्ष, समक्ष, विपक्ष, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्ष इन पाँच रूपों से युक्त होकर ही अपने साध्य की सिद्धि कर सकता है। पक्ष, सपक्ष और विपक्ष का विवेचन आगे किया जायेगा।

केवलान्वयी :

केवलान्दयी हेतु वह होता है, जिसमें केवल अन्वय व्याप्ति हो, व्यतिरेक व्याप्ति नहीं। तात्पर्य यह है कि इस हेतु से सम्बद्ध व्याप्ति की पुष्टि के लिये विपक्षीय दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता। उदाहरण :- शब्द अभिधेय है, प्रमेय होने से । यहाँ शब्द का अभिधेयत्व साध्य है, और हेतु है 'प्रमेयत्व' । 'जो - जो प्रमेय है, वह - वह अभिधेय है' - इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति के लिये उदाहरण मिल जाता है, जैसे-घट, पट । किन्तु 'जो-जो अभिधेय नहीं होता, वह -वह प्रमेय भी नहीं होता' इस प्रकार से व्यतिरेक व्याप्ति की जावे तो उसका दृष्टान्त नहीं मिलता, क्योंकि संसार के सभी पदार्थ अभिधेय ही हैं।

केवलान्वयी हेतु चार रूपों से युक्त होता है। इसके लिये कोई विपक्ष नहीं मिलता अतः विपक्षत्यावृत्ति का लक्षण उस पर चरितार्थ नहीं होता। वह पक्षतत्व, सपक्षतत्व, अबाधिविषयत्व तथा असत्प्रतिपक्ष-इन चारों से युक्त होकर ही अपने साक्ष्य की सिद्धि कर देता है।

केवल व्यतिरेकी:

केवल व्यतिरेकी हेतु वह होता है, जिसमें केवल व्यतिरेक व्याप्ति हो, अन्वय व्याप्ति नहीं, कहने का आशय यह है कि इस हेतु से सम्बद्ध व्याप्ति की पुष्टि के लिये सपक्षीय दृष्टान्त नहीं मिलता।

उदाहरण:

जीवित शरीर सात्मक है, प्राणादि से युक्त होने के कारण, यहाँ हेतु है, 'प्राणादिमत्व' और साध्य है - जीवितशरीर की सात्मकता। यह हेतु जीवित शरीर में रहता है, अतः इसमें पक्षसत्व है, जीवित शरीरों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में प्राणादिमत्व

नहीं रहता, अतः हेतु में विपक्षासत्व है । साध्य (सात्मकत्व) का किसी अन्य प्रमाण से बाध नहीं होना, अतः इसमें अबाधितविषयत्व भी है । यहां साध्य के अभाव का साधक कोई दूसरा हेतु भी नहीं है, अतः प्रस्तुत हेतु असत्प्रतिपक्ष भी है। इस प्रकार हेतु के चार रूप तो इसमें विद्यमान हैं, केवल सपक्षासत्व नहीं है, क्योंकि जो भी सात्मक है, उन सबकी जीवित शरीरों में ही गणना होने के कारण, वे सब तो पक्ष के अन्तर्गत ही हैं। इसलिये यहां कोई भी सपक्ष नहीं है।

इस प्रकार यह हेतु भी पक्षसत्व, विपक्षासत्व असत्प्रतिपक्ष और अबाधित विषयत्व इन चार रूपों से युक्त होकर, अपने साध्य की सिद्धि कर देता है।

यह तो हेतु एवं उसके भेदों का निरूपण किया गया, अब पक्ष, सपक्ष और विपक्ष का लक्षण बताया जा रहा है:-

पक्ष :

पक्ष का लक्षण - 'तर्कभाषाकार' ने 'सन्दिग्ध साध्यधर्मा धर्मी पक्षः', तर्कामृतकार ने - 'यत्र साध्य-सन्देहः स पक्षः', तर्कसंग्रहकार ने - 'सन्दिग्ध साध्यवान् पक्षः', तार्किकरक्षाकार ने - 'साध्यान्वितो धर्मी पक्षः' ऐसा पक्ष का लक्षण किया है । अभिप्राय यह है कि जिसमें साध्य संदिग्ध हो वह पक्ष है । जैसे - धूमवत्व हेतु में पर्वत ।

सपक्ष :

सपक्ष का लक्षण - 'तर्कभाषाकार' ने 'निश्चितसाध्यधर्मा धर्मी सपक्षः', 'तर्कामृतकार' ने यत्र साध्यनिश्चयः, स सपक्षः', 'तर्कसंग्रहकार' ने 'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः', किया है। तथा तार्किकरक्षाकार ने 'साध्यजातीय धर्मवान् सपक्षः', किया है। तात्पर्य यह है कि जिसमें साध्य निश्चित हो, वह सपक्ष है, जैसे - उपर्युक्त उदाहरण में रसोईघर ।

विपक्ष :

विपक्ष का लक्षण 'तर्कभाषाकार' ने 'निश्चित साध्याभववान् धर्मी विपक्षः',

तर्कामृतकार ने 'यत्रसाध्याभाववान् विपक्ष' तथा तार्किकरक्षाकार ने 'विपक्षस्तु साध्यधर्मनिवृतिर मान्' किया है। तात्पर्य यह है कि यहां साध्य का अभाव निश्चित हो, वह विपक्ष है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में सरोवर ।

अबाधितविषयत्व :

इसका लक्षण केवल तर्ककौमुदीकार ने ही किया है। अन्य ग्रन्थकारों ने नहीं किया है। तर्ककौमुदी में इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है:- 'प्रमाणान्तरेणाप्रमितसाध्याभावकत्वमबाधितविषयत्वम्' अर्थात् साध्याभाववत् पक्ष को बाध तथा हेतु का बोध दोष से ग्रस्त न होना ही 'अबाधितविषयत्व' है।

असत्प्रतिपक्षत्वः

इसका लक्षण भी केवल तर्ककौमुदी में ही किया गया है, अन्य ग्रन्थों में नहीं तर्ककौमुदीकारं ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है :- 'साध्याभावसाधक हेत्वन्तरशून्यत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम्' । तात्पर्य यह है कि साध्य के विरोधि के साधक हेतु को सत्प्रतिपक्ष कहते हैं, तथा सत्प्रतिपक्ष दोष से ग्रस्त न होना ही असत्प्रतिपक्षत्व है।

पक्ष, सपक्ष आदि का विवेचन करने के पश्चात् अब अनुमान के भेदों का निरूपण किया जा रहा है।

अनुमान के भेद :

जहां तक अनुमान के भेदों का प्रश्न है तो इस विषय में प्रकरण ग्रन्थकारों में मतभेद है। 'तर्कभाषाकार' ने अनुमान के दो भेद माने है:- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान, 'तर्कसंग्रहकार' ने भी इन्हीं दो भेदों का समर्थन किया है, जबकि 'तर्कामृतकार' ने अनुमान के 'केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकि' भेद से तीन भेद माने हैं। तथा इन तीनों अनुमानों को भी दो प्रकार का बताया है:- स्वार्थ और परार्थ । इस प्रकार ये भी स्वार्थानुमान और परार्थानुमान तर्क अनुमान के भेदों का समर्थन करते हैं।

तार्किकरक्षाकार इन सभी से भिन्न अनुमान के दो भेद मानते हैं :- दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट ।

यह तो न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों के ग्रन्थकारों के मतों का निरूपण किया गया अब गौतम तथा प्रशस्तपाद द्वारा प्रतिपादित अनुमान के भेदों के विष्य में बताया जा रहा है:-

गौतम के अनुसार अनुमान के भेद :

न्यायसूत्र में गौतम ने अनुमान के तीन भेद पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट के नाम तो बताये हैं, किन्तु उनके स्वरूप का निरूपण नहीं किया है, उनके स्वरूप का विवेचन वात्स्यायन ने अपने भाषा में किया है, अतः वात्स्यायन के अनुसार किया गया इनके स्वरूप का विवेचन अब किया जा रहा है:-

पूर्ववत् :

न्यायभाष्य में उल्लिखित पहली व्याख्या के अनुसार 'पूर्ववत्' का आशय है - कारण द्वारा कार्य का अनुमान, जैसे - मेघों का उमड़ना (पूर्व) देखकर पश्चाद्भावी वर्षा का अनुमान । यह व्याख्या 'पूर्व' शब्द का अर्थ 'कारण' मानकर और उसके साथ मतुप् (वाला) प्रत्यय जुड़ा हुआ मानकर की गयी है, जिससे इसका अर्थ निकलता है- पूर्व अर्थात कारणवाला । यहां ज्ञात कारण से अज्ञात कार्य का अनुमान होता है।

अथवा

वात्स्यायन द्वारा उल्लिखित दूसरी व्याख्या के अनुसार पूर्ववत् का अर्थ है - पूर्व अनुभव सहकृत सादृश्य के आधार पर किया हुआ अनुमान । जैसे - हमारी पूर्वानुभव है कि जहां - जहां धुआ देखा था, वहां आग भी थी । पहले पाकशाला में धुआं और फिर अग्नि दोनों के साथ साथ दर्शन किये । बाद में यदि कहीं पर केवल एक वस्तु (धुआं) को देखें तो अन्वयव्याप्ति के आधार पर यह अनुमान कर सकते हैं कि वहां पर दूसरी

(आग) भी होगी । इस प्रकार यहां पर 'पूर्व' का अर्थ है, पहले देखा हुआ (यथापूर्व) और 'वत्' का आशय है - समान ।

शेषवत् :

कार्य से कारण का अनुमान किया जाये तो, वह शेषवत् कहलाता है। जैसे - बाढ़ को देखकर (पूर्व) वृष्टि का अनुमान । कार्य कारण का पश्चाद्वर्ती होता है। अतः शेष पद से यहां कार्य का ग्रहण किया गया है। कार्य बाढ़ है और कारण पूर्ववृष्टि है।

वात्स्यायन ने 'शेषवत्' की दूसरी व्याख्या इस प्रकार की है- 'शेषवत्' का अर्थ है - परिशेष अर्थात् बचा हुआ । संभावित विषयों में से कुछ विषयों का निषेध होने पर और कुछ विषयों में प्रसंग की सम्भावना भी न होने से, जो शेष बच जाये वहीं शेषवत् अनुमान कहलाता है । जैसे, शब्द क्या है, इसके उत्तर के सम्बन्ध में अनेक विकल्प सम्भव हैं, जैसे - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय । किन्तु शब्द द्रव्य नहीं, क्योंकि द्रव्य अनेकाश्रित होता है, जबकि शब्द केवल आकाश का गुण है। शब्द, कर्म नहीं क्योंकि एक शब्द से, दूसरे शब्द की उत्पत्ति होती है, जबकि एक कर्म से दूसरे कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, उसमें केवल संयोग, वियोग करवाया जाता है। शब्द 'सामान्य' विशेष या समवाय नहीं है क्योंकि ये नित्य है, जबकि अनित्य है। अतः द्रव्य, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय की व्यावृत्ति होने के कारण यह अनुमान होता है कि शब्द गुण है, इसी को परिशेषानुमान भी कहते हैं।

सामान्यतोदृष्ट :

प्रथम व्याख्या के अनुसार जिन दो तथ्यों में नियत समभाव हो, उसमें से केवल एक का प्रत्यक्ष होने पर दूसरे का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट कहलाता है । जैसे - बिना चले एक व्यक्ति, एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता है। अतः जब हम सूर्य को सुबह एक स्थान पर और शाम को दूसरे स्थान पर देखते हैं तो यह अनुमान होता है कि

---

1. 'यत्रकारणेन कार्यमनुमीयते, यथा मेघोन्नत्या भविष्यतिवृष्टिरिति' - न्यायभाष्य-1/15.

सूर्य में भी गति है। स्थानान्तर प्राप्ति और गति के कार्य - कारण सम्बंध नहीं है, किन्तु इनमें नित्य सहभाव है । अतः सूर्य की स्थानान्तर प्राप्ति से सूर्य में गति का जो अनुमान है, वह सामान्यतोदृष्ट कहलाता है।

वात्स्यायन ने इसकी दूसरी व्याख्या यह की है कि - जहां साधन और साध्य का सम्बंध प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात न हो, किन्तु किसी अन्य विषय के साथ हेतु का सादृश्य रहने से अप्रत्यक्ष साध्य का अनुमान किया जाये, उसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है। जैसे - इच्छा और आत्मा का सम्बंध प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात नहीं होता, किन्तु इच्छा एक गुण है और गुण द्रव्य में ही रहता है। अत. यह कहा जा सकता है कि इच्छा आदि का आश्रय कोई न कोई द्रव्य अवश्य होगा, वही आत्मा है। इस प्रकार सामान्य सम्बंध के आधार पर किया जाने वाला आत्मा का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहला सकता है।

वैशेषिक मतानुसार अनुमान भेद :

जहां तक कणाद का प्रश्न है तो इन्होने अनुमान भेदों का विवेचन नहीं किया है। किन्तु प्रशस्तपाद ने दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट नाम से अनुमान के दो भेदों की विवेचना की है। प्रसिद्ध साध्य अर्थात् हेतु के साथ पहले से ही ज्ञात रहने वाला साध्य और साध्य की सिद्धि अभिप्रेत है, उनमें सजातीयता होने पर जो अनुमान किया जाता है, वह 'दृष्ट' अनुमान कहलाता है। इसे अन्य शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि यदि पक्ष और सपक्ष सजातीय हों तो वह अनुमान दृष्ट कहलाता है।

हेतु सामान्य और अनुमेय सामान्य की व्याप्ति के आधार पर जो अनुमान किया जाये वह 'सामान्यतोदृष्ट' कहलाता है। इसमें पक्ष और सपक्ष विसजातीय होते हैं।

प्रशस्तपाद द्वारा उल्लिखित इन अनुमान भेदों की विशेष चर्चा नहीं हुयी

शंकरमिश्र और शिवादित्य ने तो इनका उल्लेख भी नहीं किया । प्रशस्तपाद ने स्वयं ही स्वार्थ और परार्थ नाम से अनुमान के अन्य भेदों की चर्चा की।

अन्यमत :

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्व कौमुदी में अनुमान के 'वीत' और 'अवीत' नाम से दो भेद बताये हैं। बीत के अन्तर्गत पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट नाम से दो उपभेदों का परिगणन किया गया है, शेषवत् को ही अवीत कहा गया है।[1]

वेदान्तपरिभाषा में अनुमान के स्वार्थ और परार्थ दो भेद स्वीकार किये गये हैं। बौद्धों ने भी स्वार्थ और परार्थ के भेद से अनुमान दो प्रकार का माना है।

न्याय - वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में अनुमान भेद :

न्याय - वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थकारों ने अनुमान के भेदों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया है:-

1. स्वार्थानुमान और परार्थानुमान
2. अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी ।

इनमें से अन्वयवतिरेकी, केवल व्यतिरेकी और केवलान्वयि का निरुपण पूर्ण किया जा चुका है, अब स्वार्थानुमान और परार्थानुमान रूप अनुमान के भेदों का निरूपण किया जा रहा है -

स्वार्थानुमानः

अनुमान जो स्वीय अनुमिति का जनक होता है, स्वार्थानुमान कहलाता है।

---

1. अन्वयमुखेनप्रवर्तमानं विधायकं वीतम् व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकम् वीतम्। तत्रावीतं शेषवत् सांख्यतत्वकोमुदी।

तात्पर्य यह है कि जो अनुमान स्वतः अपने ज्ञान के लिये किया जाता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं । जैसे - महानस आदि में विशेष प्रत्यक्ष से स्वयं ही धूम और अग्नि की व्याप्ति को ग्रहण करके, पर्वत के समीप गया हुआ और पर्वतगत अग्नि के विषय में सन्देह करता हुआ, पर्वत पर विद्यमान अविच्छिन्न धूम - रेखा को देख, धूम के दर्शन से उद्बुद्ध संस्कार वाला पुरूष जहां धूम होता है, वहीं अग्नि होती है, इस व्याप्ति का स्मरण करता है, उसके बाद पर्वत में भी धूम है, इस प्रकार तृतीय बार पर्वत में वह्नि व्याप्य धूम को जानता है, इसलिये इस पर्वत में अग्नि है, यह जान लेता है, यही स्वार्थानुमान है।

परार्थानुमान :

परार्थानुमान, परकीय अनुमिति का जनक होता है। तात्पर्य यह है कि स्वार्थानुमान द्वारा जब धूम से अग्नि का ज्ञान प्राप्त करके कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को अनुमान के पंचावयवों का प्रयोग करते हुये अग्नि का बोध कराता है, तब वही अनुमान 'परार्थानुमान' हो जाता है।

अब यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि अनुमान के वे पांच अवयव क्या हैं, अतः इस शंका के समाधानार्थ अब अनुमान के पांच अवयवों का निरूपण किया जा रहा है।

अनुमान के अवयव :

अनुमान के पांच अवयव इस प्रकार है : प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन ।

प्रतिज्ञा:

'साध्यधर्मविशिष्ट पक्षप्रतिपादकं वचनं प्रतिज्ञा' ।

साध्य धर्म युक्त 'पक्ष' का प्रतिपादन करने वाला वचन प्रतिज्ञा कहलाता है तात्पर्य यह है कि पक्ष के साथ साध्य का सम्बन्ध बतलाना प्रतिज्ञा है, और ऐसी अभिव्यक्ति करने वाला वाक्यांश प्रतिज्ञा - वाक्य कहलाता है । जैसे - 'यह पर्वत बह्निनयुक्त है' इसमें पर्वत 'पक्ष' है, वह्नि 'साध्य' है । 'बह्निमान् पर्वत', इस रूप में साध्य - धर्म विशिष्ट 'पक्ष' का प्रतिपादक वचन होने से यह प्रतिज्ञा है।

हेतु :

'तृतीयान्तं पंचम्यन्तं वा लिंग प्रतिपादकं वचनं हेतु', 'अर्थात तृतीयान्त अथवा पन्चम्यन्त लिंग का प्रतिपादक वचन 'हेतु' अथवा व्याप्ति के आधार पर साध्य की सत्ता प्रमाणित करने वाला तत्व 'हेतु' है । इसके तीन रूप बताये जा चुके है - केवल व्यतिरेकी, केवलान्वयी और अन्वय व्यतिरेकी । केवल व्यतिरेकी हेतु की चार योगयतायें आवश्यक है - पक्ष में सत्ता, विपक्ष में अभाव, असत्प्रतिपक्षित और अबाधित विषय होना। केवलान्वयी की भी चार योग्यतायें आवश्यक है - पक्ष में सत्ता, सपक्ष में भी सत्ता, असत्प्रतिपक्षित तथा अबाधित विषय होना एवं तीसरे अन्वयव्यतिरेकी हेतु की भी सब मिलाकर पांच योग्यतायें आपेक्षित हैं । जैसे - धूमवत्वेन् अथवा धूमवत्वात् 'हेतु' है।

उदाहरण :

'सव्याप्तिंक दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्' अर्थात व्याप्ति सहित दृष्टान्त का केथन 'उदाहरण' है, जो - धूमयुक्त होता है, वह अग्नियुक्त होता है, जैसे महानस

उपनय :

पक्ष में (पर्वतादि में) लिंग का उपसंहार कथन करना 'उपनय' कहलाता है । अन्य शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि दृष्टान्त की स्थिति से पक्ष

की स्थिति की तुलना करना उपनय है । जैसे - 'यह पर्वत बह्नि के व्याप्य धूम से युक्त है अथवा और यह पर्वत वैसा अर्थात् महानस के समान धूमवान् है।

निगमन :

पक्ष में साध्य (बह्नि) का उपसंहार कथन करना 'निगमन' है, अथवा अन्य शब्दों में प्रतिज्ञा - वाक्य का उपसंहार निगमन' है, जैसे - इसलिये पर्वत् अग्निमान् है' अथवा 'पर्वत वैसा अग्निमान् है।'

यह प्रतिज्ञा आदि पांच अनुमान वाक्य के अवयव के समान होने से अवयव कहलाते हैं।

'अनुमान वाक्यस्यैकदेशा अवयवा: 'अर्थात अनुमान वाक्य के एकदेश अवयव कहलाते है', यह अवयवों का लक्षण किया गया है।

अन्य दर्शनों के अवयव विषयक मत :

न्याय और वैशेषिक दोनों में परार्थानुमान के पांच अवयव माने गये हैं, परन्तु वैशेषिक दर्शन में उनके नाम - प्रतिज्ञा, उपदेश, निदर्शन, अनुसंधान और प्रत्याम्नाय रखे गये हैं, किन्तु अन्य दर्शनों में अवयवों के प्रयोग के सम्बंध में मतभेद है:-

बौद्ध दार्शनिक केवल एक हेतु का, अथवा अधिक से अधिक हेतु और दृष्टान्त दो का ही प्रयोग आवश्यक है, ऐसा मानते है।

सांख्यकरिका की माठरवृत्ति के अनुसार सांख्य दर्शन में प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण इन तीन अवयवों का ही प्रयोग माना गया है।

मीमांसक तीन अवयव ही मानते हैं, इन तीन अवयवों के भी दो प्रकार हो सकते हैं, उदाहरणपर्यन्त अथवा उदाहरणादिक । उदाहरणपर्यन्त तीन का अर्थ प्रतिज्ञा,

हेतु तथा उदाहरण यह तीन होगा और उदाहरणादिक तीन का अर्थ उदाहरण, उपनय और निगमन यह तीन होगा ।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि न्याय और वैशेषिक ये पांच अवयवों के प्रयोग को परार्थानुमान के लिये आवश्यक मानते हैं, जबकि सांख्य और मीमांसक तीन अवयवों के प्रयोग को आवश्यक मानते हैं ।

हेत्वाभास

हेतु का पूर्ण ज्ञान हेत्वाभास के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। इसलिये हेत्वाभास की व्याख्या विस्तार के साथ न्याय दर्शन में की गयी है। 'हेतुवत् आभासन्ते इति हेत्वाभासः' इस व्युत्पत्ति से दोष युक्त हेतु' और 'हेतोराभासाः' इस व्युत्पत्ति से 'हेतु के दोष' हेत्वाभास शब्द का अर्थ होता है। प्राचीन नैयायिक दुष्ट हेतु वाचक हेत्वाभास की और नवीन नैयायिक हेतु - दोष वाचक हेत्वाभास की व्याख्या करते हैं ।

हेत्वाभास की संख्या के विषय में न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में मतभेद है।

न्याय में मान्य हेत्वाभास :

अनैकान्तिक, असिद्ध, विरूद्ध, सत्प्रतिपक्ष और बाधित, ये पांच हेत्वाभास न्याय दर्शन मानता है।

वैशेषिक में मान्य हेत्वाभास :

असिद्ध, विरूद्ध, अनैकान्तिक तथा अनध्यवसित ये चार हेत्वाभास वैशेषिक मानता है।

न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में मान्य हेत्वाभास :

इन ग्रन्थकारों ने न्याय में मान्य पांच हेत्वाभासों को ही स्वीकार किया है, भले ही उनके नामों में भिन्नता है :-

1. सव्यभिचार अथवा अनैकान्तिक ।
2. विरूद्ध

3. असिद्ध अथवा साध्यसम ।

4. प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष ।

5. अतीतकाल अथवा कालात्ययापदिष्ट अथवा बाधित ।

अब इन्हीं पांच हेत्वाभासों का निरूपण किया जा रहा है:-

अनेकान्तिक :

'सव्यभिचारोऽनेकान्तिक:' सव्यभिचार को अनेकान्तिक कहते हैं । तर्कभाषाकार ने इसके दो भेद माने हैं : साधारण और असाधारण, जबकि तर्कसंग्रहकार तर्कामृतकार, तर्ककौमुदीकार तथा कारिकावलीकार ने इसके तीन भेद माने हैं :-
साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी।

साधारण अनेकान्तिक

साध्य के अभाव में रहने वाला हेतु साधारण अनेकान्तिक है । यह पक्ष, सपक्ष और विपक्ष इन तीनों में रहता है, जैसे - 'पर्वत वह्निमान् है' क्योंकि वह प्रमेय है, यहां प्रमेयत्व बह्नि के अभाव वाले सरोवर में भी रहता है, अतः वह साधारण अनेकान्तिक है।

असाधारण अनेकान्तिक :

जो केवल पक्ष में रहे और न किसी सपक्ष में रहे, न किसी विपक्ष में वह असाधारण है । जैसे - 'शब्द नित्य है, शब्दत्व के कारण' यहां शब्दत्व नित्य और अनित्य दोनों में ही न रहकर केवल शब्द में रहता है।

अनुपसंहारी अनेकान्तिक :

जिसका अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त न हो, वह अनुपसंहारी है, जैसे -

'सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति' अर्थात 'सब अनित्य है, प्रमेयत्व के कारण' यहां सभी पक्ष है, इसलिये दृष्टान्त नहीं है।

(2) विरूद्ध :

साध्य के विपर्यय के साथ व्याप्त हेतु 'विरूद्ध' हेत्वाभास है । विरूद्ध का अर्थ है' जो साध्य के अभाव के साथ व्याप्त हो' उदाहरणतः शब्द नित्य है, कृतक (जन्य) होने से, आत्मा के समान । यहां कृतकत्व हेतु, साध्य नित्यवत्व के विपरीत अनित्यत्व के साथ व्याप्त है । जो कृतक है, वह अनित्य ही है, नित्य नहीं । इसलिये कृतकत्व हेतु विरूद्ध हेत्वाभास ही है।

असिद्ध :

इसे 'साध्यसम' भी कहा जाता है। इस असिद्ध हेत्वाभास के तीन भेद माने गये है।:-

आश्रयासिद्ध, स्वारूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध ।

आश्रयासिद्ध :

इसका लक्षण है 'यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः' किया गया है। जिस हेतु का आश्रय अर्थात पक्ष न हो, उसको 'आश्रयासिद्ध' कहते हैं। जैसे - आकाश कमल सुगन्धित होता है, कमल होने से, सरोजकमल के समान । इस अनुमान में आकाश कमल आश्रय है और वह वस्तुतः है ही नहीं, अतः आश्रय अर्थात पक्ष के न होने से 'अरविन्दत्वात्' हेतु आश्रयासिद्ध नामक हेत्वाभास है।

स्वरूपासिद्ध :

इसका लक्षण है 'यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः' अर्थात जो हेतु आश्रय में न पाया जाये उसको स्वरूपासिद्ध कहते हैं। जैसे - शब्द अनित्य है, पक्ष

से ग्राह्य होने से, घट के समान । यहां चाक्षपत्त्व हेतु है और वह आश्रय या पक्ष रूप शब्द में नहीं रहता । उस शब्द के श्रावण अर्थात श्रोत्रग्राह्य होने से, अतः यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

व्याप्यत्वासिद्ध :

जिसकी व्याप्ति सिद्ध न हो, उसे व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है - एक व्याप्तिग्राहक प्रमाण का अभाव होने से और दूसरा उपाधि का सद्भाव होने से । इनमें से प्रथम व्याप्तिग्राहक प्रमाण का अभाव का उदाहरण है · जैसे शब्द क्षणिक है सत् होने से । जो सत् होता है, वह क्षणिक होता है, जैसे मेघसमूह। शब्द भी मेघसमूह के समान सत् ही है और यहां जो सत है,वह क्षणिक होता है, यह सत्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति बनती है, परन्तु इस सत्व तथा क्षणिकत्व की व्याप्तिका ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये व्याप्ति ग्राहक प्रमाण के अभाव में यह सत्व हेतु व्याप्तत्वासिद्ध हेत्वाभास होना है।

दूसरा उपाधि का सदभाव होने से। जैसे- यज्ञ के मध्य में की गयी हिंसा अधर्मजनिका है, हिंसा होने से, यज्ञ के बाहर की गयी, हिंसा के समान । अधर्मसाधनत्व में हिंसात्व प्रयोजक नहीं है, यज्ञ के बाहर की गयी हिंसा के समान। यहां अधर्मसाधनत्व में हिंसात्व प्रयोजक नहीं है, किन्तु निषिद्धत्व ही प्रयोजक है और प्रयोजक को ही उपाधि कहते है, अत. वह निष्द्धित्व ही उपाधि है। इस प्रकार निषिद्धत्व उपाधि के विद्यमान होने से निषिद्धत्व प्रयुक्त व्याप्ति के आश्रित रहने वाला हिंसात्व हेतु 'व्याप्यत्वासिद्ध' ही है।

प्रकरणसम :

इसको 'सत्प्रतिपक्ष' भी कहते हैं। जिस हेतु के साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु है, वह सत्प्रतिपक्ष है अथवा जिस हेतु के साध्य के विपरीत का साधक, दूसरा हेतु विद्यमान है, वही प्रकरणसम हेत्वाभास कहलाता है। वह जैसे-

'शब्द अनित्य है, नित्य धर्म से रहित होने से 'यह एक अनुमान है, उसके विपरीत शब्द को नित्य सिद्ध करने वाला और उसका तुल्यवल विरोधी दूसरा अनुमान है, 'शब्द नित्य है, अनित्य धर्म से रहित होने से।' यही प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष कहलाता है।

बाधित विषय हेत्वाभासः

जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से निश्चित हो, वह हेतु बाधित है। इसे 'कालात्ययापदिष्ट' हेत्वाभास भी कहते है, जैसे - अग्नि अनुष्ण है, कृतक (जन्य) होने से, जल के समान । यहां कृतकत्व हेतु का साध्य अनुष्णत्व, उसका अभाव (अर्थात उष्णत्व का अग्नि रूप पक्ष में) प्रत्यक्ष प्रमाण से ही निश्चित हो चुका है, स्पार्शन प्रत्यक्ष से ही उष्णत्व का ग्रहण होने से। अतः यह बाधित विषय नामक हेत्वाभास है।

xxxx

(तृतीय - अध्याय)

(क) उपमान प्रमाण

(ख) शब्द प्रमाण

तृतीय अध्याय

(क) उपमान प्रमाण :

नैयायिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों में 'उपमान' तृतीय प्रमाण है, इसे भासर्वज्ञ को छोड़कर गौतम से लेकर, उत्तरकालीन नैयायिकों जैसे केशवमिश्र, अन्नम्भट्ट, विश्वनाथ आदि अनेक विद्वानों तथा अनेक टीकाकारों ने स्वीकार किया है, यद्यपि वैशेषिक दर्शन के प्रणेताकणाद ने उपमान प्रमाण को पृथक प्रमाण नहीं माना है, और उसका अन्तर्भाव अनुमान में ही किया है, किन्तु जब न्याय वैशेषिक के सिद्धान्तों का समन्वय किया गया, तब से उन समन्वित ग्रन्थों में यह प्रमाण भी स्वीकृत हो गया। न्याय वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों, यथा - तार्किकरक्षा, तर्कभाषा, तर्ककौमुदी, तर्कामृत, तर्कसंग्रह तथा कारिकावली में 'उपमान प्रमाण' का स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन किया गया है। यह तो न्याय वैशेषिक सम्बंधी मत हुआ, किन्तु अब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि अन्य दर्शनों के उपमान विषायक मत क्या हैं? अब अन्य दर्शनों के उपमान विषयक मतों का निरूपण किया जा रहा है।

वेदान्त[1] और मीमांसा[2] दर्शन भी 'उपमान प्रमाण' को मानता है, किन्तु उनके मत में न्यायमत से कुछ भिन्नता है, यह ये कि वेदान्ती और मीमांसक सादृश्य ज्ञान के कारण को उपमान प्रमाण मानते हुये, 'गो नीलगाय के सदृश्य होती है' इस ज्ञान को फल मानते हैं, जबकि नैयायिक संज्ञा संज्ञी सम्बंध को अर्थात' यह पिण्ड गवय पद वाच्य है 'इसे फल मानते हैं।

अब कुछ दर्शन ऐसे हैं, जिनमें उपमान प्रमाण की पृथक ही स्वीकार नहीं की गयी है, यथा - बोद्ध, चार्वाक, सांख्य आदि । सांख्यतत्व कौमुदीकार ने 'उपमान' प्रमाण का आगम में अन्तर्भाव किया है। वैशेषिकों ने उपमान का अन्तर्भाव अनुमान

---

1. वेदान्त परिभाषा - पृ0 163
2. शास्त्रदीपिका - पृ0 76

में किया है, बौद्धों तथा सांख्य मत के विद्वान वाचस्पति ने उपमान का अन्तर्भाव, प्रत्यक्ष में किया है ।

किन्तु नैयायिको ने इन मतों का खण्डन करते हुये उपमान प्रमाण की पृथक सत्ता स्वीकार की है। उपमान की पृथक सत्ता उसके स्वरूप - ज्ञान के बिना नहीं सिद्ध हो सकती, अतः अब उपमान का लक्षण तथा भेदपूर्वक विवेचन किया जा रहा है :-

लक्षण :

अब जहां तक उपमान के स्वरूप का प्रश्न है तो वह इसकी व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट होता है कि 'उपमीयते अनेन इति उपमानम्' अर्थात उपमा अथवा सादृश्य के आधार पर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसे 'उपमिति' कहते हैं, और जिस साधन के द्वारा उपमिति की जाती है, उसे 'उपमान प्रमाण' कहते हैं, जैसा कि तर्क संग्रह, तर्कामृत तथा तर्ककौमुदी में उपमान का लक्षण बताते हुये 'उपमति कारणमुपमानम्' अर्थात उपमिति के के कारण को ही उपमान प्रमाण कहा गया है। किन्तु तार्किक रक्षा में उपमान का लक्षण 'प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञानमुपमानमिहोच्यते' तथा कारिकावली में 'सादृश्यज्ञानकरणकं ज्ञानंमुपमितिः' ऐसा किया गया है कि जबकि केशवमिश्र ने तर्कभाषा में उपमान का मन से अधिक परिष्कृत लक्षण किया है कि :- 'अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गो साद्दश्य विशिष्ट पिण्डज्ञानमुपामानम्' अर्थात् अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ, गो की समानता से युक्त पिण्ड का ज्ञान ही उपमान प्रमाण है। इस लक्षण को समझने के लिये 'अतिदेश वाक्य' के अर्थ को जानना अत्यावश्यक है। तर्कभाषा के टीकाकार चिन्नम्भट्ट ने 'अतिदेश' शब्द का विग्रह इस प्रकार किया है कि 'अतिदिश्यते प्रतिपाद्यतेडनेन् साधर्म्यादिः इति अतिदेशः' अर्थात् अतिदेश वाक्य का अर्थ है, समानता आदि बताने वाला वाक्य अतिदेश वाक्य का लक्षण 'एकस्य श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्धः अन्यधर्मस्यान्यत्रारोपण' भी किया गया है, अभिप्राय यह है कि वह वाक्य अतिदेश वाक्य कहलाता है, जिसके द्वारा एक पदार्थ के धर्म का दूसरे में सम्बन्ध दिखलाया जाता है, जैसे - 'यथा गौस्तथागवतयः' यह वाक्य गौ के धर्म को गव्य में बताता है, अतः यह अतिदेश वाक्य है, इस प्रकार यह वाक्य भी उपमान प्रमाण का एक अंग होता है।

अब गौतम द्वारा प्रतिपादित 'उपमान' का लक्षण बताया जा रहा है। गौतम ने 'न्यायसूत्र' 1/1/6 में प्रसिद्धसाधर्म्यात साध्यसाधनमुपमानम' यह उपमान का लक्षण किया है, अर्थात प्रसिद्ध साधर्म्य के आधार पर साध्य के साधन को उपमान प्रमाण कहते हैं। इसी लक्षण को और अधिक स्पष्ट करते हुये भाष्यकार ने 'ज्ञातवस्तु के साम्य के आधार पर ज्ञापनीय वस्तु का ज्ञान कराना ही 'उपमान है, ऐसा कहा है।

इस प्रकार संक्षेप् में साद्दश्य ज्ञान जिसका कारण है, वह उपमिति है और उस उपमिति का कारण ही उपमान प्रमाण है।

गवय को न जानने वाला पुरूष, जब किसी आरण्यक पुरूष से 'जैसी गाय होती है, वैसा ही गवय होता है' यह वाक्य सुनता है, और वन में जब वह जाता है तो वाक्यार्थ का स्मरण करते हुये, गाय के समान किसी पशु विशेष को देखता है, तब वाक्यार्थ के स्मरण सहित, उस गो साद्दश्य विशिष्ट पिण्ड का ज्ञान उपमिति का कारण होने से उपमान प्रमाण है। 'गाय के समान विशिष्ट पिण्ड वाला है' ऐसा ज्ञान होने के बाद 'यह पिण्ड ही गवय है' इस प्रकार की संज्ञा - संज्ञिसम्बंध की प्रतीति' उपमिति' है, यही उपमान प्रमाण का फल है।

उपरोक्त प्रक्रिया का यदि विश्लेषण किया जाये, तो यह स्पष्ट होगा कि 'उपमान की इस प्रक्रिया ' के तीन चरण है:-

1. गो सद्दश पशु विशेष का ज्ञान ।
2. अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण
3. गौ सद्दश पशु विशेष गवय पद वाच्य है, इस प्रकार की प्रतीति

इसमें से प्रथम दो को उपमान तथा तृतीय को उपमिति कहा जा सकता है। विश्वनाथ, अन्नभट्ट तथा लौगाक्षिभास्कर ने उपमान के कारण व्यापार तथा फल को इस प्रकार बताया है :-

सर्वप्रथम गवय को देखते समय ग्रामीण के मन में जो गौ के साथ साद्दश्य ज्ञान होता है, वही उपमिति का करण है, गौ के सद्दश गवय होता है 'आरण्यक' के द्वारा उपदिष्ट इस अतिदेश वाक्यार्थ की स्मृति व्यापार है और गवय पद की गौ सद्दश जंगली पशु में यह गवय है, इस प्रकार की शक्ति का ज्ञान ही उपमान का फल है।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'उपमिति का करण तथा समानता बताने वाले वाक्य के अर्थ के स्मरण के साथ, ज्ञान वस्तु की समानता से युक्त, अज्ञात वस्तु का ज्ञान, जिस प्रमाण द्वारा होता है, वह प्रमाण 'उपमान' है, यह प्रमाण संज्ञा और संज्ञी के सम्बंध का निश्चयात्मक ज्ञान होता है, भाष्यकार ने भी न्यायभाष्य 1/1/6 में इसे ही उपमिति अर्थात् उपमान का फल बताया है।

उपमान के लक्षण के पश्चात्, अब उपमान के भेदों का विरूपण किया जा रहा है:-

उपमान के भेद :

न्यायसूत्रकार तथा भाष्यकार ने उपमान प्रमाण के भेदों का उल्लेख नहीं किया है, उपमान के भेदों का उल्लेख सर्वप्रथम 'वार्तिककार' ने 'न्यायवार्तिक' 2/1/45 में किया है, इन्होने उपमान के दो भेद माने हैं:-

साधर्म्योपमान और वैधर्म्योपमान ।

'भाषारत्नकार[1]' ने भी कहा है कि 'उपमिति साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य के आधार पर भी होती है, इससे भी यह स्पष्ट होता है कि उपमान के साधर्म्य और वैधर्म्य रूप दो भेद हैं, किन्तु उपमान के इन प्रभेदों का विवेचन - 'न्याय वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों - तर्कसंग्रह, तर्ककौमुदी, तर्कामृत, तर्कभाषा, तथा भाषा परिच्छेद में नहीं मिलता, एकमात्र वरदराजकृत 'तार्किकरक्षा' में ही उमान के भेदों का उल्लेख है:-

---

1- भाषारत्न - पृष्ठ 187.

'अत्रातिदेशवाक्यार्थस्त्रिविधः परिगृह्यते ।
साधर्म्यं धर्ममात्रं च वैधर्म्यं चातिभेदतः ।।'

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के टीकाकार श्री कृष्णवल्लभाचार्य ने भी 'किरणावली'[1] टीका में उपमान के तीन भेद बताये हैं :-

सादृश्य विशिष्टपिण्डदर्शन, वैधर्म्यविशिष्टपिण्डदर्शन तथा असाधारण विशिष्ट पिण्ड दर्शन ।

अतः अब उपमान के इन तीनों भेदों का दृष्टान्तपूर्वक विवेचन किया जा रहा है :-

साधर्म्योपमान :

जहाँ समानधर्मरूप उपमिति होती है, वहाँ साधर्म्योपमान होता है, अभिप्राय यह है कि जो उपमिति सादृश्य, निश्चयमूलक होती है, उसे 'साधर्म्योपमान' कहा जाता है। इसका दृष्टान्त पूर्व वर्णित' यथा गौस्तथा गवयः' है।

भाष्यकार तथा मुक्तावली के टीकाकार 'किरणावलीकार' ने इसके कुछ अन्य उदाहरण 'यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी' तथा 'यथा माषस्तथा माषपर्णी' दिये हैं, अर्थात् जैसी मूँग होती है, वैसी ही मुद्गपर्णी नाम औषधि होती है, और जैसा उरद होता है, वैसी ही माषपर्णी नामक औषधि होती है।

वैधर्म्योपमान :

अब उपमान के द्वितीय भेद 'वैधर्म्योपमान' को समझाया जा रहा है। यथा जिस पुरूष को 'उष्ट्र' शब्द का अर्थ नहीं ज्ञात है, उसे जब किसी अन्य पुरूष के द्वारा यह ज्ञात होता है कि 'अन्य सभी पशुओं से भिन्न दिखने वाले पशु को 'उष्ट्र' कहा जाता है और वह बद में जब कभी अत्यन्त लम्बी गर्दन ऊँची - नीची पीठ तथा ऊँचे शरीर वाले पशु को देखता है, तब अन्य सभी पशुओं से इस प्रकार के वैधर्म्य अथवा वैसादृश्य का ज्ञान होने पर पूर्व सुने हुये अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण होने पर

1- किरणावली टीका - करिका 79,80.

पूर्व सुने हुये अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण होने पर उस पुरूष को उस विसदृदश पशु में 'उष्ट्र' शब्द की वाच्यता का ज्ञान होता है। यह ज्ञान उपमितिस्वरूप ही होता है। इस प्रकार साधर्म्य के समान ही वैधर्म्य ज्ञान को भी उपमान प्रमाण माना जाता है।

<u>असाधारण धर्म विशिष्ट उपमान :</u>

अब उपमान के तृतीय भेद 'असाधारण धर्म विशिष्ट उपमान' का निरूपण किया जा रहा है :- जिस पुरूष को 'खड्गमृग' शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं है, उसे जब किसी अन्य पुरूष के द्वारा यह ज्ञात होती है कि 'जिसके नासिका के अग्रभाग में एक श्रृंग होती है, वह खड्गमृग है' इस वचन को सुनकर तथा उसके अर्थ का निश्चय करके वह पुरूष किसी काल में दैवयोग से, उस खड्गमृग को नेत्रों से देखता है, और उसकी नासिका के अग्रभाग में एक श्रृंग को देखता है, उस एक श्रृंगरूप असाधारण धर्म के दर्शन के बाद उस पुरूष को पूर्व के अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण होकर 'खड्गमृग, खड्गमृग का वाच्य है', इस प्रकार की उपमिति होती है, इस उपमिति के सम्बन्ध में वह एक श्रृंगरूप असाधारण धर्म का ज्ञान ही उपमान होता है, इस प्रकार यह 'असाधारण - धर्मविशिष्ट' उपमान का दृष्टान्त है।

उपमान के ये ही उपरोक्त तीन भेद 'तर्ककिरणावलीकर [1] तथा तर्कसंग्रह की टीका' पदकृत्य में भी बताये गये हैं।

<u>उपमान की पृथक सत्ता :</u>

जहाँ तक उपमान के पृथक प्रमाणत्व का प्रश्न है तो इसकी पृथक सत्ता का विवेचन न्याय - वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में नहीं मिलता। एकमात्र भाषा - परिच्छे' में विश्वनाथ ने कारिका 140 तथा 141 में उपमान के अनुमान में अन्तर्भाव विषयक वैशेषिक के मत का निरूपण किया है, तथा पुनः अपना मत रखा है कि वैशेषिक का उपरोक्त मत उचित नहीं है, क्योंकि व्याप्ति ज्ञान के बिना भी

1- तर्ककिरणावली - पृष्ठ 121.

उपमिति होती है और अनुमान पूर्णरूप से व्याप्ति पर ही आधारित होता है, अतः उपमान की पृथक सत्ता है।

उपमान की पृथक सत्ता के विषय में विस्तृत विवेचन आचार्य गौतम, वात्स्यायन, जयन्तभट्ट तथा उदयनाचार्य आदि विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। इन विद्वानों ने बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक आदि के मतों का खण्डन करते हुये, यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उपमान का अन्तर्भाव - प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण में नहीं हो सकता, अतः उपमान को पृथक् प्रमाण मानना उचित ही है। उपमान का अन्तर्भाव, प्रत्यक्ष शब्द और अनुमान प्रमाण से क्यों नही हो सकता, इसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जा रहा है :-

नैयायिक उपमान को स्वतंत्र प्रमाण ही मानते हैं, उनका कथन है कि उपमान का अन्तर्भाव 'प्रत्यक्ष' में नही किया जा सकता, क्योंकि 'यह पिण्ड गवयपद वाच्य है' यह ज्ञान केवल विषय और इन्द्रियों के सन्निकर्ष के द्वारा ही नहीं होता, प्रत्यक्ष से तो इतना ही ज्ञात होता है कि 'यह वस्तु गौ के धर्मो के समान धर्मो से युक्त है'। यह ज्ञान प्रत्यक्ष से अधिक आप्त पुरूष द्वारा प्राप्त गवय, गौ के सदृश होता है इस ज्ञान के स्मरण पर आधारित है, अतः आप्त वाक्य से प्राप्त ज्ञान के स्मरण तथा सादृश्य के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष का विषय नहीं माना जा सकता, अतः 'उपमान' प्रत्यक्ष से भिन्न ही है।

उपमान को 'अनुमान' भी नही माना जा सकता, क्योंकि अनुमान पूर्णरूप से 'व्याप्ति' के ज्ञान पर ही आधारित होता है, किन्तु उपमान में 'लिंग और लिंगी' का व्याप्ति संबंध अथवा उसका ज्ञान नहीं होता। इसका कारण यह है कि साध्य 'गवय' तथा हेतु 'गौ' की समानता के सादृश्य का पूर्वदर्शन कभी हुआ ही नहीं है, अतः जहाँ-जहाँ गौ सादृश्य है, वह-वह गवय है, इस प्रकार के व्याप्ति का दर्शन यदि कभी सपक्ष में हुआ हो, तब तो प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले पशु में सादृश्य रूप हेतु को देखकर 'यह गवय है' ऐसा अनुमान किया जा सकता है, किन्तु उपमान में तो व्याप्ति दर्शन कहीं हुआ ही नहीं है, अतः इसे अनुमान भी नहीं कहा जा सकता, इस प्रकार नैयायिक वैशेषिक के मत का खण्डन करते हैं।

उपमान का अन्तर्भाव 'शब्द प्रमाण' में भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्द प्रमाण से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह स्वतः ही पूर्ण होता है, उसके लिये विषय के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु उपमान में ज्ञान के लिये 'गवय' पिण्ड का प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक है, अतः इसे शब्द प्रमाण से भिन्न होने के कारण शब्द प्रमाण के अन्तर्गत भी नही माना जा सकता ।

इस प्रकार नैयायिक उपमान प्रमाण को प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाणों से भिन्न एक स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार से प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान प्रमाण, प्रमा का ज्ञान कराते हैं, उसी प्रकार उपमान प्रमाण भी उपमिति का ज्ञानकराता है, यह प्रमाण हमें किसी तत्व के विषय तक पहुंचाता है, अतः निःसन्देह रूप से यह कहा जा सकता है कि उपमान एक स्वतंत्र प्रमाण है।

[ख] शब्दप्रमाण

न्याय में मान्य चतुर्विध प्रमाणों में चतुर्थ तथा अन्तिम प्रमाण 'शब्द' है। शब्द प्रमाण के द्वारा भी प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान से भिन्न विलक्षण ज्ञानउत्पन्न होता है, अतः गौतम ने इसे प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान से भिन्न एक पृथक प्रमाण स्वीकृत किया है, जबकि कणाद इसे पृथक प्रमाण न मानकर अनुमान में ही अन्तर्भूत मानते हैं, किन्तु नैयायिक इसका खण्डन करते हुये, शब्द को एक पृथक प्रमाण ही मानते हैं। अब शब्द प्रमाण का निरूपण किया जा रहा है :-

शब्द प्रमाण का लक्षण :

जहाँ तक शब्द प्रमाण के लक्षण का प्रश्न है, तो सूत्रकार[1] ने 'आप्त व्यक्ति के उपदेश को शब्द प्रमाण' माना है, तर्कामृतकार ने भी 'आप्तोक्तः शब्द प्रमाणम्' कहकर सूत्रकार के कथन का ही समर्थन किया है। तर्कभाषा, तर्कसंग्रह, तार्किकरक्षा में भी शब्द प्रमाण का ऐसा ही लक्षण किया गया है, जबकि तर्ककौमुदी में लौगाक्षिभास्कर ने शब्द प्रमाण का लक्षण इनसे कुछ भिन्न प्रकार से किया है :-

---

1- न्यायसूत्र - 1/1/7.

'शब्द प्रमाकरणज्ञान विषयं शब्दं' ।

इस शाब्दबोध में पद का ज्ञान करण, पदार्थ ज्ञान व्यापार, अर्थप्रकारक पदविशेष्यक ईश्वरेच्छारूप ज्ञानशक्ति संहकारिकारण तथा शाब्दबोध फल होता है।[1]

आप्त का लक्षण :

ऊपर लक्षण में 'आप्त पुरूष द्वारा कथित वाक्य को शब्द प्रमाण कहा गया है, अतः यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि आप्त पुरूष कहते किसे हैं ? अथवा अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आप्त पुरूष का लक्षण क्या है ? तो भाष्यकार ने उस व्यक्ति को आप्त कहा है, जिसे यथार्थ रूप में ज्ञात पदार्थ को उसी रूप में व्यक्त करने की इच्छा हो। ऐसा ही लक्षण 'तर्कामृत' में भी किया गया है कि 'प्रकृतवाक्यार्थगोचर यथार्थज्ञानवानाप्तः' ऐसा ही लक्षण तर्कभाषाकार केशवमिश्र तथा तर्कसंग्रहकार अन्नम्भट्ट ने भी किये हैं।

इस प्रकार शब्द के प्रयोग का हेतुभूत जो यथार्थ ज्ञान है, उस यथार्थज्ञान वाला पुरूष ही आप्त कहा जाता है और आप्तपुरूष द्वारा उच्चारण किया हुआ वाक्य 'शब्द प्रमाण' कहा जाता है।

'आप्त' की विस्तृत व्याख्या करते हुये भाष्यकार वात्स्यायन ने सूत्र 1/1/7 के भाष्य में कहा है कि 'अपने प्रत्यक्ष अनुभव से किसी विषय की जो जानकारी प्राप्त होती है, उसे 'आप्ति' कहते हैं, अतएव आप्तव्यक्ति का अर्थ हुआ वह व्यक्ति, जिसमें उक्त पदार्थ का स्वयं साक्षात्कार किया हो, वह व्यक्ति दूसरों के उपकारार्थ जो स्वानुभवसिद्ध बात कहता है, वह माननीय है। आप्त व्यक्ति वहीं है जो विषय का ज्ञाता और विश्वसनीय हो, चाहे वह म्लेच्छ ही क्यों न हो[2]। ऐसा ही 'तार्किकरक्षाकार'[3] ने भी कहा है ।

1- तर्ककौमुदी तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 81, 82.

2- आप्तः खलु साक्षात्कृत धर्मा। यथा दृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्तः उपदेष्टा । साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः। तया प्रवर्तते इत्याप्तः । ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्...

-- न्यायभाष्य - 1/1/7.

3- यथार्थदर्शनः पुंसो यथादृष्टार्थवादिनः ।
उपदेशः परार्थो यः स इहागण उच्यते ।। - तार्किकरक्षा

शब्द प्रमाण विषयक विभिन्न मत :

जिस प्रकार अन्य प्रमाणों के विषय में विभिन्न मत पाये जाते हैं, उसी प्रकार शब्द प्रमाणों के विषय में भी विभिन्न मत पाये जाते हैं :-

बौद्ध मत :

बौद्ध भी शब्द को पृथक् प्रमाण नहीं मानते, इनके अनुसार शब्द का प्रत्यक्ष अथवा अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि यदि यह कहा जाये कि 'जो व्यक्ति विश्वसनीय कथन करता है, वह आप्त है,' तो यह अनुमान ही है और यदि यह कहा जाये कि आप्त व्यक्ति का कथन यथार्थ होने के कारण विश्वसनीय है तो यह प्रत्यक्ष से भिन्न नही है।

शान्तिरक्षित के अनुसार 'जब कोई व्यक्ति कुछ कहता है तो श्रोता उसके प्रयोजन के अनुसार अर्थ निकालता है, अनुमान में भी ऐसा ही होता है।[1]

सांख्य मत :

सांख्य दर्शन भी शब्द प्रमाण को पृथक प्रमाण मानता है। यह भी 'आप्तोदेश' को ही शब्द प्रमाण मानता है। सांख्यसूत्रकार के अनुसार 'आप्तोपदेश' शब्द है, किन्तु आप्त का अर्थ है, आप्ति से युक्त। 'आप्ति' का तात्पर्य है - योग्यता और उपदेश का आशय है - यथाभूत पदार्थ का निर्दोष कथन । इस परिभाषा का विश्लेषण करते हुये उत्तरवर्ती भाष्कारों ने यह कहा है कि जो व्यक्ति वस्तुओं का साक्षात् ग्रहण करके उनका यथार्थ ज्ञान करता है, वह उस विषय में आप्त कहलाता है। ऐसे व्यक्ति का उपदेश ही संदर्भगत विषय में शब्द प्रमाण माना जाता है। ईश्वरकृष्ण ने 'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु' अर्थात विश्वसनीय वचन को आप्त वाक्य कहा है।

योगमत :

योग में 'शब्द' के लिये 'आगम' शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यासभाष्य में यह उल्लेख मिलता है कि अपने बोध का सम्प्रेषण करने के लिये तत्वज्ञानी अर्थात

1- तत्वसंग्रह - 1512 - 22.

यथार्थद्रष्टा आप्त पुरूषों द्वारा शब्द के माध्यम से जो उपदेश किया जाता है, वह आगम प्रमाण है।

'स्वबोधसंक्रान्तये। शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थविष्यावृतिः श्रोतुरागमः'- योगसूत्रव्यासभाषा-1/1/7.

मीमांसक मत :

शबरस्वामी के अनुसार शब्द से होने वाले अप्रत्यक्ष वस्तु विषयक ज्ञान को शब्द कहा जाता है। कुमारिल ने भाष्यकार के कथन का आशय यह बताया है कि 'शब्द' प्रमाण का वह कथन है, जो शब्दों का अर्थ जानने वाले श्रोता को उस तथ्य का बोध करा देता है, जो श्रोता के प्रत्यक्षण की सीमा के बाहर होता है।[1]

वेदान्त मत :

वेदान्तियों के अनुसार जिस विषय का तात्पर्यविषयी भूत संसर्ग, दूसरे किसी प्रमाण से बाधित नहीं होता, वह वाक्य आगम कहलाता है।[2] वेदान्तियों के मत में वेदों का साक्षात्कार किया गया है, निर्माण नहीं, जबकि नैयायिकों के मत में वेदों का निर्माण ईश्वर ने किया है।

वैशेषिक मत :

वैशेषिकों के अनुसार शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में हो सकता है, क्योंकि शब्द और अनुमान का आधार समान है, अतः वैशेषिक दर्शन में शब्द प्रमाण की परिभाषा उपलब्ध नहीं होती। वैशेषिकसूत्र 1/2/3 में कणाद ने यह कहा है कि शब्द, अनुमान के समान ही है। प्रशस्तपाद ने सूत्रकार के कथन को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि अनुमान में व्याप्तिग्रह, लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मृति और उसके बाद अनुमिति होती है, इसी प्रकार शब्द में भी शक्तिग्रह, वाक्यश्रवण, पदार्थ-स्मृति और उसके पश्चात् वाक्यार्थ बोध होता है। इस प्रकार समानविधि के कारण ही यह अनुमान के अन्तर्गत माना

1- शास्त्रं शब्दविज्ञानदसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम् - शबरभाष्य, पृष्ठ 105.

2- 'यस्यं वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूत संसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते, तत् वाक्यं प्रमाणम्' - वेदान्त परिभाषा, आगम परिच्छेद, पृष्ठ 148.

जाता है। श्रीधर का भी यह कथन है कि शब्द भी व्याप्ति के माध्यम से ही अर्थ का प्रतिपादक होता है, अतः अनुमान ही है[1] ।

न्याय मत :

न्यायसूत्रकार ने आप्तोपदेश को शब्द कहा है। भाष्यकार वात्स्यायन ने यह स्पष्ट किया है कि जो वस्तु जैसी है, उसको वैसी ही बताने वाले पुरूष के उपदेश को शब्द कहा जाता है। वस्तुओं का साक्षात्ज्ञान है, अप्ति और अप्ति में जो प्रवृत्त हो, वह आप्त कहलाता है। आप्तता किसी जाति विशेष पर निर्भर नहीं है।

उद्दोतकर ने इस संदर्भ में यह कहा है कि इन्द्रियों से सम्बद्ध या असम्बद्ध अर्थों के प्रसंग में शब्द का प्रयोग करके जो बोध होता है, वह शब्द प्रमाण जन्य है।

केशवमिश्र ने तर्कभाषा में तथा अन्नम्भट्ट ने तर्कसंग्रह में तथा अन्य उत्तरवर्ती नैयायिकों ने 'शब्द प्रमाण' के लक्षण में कुछ परिवर्तन करके 'उपदेश' के स्थान पर 'वाक्य' का प्रयोग किया है, तथा 'आप्त वाक्य को शब्द प्रमाण माना है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि चार्वाक्, बौद्ध तथा वेशेषिक शब्द को पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते जबकि जैन, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त तथा न्याय में शब्द को पृथक् प्रमाण स्वीकार किया गया है, किन्तु जो दर्शन शब्द को प्रथक् प्रमाण मानते हैं, उन दर्शनों की शब्द प्रमाण के आन्तरिक विश्लेषण में न्याय दर्शन से भिन्नता है। मुख्य भिन्नता तो यह है कि न्याय, वेद को ईश्वर प्रणीत मानते हैं, जबकि सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त में वेद को अनादि माना गया है।

अब जहाँ तक न्याय-वेशेषिक के सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित ग्रन्थों में शब्द प्रमाण के पृथक प्रमाणत्व का प्रश्न है, तो सभी ग्रन्थों में शब्द का प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान से भिन्न पृथक प्रमाण के रूप में विवेचन किया गया है।

1- शब्दानुमानं व्याप्तिबलेनार्थ प्रतिपादकत्वात् धूमवत् - न्यायकन्दली ।

वाक्य लक्षण :

विश्वनाथ कृत कारिकावली, वरदराज कृत तार्किकरक्षा तथा जगदीशतर्कालंकार कृत तर्कामृत में 'वाक्य' का लक्षण नहीं बताया गया है, जबकि अन्नम्भट्ट कृत तर्कसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर कृत तर्ककौमुदी तथा केशवमिश्र कृत तर्कभाषा में वाक्य का लक्षण बताया गया है। तर्कसंग्रह में वाक्य का लक्षण - 'वाक्यं पदसमूहः' किया गया है। तर्ककौमुदी में भी 'पदसमूहोवाक्यम्' ऐसा लक्षण किया गया है, किन्तु तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने इस लक्षण को अधूरा मानते हुये वाक्य का लक्षण 'आकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः वाक्यम्' किया है, तात्पर्य यह है कि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों के समूह को ही वाक्य कहा जा सकता है, इनमें किसी भी एक का अभाव होने पर पदसमूह वाक्य नहीं हो सकता, इसलिये ये 'पदसमूहो वाक्यम्' इस लक्षण को अधूरा मानते हैं। वाक्य के इस लक्षण को और स्पष्ट रूप से समझाते हुये केशवमिश्र 'तर्कभाषा' में कहते हैं कि 'अर्थ प्रतिपादन द्वारा अन्य पदों अथवा अन्य अर्थों के विषय में श्रोता की आकांक्षा को पैदा करने वाले और स्पष्ट रूप से परस्पर अन्वययोग्य अर्थ के प्रतिपादक सन्निधि युक्त पदों का समूह 'वाक्य' कहलाता है। यथा :-

'गामानय' यह पदसमूह वाक्य कहलाता है।

तर्कसंग्रहकार अन्नम्भट्ट ने वाक्य के दो भेद बताये हैं :- (1) वैदिक और (2) लौकिक । 1- ईश्वर के द्वारा प्रणीत होने से वैदिक वाक्य प्रमाण हैं। 2- लौकिक तो प्रामाणिक अथवा शिष्ट व्यक्ति के द्वारा बोला गया वाक्य ही प्रमाण होता है, अनाप्त द्वारा बोला गया वाक्य प्रमाण नहीं होता ।

दार्शनिकों के अतिरिक्त वैयाकरणों और लक्षण ग्रन्थकारों ने भी वाक्य के लक्षण पर गहन विचार किया है।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने वाक्य की अर्थ बोधकता को सिद्ध करते हुये लिखा है कि 'साकांक्ष पदों के समूह को वाक्य' कहा जाता है। जैमिनि के अनुसार' एकार्थक पदों का समूह 'वाक्य' है। योगभाष्य में भी कहा गया है कि सभी पद अन्य पदों के साथ मिलकर वाक्य बनने की शक्ति रखते हैं, किन्तु वे आकांक्षा युक्त होने

चाहिये। मीमांसकों के अनुसार - 'आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति के कारण परस्पर समन्वित पदों का समूह वाक्य' है[1]। साहित्यदर्पणकार ने भी आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा है[2]।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वाक्य के लक्षण के विषय में कोई मतभेद नहीं है, सभी ने वाक्य का लक्षण एक प्रकार से ही किया है।

पद लक्षण :

आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा जाता है, अतः अब यह जिज्ञासा होती है कि 'पद' किसे कहते हैं, अतः अब पद के स्वरूप को बताया जा रहा है :- तर्कभाषकार ने 'वर्णों के समूह को पद' कहा है, तर्ककौमुदीकार ने 'अर्थवाचकंपदम्', तर्कसंग्रहकार तथा मुक्तावलीकार ने 'शक्तम् पदम्' अर्थात् अर्थ प्रकट करने में समर्थ शब्द 'पद' होता है, ऐसा पद का लक्षण बताया है।

न्यायसूत्रकार गौतम ने जिन वर्णों के अन्त में विभक्तियाँ लगी हों, उन्हें पद कहा है।[3] वैयाकरण शास्त्र में 'सुप्तिङन्तं पदम्' ऐसा कहा गया है।

केशवमिश्र ने तर्कभाषा में 'पद' का लक्षण 'वर्णसमूहो पदम्' किया है। 'समूह' का आशय है - एक ज्ञान का विषय बनना। अतः घ्, अ, ट्, अ ये वर्ण क्रम से उच्चरित होकर जब तक किसी एक व्यक्ति को एक साथ नहीं ज्ञात होते, तब तक वे 'पद' नहीं कहे जाते, किन्तु जब वे किसी एक व्यक्ति को एक साथ ज्ञात होकर एक ज्ञान के विषय बन जाते हैं, तब उनको पद कहा जा सकता है। पद सदा अनेक-वर्णात्मक ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं, कभी-कभी पद एक वर्णात्मक भी होता है, यथा - आकाशवाची 'ख' आदि। इस पर यह शंका हो सकती है कि जब एक वर्णाकार पद हो सकता है तो फिर 'घट' को एक पद न मानकर, कई पदों का समूह मानना

1- शबरभाष्य - 10/2/14/44.

2. वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः - साहित्यदर्पण 2/1.

3. विभक्त्यन्ता पदम् - न्यायसूत्र - 2/2/57.

चाहिये, तब इसके समाधान में यह कहा जाता है कि 'जो वर्ण या वर्णसमूह किसी अर्थ में शक्त और अभिप्राययुक्त होता है, वही 'पद' कहलाता है। इस प्रकार 'घट' घ्, अ, ट्, अ, इन चार वर्णों का समूह न होकर एक ही 'पद' है, क्योंकि 'घट' पद के जो एक-एक वर्ण हैं वे किसी अर्थ में शक्त या अभिप्राययुक्त नहीं हैं बल्कि सभी मिलकर 'घड़ा' रूप में अर्थ में शक्त हैं।

इस पर पुनः एक शंका यह उठ सकती है कि वर्णों का उच्चारण एक साथ तथा एक समय में नहीं हो सकता। वे क्रमशः उच्चरित किये जाते हैं तथा शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, फिर पदों को अनेक वर्णात्मक किस प्रकार माना जा सकता है। तब इसका समाधान केशवमिश्र ने इस प्रकार किया है कि :- किसी पद के अंगभूत वर्ण जिस क्रम से उत्पन्न होते हैं, उसी क्रम से श्रोत्र द्वारा उनका अनुभव होता है और उसी क्रम से अनुभवों द्वारा उसका संस्कार उत्पन्न होता है। इस क्रम से उस पद का अन्तिम वर्ण जब कान में पहुंचता है, तब इस अन्तिम वर्ण के सम्बद्ध हुआ कान पूर्व वर्णों के अनुभवों से उत्पन्न हुये इन संस्कारों के सहयोग से एक साथ ही वर्णों को विषय करने वाले एक पद ज्ञान को उत्पन्न करता है, इस प्रकार उत्पन्न, विनष्ट विद्यमान सभी वर्णों को विषय करने वाला पद, एक ज्ञान को उत्पन्न करता है। इस प्रकार उत्पन्न और विनष्ट होने वाले वर्णों के पूर्व संस्कारों द्वारा पद ज्ञान होता है। केशवमिश्र ने इसे 'पदव्युत्पादनसमयग्रह' कहा है।[1]

पद के भेद :

तर्ककौमुदीकार लौगाक्षिभास्कर ने शक्तिविशिष्ट पद के दो भेद बताये हैं मुख्य और गौण । जो पद जिस शक्ति या वृत्ति द्वारा जिस अर्थ का बोध कराये, वह पद उसी अर्थ में 'मुख्य' है, जैसे - गो घटादि का समुपस्थापक गो घटादि पद है। जो

1- पदं च वर्णसमूहः । समूहश्चात्र एकज्ञानविषयीभावः..........
........पूर्व पूर्व वर्णानुभवजनित संस्कार सहकृतेन अन्त्यवर्णसम्बन्धेन पदव्युत्पादन समय ग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेणैकदेव सदसदनेक वर्णा वगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते सहकारिदाढर्यात् प्रत्यभिज्ञानवत् - तर्कभाषा, शब्द प्रमाण।

जो पद लक्षणा वृत्ति द्वारा जिस अर्थ का बोध कराये, वह पद उस अर्थ में गौण या लाक्षणिक कहा जाता है। जैसे 'गंगायां घोष:' में तीरोपस्थापक गंगा पद हैं।

शक्त पद को मुक्तावलीकार ने चार प्रकार का बताया है :- यौगिक, रूढ़, योगरूढ़ तथा यौगिक रूढ़ । अब इन्हें समझाया जा रहा है:-

यौगिक पद :

जो पद अपने अवयवों से स्वार्थ का बोधक हो, वह यौगिक पद है। जैसे पाचक पद है, पचति इति पाचक. । यह धातु पच् है और कर्ता में ण्वुल प्रत्यय हुआ है। पाक क्रिया करने वाले का नाम पाचक है, यह अर्थ शब्द के अवयवों से ही समझ में आता है। इसी तरह पाठक शब्द भी है। इसी प्रकार के शब्दों को 'यौगिक' कहा जाता है।

रूढ़ पद :

जो पद अवयवशक्ति के बिना समुदाय शक्ति के स्वार्थ, का बोधक हो, वह रूढ़पद है। जैसे 'गौ' तथा 'मण्डल' पद रूढ़ है, अर्थात् 'गौ' गमन क्रियायुक्त अर्थक होने पर भी गाय के लिये रूढ़ हो गया है। इस प्रकार समुदाय शक्ति को रूढ़ि और अवयव शक्ति को योग कहते हैं।

योगरूढ़ पद :

जो पद अवयव तथा समुदाय दोनों शक्तियों द्वारा स्वार्थ का बोधक हो, किन्तु समुदाय शक्ति में ही प्रयुक्त होता हो, वह 'योगरूढ़' पद कहलाता है। जैसे :- पंकज।' 'पंकज्जायते' इस व्युत्पत्ति से बना पंकज पद अवयवशक्ति द्वारा 'पंक' से उत्पन्न होने वाली' वस्तु का तथा समुदाय शक्ति से केवल कमल का बोधक है। तात्पर्य यह है कि यह शब्द यौगिक होते हुये भी एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है।

यौगिक रूढ़ :

कुछ आचार्यों ने यौगिकरूढ़ को योगरूढ़ से पृथक नहीं माना है, क्योंकि उक्त द्विविधि शक्तियाँ दोनों जगह समानरूप से मान्य होती हैं, किन्तु विश्वनाथ के अनुसार

जहाँ योगार्थ और रूढयार्थ स्वतंत्र रूप से बोधक हो, अर्थात् काई पद यदि किसी एक वस्तु का अवयवशक्ति से तथा किसी अन्य वस्तु का समुदाय शक्ति से बोध कराता हो, तो वह 'यौगिक रूढ़' पद कहा जाता है। जैसे :- 'उद्भिद्' शब्द । यहाँ 'उद्भ्य भिनत्ति इति उद्भिद्' इस व्युत्पत्ति से उद्भिद् शब्द यौगिक शक्ति से वृक्ष और लतादि का बोधक है तथा समुदाय शक्ति से एक यज्ञ विशेष की संज्ञा के रूप में रूढ़ भी है। अतः 'उद्भिद्' शब्द यौगिक रूढ़ कहा जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि जो शब्द कभी तो अपने अवयवों के अर्थ के आधार पर 'यौगिक' अर्थ का बोध कराते हैं और कभी समुदाय शक्ति के कारण 'रूढ़' अर्थ का बोध कराते हैं, जैसे - मण्डप, महारजत शब्द आदि, वे यौगिकरूढ़ पद कहलाते हैं।

वृत्ति निरूपण

तर्कभाषा, तर्कसंग्रह तथा तर्ककौमुदी में तो वृत्ति का निरूपण नहीं किया गया है, जबकि तर्कामृत तथा न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में वृत्ति के स्वरूप का विवेचन किया गया है। अब वृत्ति का लक्षण बताया जा रहा है :-

वृत्ति लक्षण :

विश्वनाथ ने न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में वृत्ति का लक्षण 'वृत्तिश्च शक्ति लक्षणान्यतरसम्बन्ध' किया है, तात्पर्य यह है कि शक्ति और लक्षण इन दोनों में से कोई एक संबंध वृत्ति पद से ग्राह्य होता है। जगदीश तर्कालंकार ने तर्कामृत में वृत्ति पद के दो भेद बताय हैं - शक्ति और लक्षणा। अब शक्ति और लक्षणा का विवेचन किया जा रहा है :-

शक्ति निरूपण :

शक्ति का निरूपण करते हुये विश्वनाथ ने मुक्तावली में कहा है कि:- 'शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः' अर्थात पद के साथ पदार्थ के 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः' इस प्रकार के ईश्वरेच्छा रूप संबंध को शक्ति कहते हैं। इसे 'संकेत' भी कहा जाता है। प्राचीन नैयायिक ईश्वर संकेत को शक्ति कहते हैं, जबकि नवीन नैयायिक

ईश्वरेच्छा के स्थान पर केवल इच्छा को ही शक्ति का कारण मानते हैं। इसलिये आधुनिक लौकिक संकेतों में भी शक्ति रहती है। यह स्पष्ट है कि संकेतात्मक पदशक्ति के ज्ञान के अनन्तर ही श्रोता उस पद के वाच्य अर्थ को स्मरण करता है।

शक्ति के विषय में मीमांसकों का मत, न्याय - वैशेषिक मत से भिन्न है, मीमांसक शक्ति को अलग पदार्थ मानते हैं। न्याय में शक्ति तीन प्रकार की मानी गयी है :- समुदाय शक्ति, अवयवशक्ति और मिलित शक्ति ।

शक्ति ग्रह के उपाय :

यह तो सभी लोग मानते हैं कि शब्द का उपयोग अर्थ का बोध कराने के लिये किया जाता है। अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है, अतः शब्द में जो अर्थ को बोध कराने की सामर्थ्य है, उसे ही शक्ति कहते हैं। शब्द में विद्यमान इस शक्ति के ग्रहण के लिये विश्वनाथ ने 'न्यायसिद्धान्त मुक्तावली' में आठ साधन बताये हैं :-

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान - कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाविवृतेर्वदन्ति सान्निध्यत सिद्धपदस्य वृद्धाः ।।'

अर्थात व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण और प्रसिद्ध पद के सन्निधान से शक्ति का ग्रहण होता है। अब इनका विवेचन किया जा रहा है :-

व्याकरण :

धातु, प्रकृति, प्रत्यय आदि की शक्ति का ज्ञान व्याकरण से होता है, जैसे :- 'भू सत्तायां' इस व्याकरण सूत्र से भू धातु की सत्ता अर्थ में शक्ति मानी जाती है और 'वर्तमाने लट्' इस व्याकरण सूत्र से लट् प्रत्यय की वर्तमान काल में शक्ति जानी जाती है, परन्तु जिस स्थल पर किसी गौरवादि दोष की प्राप्ति होती है, उस स्थल पर व्याकरण से निश्चित की हुयी शक्ति का भी परित्याग किया जाता है, जैसे :- 'चैत्र पचति' इस वाक्य के अन्त में स्थित जो 'तिप्' यह आख्यात् प्रत्यय है, उस आख्यात की वैयाकरणों ने कर्ता में शक्ति मानी है, उस आख्यातार्थ कर्ता का चैत्रपुरुष के साथ अभेदरूप से अन्वय

होता है, अर्थात् उनके मत में इस वाक्य से पाककर्ता से अभिन्न चैत्र है, इस प्रकार का बोध होता है, परन्तु वैयाकरणों के इस मत में गौरव है, क्योंकि उस आख्यात की यदि कर्ता में शक्ति मानी जायेगी तो उस आख्याद पद के शक्यता का अवच्छेदक कृति होगी और वे कृतियाँ अनेक है और उस आख्यात् की यदि कृति में शक्ति मानी जायेगी तो शक्यता का अवच्छेदक कृतित्व जाति होगी और कृतित्व जाति एक है, अतः वैयाकरणों के मत में गौरव दोष देने के कारण नैयायिकों ने लाघव से उस आख्यात की कृति में ही शक्ति मानी है, उस आख्यातार्थ कृति का चैत्र पुरूष के साथ आश्रयता सम्बन्ध से अन्वय होता है। अभिप्राय यह है कि 'पाकानुकूल कृतिमान चैत्र' इस प्रकार का शब्द बोध उस वाक्य से होता है ।

उपमान :
- - - - -

उपमान से भी पद की शक्ति का ज्ञान होता है, यथा - गवय आदि पदों की गवय आदि रूप अर्थ में शक्ति उपमान से ग्रहण होती है। इसका विस्तृत निरूपण 'उपमान निरूपण' में किया गया है।

कोश :
- - - -

कोश द्वारा भी पदों की शक्ति का ज्ञान होता है, जैसे :- 'अप्येकदन्तहेरम्ब-लम्बोदरगजाननः' इस कोश वचन से एकदन्त, हेरम्ब, लम्बोदर गजानन इन पदों की 'गणेश' में शक्ति निश्चित होती है, इस प्रकार कोश से दूसरे भी अनेक पदों के शक्ति का ज्ञान होता है, परन्तु कुछ स्थल पर कोश से ग्रहण की हुयी शक्ति का भी गौरवदोष के कारण त्याग किया जाता है, यथा :- 'गुणे शुकलादयः पुंसि गुणि लिंगास्तु तद्वति' तात्पर्य यह है कि शुक्ल, नील आदि पद जब भी शुक्ल, नील आदि गुण के वाचक होते हैं, तब तो नियम से पुल्लिंग ही होते हैं और जब वे शुक्ल, नील आदि पद, उस शुक्ल नील आदि रूप गुण वाले, गुणी द्रव्य के वाचक होते हैं, तब गुणी द्रव्य के समानलिंग वाले होते हैं, इस कोश वचन से शुक्ल नीलादि पदों की गुण और गुणी दोनों में शक्ति कही गयी है, किन्तु फिर भी उन शुक्ल, नील आदि पदों की गुणी द्रव्य में शक्ति मानने में गौरव है। अतः यहाँ शुक्ल, नीलादि पदों की लाघव से शुक्ल, नील आदि अर्थ में ही शक्ति माननी चाहिये ।

आप्त - वाक्य :

आप्त पुरूष के कथन से भी पद की शक्ति का ग्रहण होता है। जैसे:- कोई बालक पिक पद का अर्थ नहीं जानता। किसी योग्य पुरूष ने कहा कि 'कोकिल: पिक पदवाच्य:' अर्थात् पिक, कोकिल को कहते हैं तो उसे पिक पद का अर्थ बोध हो जाता है।

व्यवहार :

इसी प्रकार 'व्यवहार' से शक्तिग्रह होता है। जैसे:- प्रयोजकवृद्ध पुरूष ने प्रयोज्यवृद्ध पुरूष से 'घटमानय' घटलाओ ऐसा आदेश दिया । तब ऐसी आज्ञा सुनकर, वह घट ले आया । उसी के पास खड़ा बालक, उसके इस क्रिया को देखकर यह निश्चय करता है कि ऐसा घट लाने का कार्यरूप कार्य करना ही 'घटमानय' इस शब्द के उच्चारण रूप आदेश-वचन का निश्चित अर्थ है, यह समझता है। उसके कुछ क्षण बाद पुन: बड़े वृद्ध ने छोटे से कहा - 'घटमानय, गामानय' ऐसा आदेश किया तो उसने वैसा ही किया । वहीं खड़ा बालक पुन: उस कार्य को देखकर घट के लाने और ले जाने से घट की शक्ति कम्बुग्रीवादिमान् व्यक्ति विशेष में निश्चय करता है। तत्पश्चात् इस प्रकार जहाँ भी 'घटमानय' का प्रयोग होता है, वहाँ बालक घटादि पद की शक्ति कार्यान्वित घट आदि में समझा जाता है। इस प्रकार व्यवहार द्वारा भी पदों की शक्ति का ज्ञान होता है।

वाक्य शेष :

वाक्य शेष से भी पदों की शक्ति का ज्ञान होता है। जैसे :- 'यवमयश्चरूर्भवति' इस वचन में प्रयुक्त जो यवपद है, उसको सुनकर पुरूष को यह संशय होता है कि आर्यपुरूष तो दीर्घशूक विशिष्ट अन्न का वाचक है अथवा कंगु नामक अन्नविशेष का वाचक है, ऐसा संशय होता है। तब इस संशय के होने के अनन्तर, उस पुरूष को 'वाक्य शेष' से उस यव पद की दीर्घ शूक विशिष्ट अन्न में शक्ति का ज्ञान होता है। यह वाक्य शेष इस प्रकार है :-

'बसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम् ।
मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवा: कणिशशालिन: ।।'

इसका अभिप्राय यह है कि बसन्तकाल में सभी सस्यों के पत्ते गिर जाते हैं और कशिशशाली यव (दीर्घशूक) प्रफुल्लित रहते हैं इस वाक्यशेष से उस पुरुष को 'यव' पद की दीर्घशूकविशिष्टं अन्न में शक्ति का ज्ञान होता है। 'यव' पद का शक्तिभ्रम से ही 'कंगु' में प्रयोग होता है।

विवरण :

विवरण से भी पदों की शक्ति का ज्ञान होता है। विवरण' का तात्पर्य है कि - 'तत्समानार्थकपदान्तरेण तदर्थकथनम् विवरणं' अर्थात् उस पद के समान अर्थ वाले पदान्तर के द्वारा, उस अर्थ को कहना ही 'विवरण' कहलाता है, जैसे .- 'घटोऽस्ति' वाक्य के 'कलशोऽस्ति' इस विवरण से कलश में घट पद की शक्ति का ज्ञान होता है।

प्रसिद्ध पद का सन्निधान :

इसी प्रकार प्रसिद्ध पद के सन्निधान से भी शक्ति का ज्ञान होता है, जैसे :- 'इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' अर्थात् पिक इस आम के वृक्ष पर मधुर शब्द कर रहा है। यहाँ 'सहकारतरौ' इस प्रसिद्ध पद के सन्निधान से पिक पद का कोकिल में शक्तिज्ञान होता है।

इस प्रकार उपरोक्त आठ साधनों के द्वारा पद में उसकी शक्ति का ज्ञान होता है।

शक्ति जाति में या व्यक्ति में या जात्याकृतिविशिष्ट व्यक्ति में :

मीमांसक लोग जाति में ही शक्ति मानते हैं, व्यक्ति में नहीं; किन्तु विश्वनाथ ने 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में मीमांसक मत का खण्डन करते हुये, जात्याकृतिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति सन्निहित होती है, ऐसा मत स्थापित किया है। न्यायसूत्रकार गौतम ने भी सूत्र-2/2/63 में पद की शक्ति-व्यक्ति, आकृति एवं जाति तीनों ही में स्वीकार की है।

लक्षणा निरूपण :

अब शक्ति निरूपण के पश्चात् वृति के द्वितीय भेद लक्षणावृत्ति का निरूपण किया जा रहा है :-

तर्कामृत, कारिकावली तथा उसकी टीका 'मुक्तावली' में ही लक्षणा वृत्ति का निरूपण किया गया है, अन्य ग्रन्थों में 'लक्षणा' का निरूपण नहीं किया गया है। विश्वनाथ ने कारिकावली में लक्षणा का लक्षण इस प्रकार किया है:-

'लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः'

अर्थात् शक्यार्थ के सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं और लक्षणा वहीं होती है, जहां वक्ता के तात्पर्य की उपपत्ति न हो। इस प्रकार लक्षणा का एक सामान्य लक्षण यह किया जा सकता है कि 'शक्यसम्बन्धः लक्षणा' । इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है जैसे :- 'गंगायां घोषः' इस वचन में गंगा पद की लक्षणा वृत्ति से श्रोता को तीर का बोध होता है। यहां गंगा पद का शक्य अर्थ जो जल का प्रवाह है, उस शक्य अर्थ का तीर विषय में संयोग संबंध है, वह शक्य संबंध ही उस गंगा पद की तीर अर्थ में लक्षणा है। इस प्रकार की लक्षणावृत्ति के ज्ञान वाले पुरूष को, उस गंगा पद के श्रवण के पश्चात् उस तीन रूप में अर्थ का स्मरण होता है तथा 'तीरवृत्ति घोष' इस प्रकार का उस तीर रूप अर्थ का शाब्दबोध होता है।

अब यहां 'गंगायां घोष' इस वचन को सुनकर श्रोता पुरूष को उस गंगा पद की तीर अर्थ में लक्षणा क्यों होती है, इस शंका के उत्पन्न होने पर, अब मतभेद से लक्षणा के बीच का निरूपण किया जा रहा है।

लक्षणा का बीज

प्राचीन मत :

प्राचीन नैयायिक, अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानते हैं। इनके मत में पदों के शक्य अर्थों का जो संबंध है, उसका नाम अन्वय है। उस सम्बन्ध रूप अन्वय की जो अनुपपत्ति अर्थात न बनना है, उसी का नाम अन्वयानुपपत्ति है, जैसे:- 'गंगायांघोषः' इस वचन में 'गंगा' पद का शक्य अर्थ, जल का प्रवाह है और 'घोष' पद का शक्य अर्थ गोपालों का ग्राम है। इन दोनों शक्य अर्थो का परस्पर आधाराधेय संबंध, उक्त वाक्य से प्रतीत होताहै, किन्तु वह सम्भव नहीं है, अपितु तीन में ही घोष की

आधारता सम्भव है। इस प्रकार 'अन्वयानुपपत्ति' का विचार श्रोता पुरूष 'गंगा' पद की 'तीर' में लक्षणा करता है; अतः 'अन्वयानुपपत्ति' ही लक्षणा की बीज है, ऐसा प्राचीन नैयायिक मानते हैं।

नवीन नैयायिक :

नवीन नैयायिकों के मत में वक्तापुरूष के तात्पर्य की जो अनुपपत्ति है, वही लक्षणा का बीज है, अतः अन्वयानुपपत्ति लक्षणा का बीज नहीं है, क्योंकि यदि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना जाये तो 'यष्टीः प्रवेशय' इस वाक्य में 'यष्टि' पद की यष्टिघर पुरूषों में लक्षणा नहीं होनी चाहिये, वहाँ पाकशाला में सभी अन्न के पाक के अनन्तर गृह वाले पुरुष ने 'यष्टीः' इस प्रकार का वचन किसी पुरूष के प्रति कहा तो उस वचन को श्रवण करके, वह पुरूष उस यष्टि पद की, उस यष्टि को धारण करने वाले पुरूष में लक्षणा करता है, वह नहीं होगी। अतः उन काष्टरूप यष्टियों का प्रवेशन रूप क्रिया में संबंध रूप अन्वय अनुपपन्न नहीं है, किन्तु वह अन्वय सम्भव है, परन्तु उस पुरूष का अन्न के भोजन कराने में तात्पर्य है। अतः वक्ता का तात्पर्य, पाकशाला में यष्टियों क प्रवेश करने से अनुपपन्न होता है। इस प्रकार वक्ता के तात्पर्य अनुपपत्ति का विचार करके, वह श्रोता पुरूष, उस यष्टि पद की यष्टिघर पुरूषों में लक्षणा करता है। 'गंगायां घोषः' इत्यादि स्थलों पर अन्वयानुपपत्ति है, वहाँ भी वक्ता के तात्पर्य की अनुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है, ऐसा नवीन नैयायिकों का मत है। तर्कसंग्रह की 'दीपिका' टीका में 'तात्पर्य की अनुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज माना गया है।

लक्षणा के भेद :

उक्त लक्षणा के सामान्यतया तो सभी ने तीन भेद माने हैं :-

{1} जहल्लक्षणा, 2- अजहल्लक्षणा, 3- जहदजहल्लक्षणा, किन्तु कुछ ने चौथे प्रकार की लक्षणा 'लक्षितलक्षणा' भी मानी है, इस प्रकार लक्षणा के चार भेद हैं :- जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा और लक्षितलक्षणा अब इनका निरूपण किया जा रहा है:

जहल्लक्षणा :

जहत्स्वार्था लक्षणा का अर्थ यह है कि जो पद अपने अर्थ को छोड़कर

सामिप्य संबंध आदि के द्वारा अन्य अर्थ का बोध कराता हो तो इसे जहल्लक्षणा अथवा जहत्स्वार्था लक्षणा कहा जाता है, जैसे :- 'गंगायां घोष' में 'गंगा' पद का शक्य अर्थ जलप्रवाह तथा 'घोष' पद का अर्थ 'गोपगृह' है। किन्तु गंगा के प्रवाह में गोपगृह का होना सम्भव नहीं हो सकता, अतः यहाँ गंगा पद से तीन अर्थ का बोध लक्षणा से होता है और वह प्रतीयमान अर्थ गंगा प्रवाह के संयोग संबंध से तीन में लक्षणा से होता है, ऐसी लक्षणा 'जहत्स्वार्था अथवा जहल्लक्षणा' कहलाती है।

अजहल्लक्षणा तथा अजहत्स्वार्था :

जहाँ वाक्य अर्थ का तो त्याग नहीं किया जाता किन्तु तात्पर्य अर्थ की संगति बैठाने के लिये लक्षणा का सहारा लिया जाता है जैसे :- 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां' अर्थात् 'कौओं से दही की रक्षा करें ' इस वाक्य में कौआ शब्द अपने अभिधेयार्थ के प्रयोग के साथ ही लक्षणा के द्वारा दही खाने वाले चील, बिल्ली आदि सभी प्राणियों को बोध कराता है। इसी प्रकार 'छत्रिणों यान्ति' इस वचन में भी छत्री पद की एकसार्थवाही पुरूषों में लक्षणा होती है और उस लक्षणा से एकसार्थवाहित्व रूप लक्ष्यतावच्छेदक रूप से छत्र वाले पुरूषों का तथा छत्ररहित पुरूषों का बोध होता है, अतः उस छत्री पद की जो एकसार्थग्राही पुरूषों में लक्षणा है, वह लक्षणा ही अजद्त् लक्षणा है।

तर्कामृतकार जगदीश तर्कालंकार ने ये दो भेद ही लक्षणा के बताये हैं, किन्तु इसके दो भेद और माने जाते हैं, अतः अब उनका विवेचन भी किया जा रहा है:-

जहदजहल्लक्षणा :

यह लक्षणा वहाँ मानी जाती है, जहाँ वाच्यार्थ के एक अंश की संगति नहीं बैठती, किन्तु दूसरे अंश की बैठ जाती है, अतः मुख्यार्थ का कुछ अंश तो लक्ष्यार्था के साथ बनारहता है, और कुछ छोड़ दिया जाता है। इसे 'भागत्याग लक्षणा' भी कहा जा सकता है, जैसे :- वेदान्तियों के 'तत्वमसि' आदि वाक्य इस लक्षणा के उदाहरण हैं। वह वाक्य में 'तत्' पद का शक्यार्थ सर्वज्ञत्व विशिष्ट चेतन पद है और 'त्वं' पद का शक्यार्थ अल्पज्ञत्व विशिष्ट चेतन है। उन दोनों शक्य अर्थों का अभेद नहीं बन सकता, अतः सर्वज्ञत्वरूप शक्यता अवच्छेदक धर्म का परित्याग करके 'तत्' पद की चेतनमात्र

में लक्षणा होती है। और इसी प्रकार अल्पज्ञत्वरूप शक्यता अवच्छेदक धर्म का परित्याग करके 'त्वम्' पद की चेतनमात्र में लक्षणा होती है। इन चेतनों का परस्पर अभेद सम्भव है, अतः 'तत्' पद की तथा 'त्वं' पद की जो चेतनमात्र में लक्षणा है, वह लक्षणा 'जहतअजहतुलक्षणा' कही जाती है। नैयायिकों ने तो इस लक्षणा का उदाहरण 'सोऽयं देवदत्तः' दिया है। इसमें तत्देशकाल विशिष्ट देवदत्तः 'सः' शब्द का शक्यार्थ है और एतत्देशकालविशिष्ट देवदत्त 'अयं' शब्द का शक्यार्थ है। उन दोनों विशिष्टों की एकता के असम्भव होने पर, उस विशेषण अंश का परित्याग करके, उन पदों की, उस देवदत्त नामक पुरूष में लक्षणा की जाती है।

लक्षित लक्षणा :

कुछ ने चौथा प्रकार की लक्षणा 'लक्षित लक्षणा' भी मानी है, जिसका निरूपण विश्वनाथ ने मुक्तावली में किया है। 'लक्षितलक्षणा' का अभिप्राय है कि 'पद के शक्य अर्थ का जो परम्परा सम्बन्धरूप लक्षणा है, वह लक्षणा 'लक्षितलक्षणा' कही जाती है। जैसे - 'द्विरेफो रौति' यहाँ 'द्विरेफ' शब्द का शक्य अर्थ 'दो रकार है' और उन दो रकारों में शब्द का कर्तृगमन सम्भव नहीं; अतः उस वाक्य को श्रवण करके श्रोता पुरूष उस 'द्विरेफ' पद की 'मधुप' अर्थात् 'भ्रमर' में लक्षणा करता है। उक्त वाक्य में 'द्विरेफ' पद के शक्य अर्थ रूप दो रकारों का तथा भ्रमर का साक्षात्सम्बन्ध तो है नही, किन्तु परम्परासम्बन्ध है। अतः यहां द्विरेफ की परम्परा सम्बन्ध से 'भ्रमर' में लक्षणा की जाती है, इसे ही 'लक्षितलक्षणा' कहा जाता है। इसे मुख्यरूप से वेदान्ती मानते हैं।

इस लक्षितलक्षणा को कुछ ग्रन्थकार पृथक न मानकर जहल्लक्षणा में अन्तर्भूत मानते हैं।

लक्षणा के अन्य प्रकार से भेद :

कुछ विद्वानों ने लक्षणा के दो भेद माने हैं :- [1] केवल लक्षणा, [2] लक्षित लक्षणा ये शक्य अर्थ के साक्षत्सम्बन्ध को 'केवल लक्षणा' तथा शक्य अर्थ के परम्परा संबंध को 'लक्षित लक्षणा' मानते हैं। ये केवल लक्षणा के भी जहतलक्षणा, अजहतलक्षणा और जहतअजहतलक्षणा ये तीन भेद मानते हैं।

गौणी वृत्तिवादी :

कुछ शास्त्र में गौणीवृत्ति को भी वृत्ति का तृतीय भेद माना गया है, किन्तु जगदीश तर्कालंकार ने 'तर्कामृत' में 'गौणीवृत्तिरपि लक्षणैव' कहकर गुणों के आधार पर होने वाली गौणी वृत्ति को भी लक्षणा ही माना है, जैसे :- 'अग्निर्माणवकः' में अग्नि पद की 'अग्निसदृशरूप' अर्थ में लक्षणा है, अर्थात् 'यह माणवक [बच्चा] अग्नि के समान तेजस्वी है' यह उक्त वाक्य का अभिप्राय है। इस प्रकार उक्त वाक्य में लक्षणा द्वारा अग्नि आदि के सादृश्य रूप अर्थ की प्रतीति होती है।

लक्षणा के स्थल :

'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में विश्वनाथ ने यह विवेचन किया है कि :- तत्पुरुष समास में पूर्वपद में तथा बहुव्रीहि समास में उत्तरपद में लक्षणा की जाती है। द्वन्द्व समास के दो भेदों में से इतरेतर द्वन्द्व में लक्षणा नहीं होती, जबकि समाहार द्वन्द्व में यदि समाहार का भी शब्दबोध होता है, तो समाहार में लक्षणा कर ली जाती है, जैसे 'अहिनकुलम्' में परपद 'नकुल' की 'अहिनकुल' समाहार में लक्षणाकर पूर्वपद 'अहि', 'नकुल पदं अहिनकुल समाहारं बोधयतु' इस तात्पर्य का ग्राहक होगा। कर्मधारय समास में लक्षणा नहीं हो सकती।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि विश्वनाथ के अनुसार तत्पुरुष समास बहुव्रीहि समास तथा द्वन्द्व समास के भेद समाहार द्वन्द्व में तो लक्षणा हो सकती है, किन्तु इतरेतर द्वन्द्व तथा कर्मधारय समास में लक्षणा नहीं की जा सकती।

शाब्दबोध कारण निरूपण

शाब्दबोध के कितने कारण होते हैं, इस विषय में न्यायवैशेषिक के सम्मिश्रित ग्रन्थों में कुछ मतभेद दृष्टिगोचर होता है। तर्कभाषा तथा तर्कसंग्रह में शाब्दबोध के तीन कारण बताये गये हैं :- आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि [आसत्ति], जबकि तर्कामृत तथा कारिकावली में शाब्दबोध के चार कारण बताये गये हैं :- आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि अथवा आसत्ति और तात्पर्य। तर्ककौमुदी में लौगाक्षिभास्कर ने भी शाब्दबोध के तीन सहकारिकारण ही माने हैं:- आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि इस प्रकार के

कुछ ने तीन तथा कुछ ने शाब्दबोध के चार कारण बताये हैं, अतः अब इन चारों कारणों का विवेचन किया जा रहा है :-

आकांक्षा :

आकांक्षा का अर्थ है 'अभिधानपर्यवसानम्' जैसे :- 'घट' कहने से आकांक्षा बनी रहती है। उस आकांक्षा की पूर्ति 'आनय' कहने से होती है। अन्य पद को सुनने की यह इच्छा ही आकांक्षा है। परस्पर आकांक्षा विरहित होने पर गो, अश्व, पुरूष, हाथी इन पदों का समूह वाक्य नहीं कहला सकता।[1] अतः एक पद में दूसरे पद के बिना प्रयुक्त होने पर शब्द बोध करवाने की जो असमर्थता रहती है, वही आकांक्षा है।

विश्वनाथ पंचानन [2] ने भी कहा है कि जिस पद के बिना जिस पद में शाब्द बोध जनकता न रहे, उसके साथ उसकी आकांक्षा होती है' - 'यत्पदेन बिना यस्याननुभावकता भवेत'। जैसे :- जिस क्रिया पद के बिना कर्मादि कारक पद का अन्वयबोध न हो सके, उस क्रिया पद के साथ उस कारक पद की आकांक्षा है।

जगदीश तर्कालंकार ने तर्कामृत में कहा है कि 'स्वरूपयोग्यत्वे सति अजनितान्वयबोधकत्व माकांक्षा' अर्थात स्वरूपयोग और अजनितान्वयबोध वाले पदों में परस्पर आकांक्षा होती है।

अन्नम्भट्ट ने 'तर्कसंग्रह' में 'पदस्य पदान्तर व्यतिरेक प्रयुक्तान्वयाननु-भावकत्वआकांक्षा' ऐसा कहा है अर्थात एक पद का दूसरे अर्थ के बिना प्रयुक्त होने पर शाब्दबोध करवाने की असमर्थता आकांक्षा है।

लौगाक्षिभास्कर ने 'तर्ककौमुदी' में कहा है कि 'यस्य पदस्य येन पदेन विनान्वयानुभवजनकत्वं नास्ति तस्य पदस्य तेन पदेन समभिव्याहार आकांक्षा' अर्थात् जिस पद के बिना जिस पद के शाब्दबोध की जनकता नहीं होती है, उस पद में जो उस

1- केशवमिश्र कृत तर्कभाषा

2- कारिकावली - कारिका 84.

पद की समीपता है, उसका नाम आकांक्षा है। जैसे 'घटमानय' इस वचन से घट शाब्दबोध होता है, क्योंकि यहाँ आकांक्षा है, किन्तु घटादि रूप अर्थ के वाचक 'घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः' इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं हो सकता है, क्योंकि इन पदों में उक्त आकांक्षा नहीं है। अतः आकांक्षा को शाब्दबोध में हेतु अवश्य मानना चाहिये।

योग्यता :

शाब्दबोध का दूसरा सहकारि कारण है :- योग्यता। योग्यता का अर्थ है:- पदों के अर्थों में पारस्परिक विरोध का अभाव ।

लोगाक्षिभास्कर ने 'तर्ककौमुदी' में 'एक पदार्थेऽपरपदार्थसंसर्गो योग्यता' ऐसा कहा है अर्थात् एक पदार्थ के साथ दूसरे पदार्थ को जो संसर्ग है, उसी का नाम योग्यता है। ऐसा ही विश्वनाथ ने भी 'मुक्तावली' में कहा है। अन्नम्भट्ट ने 'तर्कसंग्रह' में "अर्थबाधो योग्यता' अर्थात् अर्थ बोधन में बाधा के अभाव को योग्यता कहा है। योग्यता को शाब्दबोध में कारण इसलिये कहा गया है क्योंकि उस योग्यता के न रहने के कारण ही 'वह्निना सिंचति' इस वाक्य से शाब्द बोध नहीं होता, क्योंकि सिंचन की योग्यता जल में होती है, अग्नि में नहीं ।

आसत्ति (सन्निधि) :

शाब्दबोध में आसत्ति को भी कारण माना गया है। सन्निधि का अर्थ है दो या दो से अधिक पदों का बिना अन्तराल के रहना। अतः अन्नम्भट्ट ने 'तर्कसंग्रह' ने 'पदानांमविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः' अर्थात् पदों का बिना विलम्ब के उच्चारण करना सन्निधि है। जगदीश तर्कालंकार के अनुसार - 'अव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युपस्थिरासत्तिः' अर्थात अन्वय सम्बन्ध के प्रतियोगी पद की तथा अन्वय की अनुयोगी पद की व्यवधानरहित उपस्थिति को आसत्ति या सन्निधि कहा जाता है। केशवमिश्र ने 'तर्कभाषा' में 'सन्निहिततत्वं तु पदानामेकेनैव पुंसा अविलम्बेनोच्चरितत्वंम्' अर्थात् एक ही पुरूष द्वारा पदों का अविलम्ब से उच्चरितत्व सन्निधि कहलाती है। ऐसा कहा है। तर्ककौमुदीकार ने भी 'पदानामव्यवधानं सन्निधिः' ऐसा कहा है। किन्तु विश्वनाथ ने कविकावली तथा मुक्तावली में आसत्ति

का अभिप्राय कुछ भिन्न बताया है। उनके अनुसार 'अन्वयप्रतियोग्यनुयोगिपदयोरव्यवधानमासत्तिः' अर्थात अन्वय के प्रतियोगी और अनुयोगी बोधक पद के अव्यवधान या सन्निधान अथवा सामीप्य को 'आसत्ति' कहते हैं, उसके ज्ञान को शाब्दबोध में कारण माना गया है।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि 'व्यवधान से रहित पद जन्य पदार्थ की उपस्थिति 'आसत्ति' है। तात्पर्य यह है कि वाक्य मे प्रयुक्त शब्दों में परस्पर सन्निधि होनी चाहिये। यदि वाक्य में शब्दों का उच्चारण बहुत लम्बे अन्तराल से किया जाय तो इस प्रकार के शब्दों से कोई वाक्य नहीं बन सकता। तर्कसंग्रह की 'तर्कदीपिका' टीका में कहा गया है कि सन्निधि का अर्थ शब्दों का निरन्तर बोध है। 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इस उदाहरण में 'आसत्ति' का अभाव होने के कारण शाब्द बोध नहीं होगा, क्योंकि उक्त पदों के समूह में पद की व्यवधान से रहित उपस्थिति नहीं है, अतः इसे वाक्य नहीं कह सकते । इस प्रकार पदों में अव्यवधान का नाम ही 'आसत्ति' है। उपरोक्त उदाहरण में तो दशकृत व्यवधान कहा जा सकता है। कालकृत व्यवधान उन स्थानों पर होता है जो विलम्ब से उच्चरित किये जाते हैं। लेकिन इस विषय में यह प्रश्न उठता है कि सब पदार्थों का एक ही काल में परस्पर अन्वय कैसे हो सकता है ? इसके अतिरिक्त आशुविनाशी पदार्थों की क्रमिक रूप से प्रतीति नहीं हो सकती। इसके लिये कहा गया है कि जितने भी पदजन्य पदार्थ हैं, उनमें एक काल में स्मरण द्वारा 'खलेकपोतन्याय' से पदार्थों का क्रिया कर्म भाव से अन्वयरूप शाब्दबोध हो जाता है, अर्थात् जैसे :- खलिहान में वृद्ध, युवा, शिशु अवस्था के कबूतर एक साथ उतरते हैं। वैसे ही सब पदार्थ एक ही काल में उपस्थित होकर परस्पर अन्वय प्राप्त करते हैं । यहां क्रमिक प्रतीति न होकर 'खलेकपोतन्याय' से सामूहिक और सह प्रतीति होती है।[1]

इसी संदर्भ में विश्वनाथ ने 'मुक्तावली' में वैयाकरणों के 'पदस्फोटवाद' का भी खण्डन किया है।

1- कारिकावली - की टीका मुक्तावली 'वृद्धायुवान शिशवं कपोताः खले यथामी युगपत्पतन्ति ।
तथैव सर्वे युगपत् पदार्थाः परस्परेणान्वयिनो भवन्ति ।।'

तात्पर्य :

शाब्दबोध में चतुर्थ कारण 'तात्पर्य' है। तर्कामृत तथा कारिकावली में ही 'तात्पर्य' को भी शाब्दबोध में हेतु माना गया है, तर्कभाषा, तर्कसंग्रह, तथा तर्ककौमुदी में तात्पर्य ज्ञान का विवेचन नहीं किया गया है।

जगदीश तर्कालंकार ने 'तर्कामृत' में 'तत्तदर्थप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यम्' अर्थात किसी अर्थ विशेष के प्रतीति की इच्छा को तात्पर्य कहा है।

तात्पर्य को यदि शाब्द बोध में कारण नहीं माना जायेगा तो 'सैन्धवमानय' इस वाक्य से कहीं यात्रा के प्रसंग में 'सैन्धव' पद से 'घोड़' और कहीं भोजन के प्रसंग में 'सैन्धव' पद से 'नमक' अर्थ का जो बोध होता है, वह नहीं हो सकेगा। अतः शाब्दबोध में 'तात्पर्यज्ञान' को कारणमानना आवश्यक है।

वेद के अर्थ ज्ञान के लिये ईश्वर के तात्पर्य ज्ञान को ही कारण माना जाता है। इसी प्रकार शुक के वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में भी ईश्वर का ही तात्पर्य ज्ञान ही कारण है।

कुछ विद्वानों का मत है कि सभी शाब्दबोध में तात्पर्य ज्ञान को कारण नहीं माना चाहिये अपितु जहाँ एक शब्द के नाना अर्थ दृष्टिगोचर हो, वही तात्पर्य ज्ञान को कारण मानना चाहिये ।[1]

शब्द प्रमाण के भेद :

'तर्ककौमुदी' में ही शब्द प्रमाण के भेदों का निरूपण किया गया है अन्य ग्रन्थों में नही किया गया है। लौगाक्षिभास्कर ने शब्द प्रमाण के तीन भेद बताये हैं:- 1- विधि, 2- निषेध, 3- अर्थवाद । अब इनका विवेचन किया जा रहा है:-

---

1- मुक्तावली :- 'अन्ये तु नानार्थादौ क्वचिदेव तात्पर्यज्ञानं कारणम् तथा च शुकवाक्ये विनैव तात्पर्यज्ञानं शाब्दबोध, वेद त्वनादिमीमांसापरिशोधित तर्कस्र्थाव धारणादित्याहुः । - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 84.

विधि :

लौगाक्षिभास्कर ने 'तर्ककौमुदी' में इसका लक्षण 'प्रवृत्ति परं वाक्यं विधि' किया है, तात्पर्य यह है कि प्रवृत्तिपरक वाक्य को विधि कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जो वाक्य किसी कार्य में प्रवृत करता है, उसे विधि कहा जाता है। लौगाक्षिभास्कर ने 'अर्थसंग्रह' में अज्ञातार्थ ज्ञापकों वेदभागों विधि' ऐसा विधि का लक्षण किया गया है।

'विधि' का एक लक्षण यह भी किया जा सकता है कि 'इष्ट की साधनता का बोधक जो प्रत्यय है, उस प्रत्यय से घटित जो वाक्य है, वह वाक्य 'विधि' कहा जाता है। जैसे - 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग कामों यष्जेत्' में 'ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ, स्वर्ग रूप इष्ट का साधन है तथा 'ओदनकामस्तण्डुलंपचेत्' अर्थात् तण्डुलकर्मकपाक ओदन रूप इष्ट का साधन है। उपरोक्त उदाहरणों में यजेत्, पचेत आदि प्रत्यय इष्ट की साधनता का बोध कराते हैं, अतः इन्हें विधि प्रत्यय कहा जाता है। कुछ विद्वानों ने इस विधि वाक्य को तीन प्रकार का माना है :- अपूर्व विधि, नियम विधि और परिसंख्या विधि, किन्तु 'तर्ककौमुद्री' में विधि के भेदों का उल्लेख नहीं किया गया है।

निषेध :

लौगाक्षिभास्कर ने 'तर्ककौमुदी' में शब्द प्रमाण का द्वितीय भेद 'निषेध' बताया है तथा इसका लक्षण - 'निवृत्तिपरं वाक्यं निषेध' किया है तात्पर्य यह है कि 'निवृतितपरक वाक्य को 'निषेध' कहा जाता है। लौगाक्षिभास्कर ने अर्थसंग्रह में इसका लक्षण 'पुरूषस्य निर्वतकं वाक्यं निषेध' किया है, तात्पर्य यह है कि जो वाक्य पुरूष को किसी क्रिया को करने से निवृत कराता है, उसे 'निषेध' कहते हैं। अनर्थ उत्पन्न करने वाली क्रियाओं से निवृत्त कराना ही 'निषेध' वाक्यों का प्रयोजन है।

जिस प्रकार विधि वाक्य प्रवर्त्तना को प्रतिपादित करता हुआ अपने प्रवर्तकत्व का निर्वाह करने के लिये विधीयमान यागादि से इष्टसाधनता का निश्चय करता हुआ पुरूष को यागादि में प्रवृत्त कराता है, उसी प्रकार 'न कलंजं भक्षयेत' इत्यादि 'निषेधवाक्य' भी निषेध का बोध कराता हुआ अपने निवर्त्तकत्व का निर्वाह करने के लिये निषेध्य कलंज भक्षण में अनिष्ट का निश्चय करता हुआ, पुरूष के कलंज्ज भक्षण से निवृत्त कराता है।

अर्थवाद :

लौगाक्षिभास्कर ने 'तर्ककौमुदी' में शब्द प्रमाण का तृतीय भेद 'अर्थवाद' को बताया है। 'अर्थवाद' का लक्षण 'विधिनिषेधभिन्नः शब्दो अर्थवादः' किया है, अभिप्राय यह है कि विधि और निषेध वाक्यों से अभिन्न जो शब्द हैं, वह अर्थवाद कहा जाता है। इसी लक्षण को और स्पष्ट करते हुये 'लौगाक्षिभास्कर' ने 'अर्थसंग्रह' में कहा है कि 'प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः' अर्थात् 'प्रशंसा अथवा निन्दापरक वाक्य को 'अर्थवाद' कहते हैं, जैसे :- 'आदित्योयूपः' अर्थात् 'यूपः आदित्य है' । आदित्य और यूप एक होना प्रत्यक्ष प्रमाण से वाधित है अतएव यहाँ लक्षणा से यूप आदि के सदृश उज्जवल इस प्रकार का उज्जवलत्व रूप गुण प्रतिपादित होता है।

लौगाक्षिभास्कर ने 'तर्ककौमुदी' में शब्द प्रमाण के विधि, निषेध और अर्थवाद, ये तीन भेद बताये हैं, किन्तु कुछ विद्वान विधि, मन्त्र और अर्थवाद ये तीन भेद शब्द प्रमाण के मानते हैं। 'मन्त्र' का लक्षण लौगाक्षिभास्कर ने 'तर्कसंग्रह' में 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः' किया है अर्थात अनुष्ठान से सम्बद्ध द्रव्य, देवता आदि का जो स्मरण कराते हैं, उन्हें 'मन्त्र' कहते हैं। प्रयोग समवेत अर्थ का स्मरण कराना ही 'मन्त्र' का प्रयोजन है।

इस प्रकार 'तर्ककौमुदी' के आधार पर शब्द प्रमाण के भेदों का निरूपण किया गया ।

निष्कर्ष:

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि चार्वाक, बौद्ध और वैशेषिक 'शब्द' का पृथक प्रमाणत्व स्वीकार नहीं करते, जबकि नैयायिक, मीमांसक आदि अन्य दार्शनिकों ने शब्द को पृथक् प्रमाण माना है। किसी भी प्रमाण की उपयोगिता प्रमुख रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि शास्त्रकारों द्वारा उसका पृथक अस्तित्व स्वीकार किया जाता है या नहीं। इस दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि अधिकांश शास्त्रकारों ने 'शब्द' को पृथक प्रमाण स्वीकार किया है, अतः इसकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध है, अतः 'शब्द प्रमाण' को पृथक प्रमाण मानना उचित ही है।

(चतुर्थ - अध्याय)

(क) अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव

(ख) प्रामाण्यवाद ।

(क) 'अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव:'

पूर्व चतुर्विध प्रमाणों का विवेचन किया जा चुका है । ये चार ही नैयायिकों को मान्य हैं। इनके अतिरिक्त वेदान्ती और मीमांसक 'अर्थापत्ति' को तथा 'अभाव' को भी प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं, इसी प्रकार पुराणादि सम्भव और ऐतिह्य को भी प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं, अतः इनके अनुसार चार ही प्रमाण मानना पर्याप्त नहीं, परन्तु नैयायिक इन चार प्रमाणों में ही अर्थापत्ति आदि का अन्तर्भाव मानते हैं। अब प्रश्न यह है कि 'अर्थापत्ति' का अन्तर्भाव किस प्रमाण मे और कैसे हुआ ? जहां तक अर्थापत्ति के अन्तर्भाव का प्रश्न है तो तर्कभाषाकार, तार्किक रक्षाकार तथा मुक्तावलीकार ने 'अर्थापत्ति' को 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' ही माना है। अर्थापत्ति का लक्षण-मीमांसकों और वेदान्तियों ने किया है, क्योंकि वे इसे उपर्युक्त चारों प्रमाणों से भिन्न रूप से स्वीकार करते हैं। वरदराज, विश्वनाथ और केशव मिश्र ने इसका खण्डन किया है। केशव मिश्र, इसे स्पष्ट करते हुये उसका खण्डन करते हैं। केशव मिश्र[1] ने 'अर्थापत्ति' का एतादृश लक्षण किया है :-

'उपपाद्य के ज्ञान से, उपपादक का ज्ञान 'अर्थापत्ति' कहलाता है। अर्थात उपपाद्य से उत्पन्न उपपादक का ज्ञान ही अर्थापत्ति है और उसका साधन 'अर्थापत्ति प्रमाण' यथा- 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' अर्थात देवदत्त दिन में नहीं खाता, फिर भी मोटा है, ऐसा देखने या सुनने पर, उसके रात्रि भोजन की कल्पना की जाती है, क्योंकि दिन में न खाने पर भी उसका मोटा होना, रात्रि भोजन के बिना सम्भव नहीं है, अतः अन्यथा पीनत्व की अनुपपत्ति ही रात्रि भोजन में प्रमाण होती है, और यह अर्थापत्ति प्रमाण, रात्रि भोजन के प्रत्यक्षादि का विषय न होने से प्रत्यक्षादि से भिन्न (अलग) ही प्रमाण है। केशव मिश्र ने एतादृश लक्षण करने के पश्चात्, इसके अनुमान में अन्तर्भाव की प्रक्रिया इस प्रकार बतायी है- अर्थापत्ति पृथक प्रमाण नहीं है, क्योंकि रात्रि का भोजन अनुमान का

---

1. तत्रोपपाद्य ज्ञानेनोपपादकं कल्पनमर्थापत्तिः'- तर्कभाषा ।

विषय है, अर्थात 'यह देवदत्त रात्रि में खाता है, यह 'प्रतिज्ञा' हुई, दिन में न खाने पर भी मोटा होने से, यह 'हेतु' हुआ, जो रात्रि में नहीं खाता, वह दिन में खाने पर मोटा नहीं होता, जैसे-नवरात्रोपवासी पुरूष, 'यह व्यतिरेक व्याप्ति का 'उदाहरण' है, यह देवदत्त वैसा नहीं है, यह 'उपनय' हुआ, अतः वैसा नहीं, यह 'निगमन' हुआ।

इस प्रकार केवल व्यतिरेकी अनुमान में, अर्थापत्ति का अन्तर्भाव हो जाने से, यह पृथक प्रमाण नहीं है[1]।

इसी प्रकार 'अभाव' का अन्तर्भाव भी नैयायिक 'प्रत्यक्ष' प्रमाण में तथा 'प्रशस्तपाद'[2] आदि 'अनुमान' में करते हैं। मीमांसक और वेदान्तियों ने भूतलादि में घटादि का अभाव स्वीकार करने के लिये ही 'अभाव' प्रमाण को माना है। केशवमिश्र के अनुसार 'यदि यहां घड़ा होता तो भूतल के समान वह दिखाई देता, इस प्रकार तर्क के सहकारी अनुपलम्भ से युक्त, प्रत्यक्ष प्रमाण से ही भूतल में घटाभाव का ज्ञान हो जाता है, अतः 'अभाव' प्रमाण की पृथक आवश्यकता नहीं है।[3] 'अभाव प्रमाण' की प्रत्यक्ष में सिद्धि, केशवमित्र ने विभिन्न युक्तियों द्वारा की है, जिसका विवेचन यहां पर नहीं किया जा रहा है।

सांख्य-योग दार्शनिक यह मानते हैं कि घट का भूतल में अभाव, भूतल का ही परिणाम विशेष है। सभी पदार्थ-चिति तत्व पुरूष को छोड़कर, अन्य सभी तत्व 'परिणामी' हैं और भूतल का परिणाम घटाभाव चक्षुरूप इन्द्रिय से ग्राह्य है। अतः इन्द्रिय ग्रहण होने से यह भी प्रत्यक्ष ही होगा, अतः अभाव को प्रत्यक्ष का विषय होने से अभाव प्रमाण को मानने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसा ही केशवमित्र का भी मत है।

'सम्भव' प्रमाण का स्वरूप 'वरदराज' ने 'तार्किकरक्षा' की 'सारसंग्रह टीका' में इस प्रकार बताया है-'सहस्त्रादेः शतादिविज्ञानम् सम्भवो नाम' अर्थात सहस्त्रादि में शत

---

1. केशवमिश्र कृत 'तर्कभाषा'।
2. प्रशस्तपादभाष्य-अनुमान प्रकरण।
3. तर्कभाषा तथा तार्किकरक्षा पर 'सारसंग्रह' टीका।

आदि का जो ज्ञान होता है, वह 'सम्भव' प्रमाण द्वारा होता है, परन्तु यह भी अनुमान ही है, यथा-सारी का अस्तित्व बिना द्रोण आढ़कादि के सम्भव नहीं है, अतः सारी को देखकर द्रोण आढ़कादि के अस्तित्व का अनुमान ही होता है।

वरदराज का भी कथन है कि 'अविनाभावरूप से सम्बद्ध समुदाय एवं समुदायी में से, समुदाय के ज्ञान से समुदायी का ज्ञान होता है और यह ज्ञान अनुमान से भिन्न नहीं है, अतः पौराणिकाभिमत 'सम्भव' भी पृथक प्रमाण नहीं है।

जहां तक 'ऐतिह्य' प्रमाण का प्रश्न है, न्याय तथा वैशेषिक दार्शनिक ऐतिह्य को पृथक प्रमाण मानने को प्रस्तुत नहीं, ऐतिह्य का स्वरूप है 'इतिहोचुर्वृद्धा' अर्थात 'प्राचीन लोग ऐसा कहते हैं' इस प्रकार किसी विशेष आप्तव्यक्ति का नाम निर्देश न करके, केवल परम्परा से चले आ रहे कथन को 'ऐतिह्य' कहा जाता है[2]। किन्तु नैयायिक ऐतिह्य तथा शब्द प्रमाण का लक्षण समान मानकर ऐतिह्य प्रमाण को, शब्द प्रमाण ही मानते हैं। अतः ऐतिह्य प्रमाण कोई पृथक प्रमाण नहीं, अपितु शब्द प्रमाण ही है।

किन्तु सांख्य-योग दार्शनिकों का मत नैयायिकों से भिन्न है, वे 'ऐतिह्य' को प्रमाण ही नहीं मानते, उनका कथन है कि ऐतिह्य वस्तुतः परम्परागत जनश्रुति ही है, जब उस श्रुति के वक्ता का पता ही नहीं तो यह आप्त वाक्य भी नहीं हो सकती, अतः यह आप्त या आगम भी नहीं और निश्चित वक्ता के न होने से इसे प्रमाण भी नहीं कहा जा सकता, अतः 'ऐतिह्य' प्रमाण ही नहीं हो सकता।

इस प्रकार नैयायिकी तथा न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित ग्रन्थों के ग्रन्थकारों को मुख्यतः चार प्रमाण ही अभिमत हैं, इन्हीं चारों प्रमाणों में अन्य सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है, इन चारों प्रमाणों के द्वारा ही सभी पदार्थों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

---

1. तार्किकरक्षा-सारसंग्रह टीका तथा न्याय भाष्य 2/2/2
2. न्याय भाष्य-2/2/1।

अत: उपर्युक्त विवेचन के अनुसार अर्थापत्ति का अनुमान प्रमाण में, अभाव का प्रत्यक्ष में और सम्भव का अनुमान प्रमाण में तथा ऐतिह्य का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव हो जाता है। इस विषय को केशवमिश्र ने तथा विश्वनाथ ने स्पष्ट किया है, तथा तार्किकरक्षा की सारसंग्रह टीका में भी इसकी व्याख्या की है, जिसका इस स्थल पर संक्षिप्त विवेचन ही किया गया है।

यहां यह बताना भी अत्यावश्यक है कि वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान में दो ही प्रमाण मानता है और उपमान तथा शब्द का अन्तर्भाव 'अनुमान' में ही कर लेते हैं, किन्तु नैयायिक इसका खण्डन करते हुए, उपमान और शब्द को पृथक मानते हैं। इसका विस्तृत निरूपण उपमान तथा शब्द प्रमाण का निरूपण करते समय किया जा चुका है।

[ख] प्रामाण्यवाद

प्रमाणों के विवेचन करने के पश्चात् अब 'प्रामाण्यवाद' का निरूपण किया जा रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रामाण्यवाद' में यह बताया जायेगा कि प्रमाण से उत्पन्न होने वाले पदार्थ ज्ञान के प्रामाण्य-प्रमात्व का ज्ञान किस प्रकार होता है ? इस विषय में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों में परस्पर मतभेद है। जिसका संक्षिप्त विवेचन यहां पर किया जायेगा, किन्तु इसके विवेचन करने के पूर्व 'प्रामाण्य' के स्वरूप को समझाना अत्यावश्यक है, अत: अब 'प्रामाण्य' के अर्थ एवं उसके स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है:-

प्रमाण्य का अर्थ तथा स्वरूप :

प्र उपसर्गपूर्वक मा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'प्रमाण' शब्द बनता है जिसका, अर्थ होता है-यर्थाथ ज्ञान का कारण या साधन। 'प्रमाण' शब्द में लगने वाले ल्युट् प्रत्यय को जब करण अर्थ में स्वीकार किया जायेगा तब प्रमाण का अर्थ साधनपरक होगा, तथा जब भाव में ल्युट् प्रत्यय किया जायेगा, तब प्रमाण का अर्थ होगा-यर्थाथ ज्ञान। इसी 'प्रमाण' शब्द में प्र, ष्यञ् प्रत्यय लगकर 'प्रामाण्य' शब्द की निष्पत्ति होती है। यह ष्यञ्

प्रत्यय भी भाव और कर्म दोनो अर्थों में होता है, अतः प्रमाण शब्द में भाव अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय लगकर बनने वाले 'प्रामाण्य' शब्द का अर्थ होगा-प्रमाण होना, यथा-'शब्द का प्रामाण्य' इसका अर्थ हुआ 'शब्द का प्रमाण' होना। जब यही ष्यञ् प्रत्यय प्रमाण से कर्म अर्थ में लगता है, तब इस 'प्रमाण्य' शब्द का अर्थ होता है 'यथार्थता अथवा प्रामाणिकता'।

ज्ञान एक कार्य है और प्रामाण्य उस ज्ञान से भिन्न एक प्रकार का ज्ञान है और कार्य है।

प्रामाण्य का अर्थ समझने के पश्चात् यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि इस 'प्रामाण्य' का स्वरूप क्या है? 'प्रामाण्य' का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है:-

जब एक घट देखते हैं और ज्ञान होता है कि 'यह घट है' घट विषयक यह ज्ञान प्रभा भी हो सकता है कि और अप्रमा भी। ज्ञाता को यह प्रबल इच्छा होती है कि अपने ज्ञान के विषय में जाने कि वह प्रमा है अथवा नहीं, कहने का तात्पर्य यह है कि, ज्ञाता को प्रमा के याथार्थ्य और प्रमाण के सत्यत्व निर्धारण की इच्छा होती है। ज्ञान का यही यथार्थ्य और उसके द्वारा प्रमाण का सत्यत्व निश्चय ही 'प्रामाण्य' है और इसका विरोधी 'अप्रमाण्य' होता है।

प्रामाण्य के विषय में एक जिज्ञासा यह भी होती है कि 'प्रामाण्य' का सम्बन्ध 'प्रमा' से है अथवा 'प्रमाण' से। न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा के जिन ग्रन्थों में प्रामाण्यवाद पर विचार किया गया है, यहां स्पष्टतः 'प्रामाण्य' शब्द का उपयोग 'प्रमा' और 'प्रमाण' दोनों के लिये ही किया गया है।

न्यायमंजरीकार ने 'प्रमाण्य' का विवेचन करते हुए इसे 'ज्ञान से सम्बद्ध स्वीकार किया है[1]। जबकि शास्त्रदीपिका[2] तथा न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों-यथा

---

1. न्यायमंजरी-पृष्ठ-146, 147

2. शास्त्रदीपिका-पृष्ठ-32

यथा तर्कभाषा[1] तथा कारिकावली[2] में 'प्रामाण्य' को स्पष्टतः प्रमा से सम्बद्ध स्वीकार किया गया है।

अतः मतभेदों को देखते हुये यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमा से है या प्रमाण से तो इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि प्रामाण्य, प्रमा और प्रमाण दोनों से ही सम्बद्ध होता है, जहां प्रमा की यथार्थता जाननी अभीष्ट होती है, वहां 'प्रमाण्य' का विषय प्रमा होती है और जब प्रामाण्य 'प्रमा' से सम्बद्ध होता है, तब जब प्रामाण्य द्वारा प्रमाण की यथार्थता का ज्ञान किया जाता है, तब प्रामाण्य का सम्बन्ध 'प्रमाण से होता है।

अब यह जानना भी अवश्यक है कि 'प्रामाण्य' की अवश्यकता क्यों है:-

प्रमाण्य की आवश्यकता :

किसी भी विषय की सत्यता और निश्चेयता के लिए प्रामाण्य ज्ञान आवश्यक है। प्रमा और प्रमाण के सत्यत्व का मूल्यांकन प्रामाण्य द्वारा ही होता है। किसी ज्ञान के विषय में संशय, विपर्यय जैसी शंकाओं का निरास भी प्रामाण्य द्वारा ही होता है। यदि ज्ञान के प्रमाण्य और प्रामाण्य का निर्धारण नहीं होगा तो अनिश्चित ज्ञान सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार को असम्भव बना देगा, अतः विशेषतः प्रमाणों का अध्ययन करने वाले न्याय शास्त्र में प्रामाण्यवाद की अवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है।

वैसे तो प्रामाण्यवाद की अवधारणा का विकास, वेद के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये हुआ है:-

'तदर्थमिदं सर्वज्ञानान्यधिकृत्य चिन्त्यते।[3]

----

1. तर्कभाषा-जलादिज्ञाने जाते तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते।
2. कारिकावली-136 कारिका तथा मुक्तावली-पृष्ठ-485।
3. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ-20

जहां तक प्रत्यक्षादि प्रमाणों के प्रामाण्य का प्रश्न है तो, प्रामाण्य के अभाव में भी, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से व्यवहार की सिद्ध होती है, किन्तु वेद अदृष्टार्थक हैं, अतः वेदविहित विधानों में प्रवृत्ति के लिये वेद प्रमाण अर्थात शब्द प्रमाण का प्रामाण्य निर्धारण आवश्यक है[1]। वेदार्थ संरक्षण के लिये प्रवृत्त न्यायशास्त्र में इसलिये भी प्रामाण्य पर चिन्तन आवश्यक हो जाता है[2]।

प्रामाण्य विषय विभिन्न मतः

प्रामाण्यवाद, भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण विषय है। सभी दर्शनों में इसके ऊपर विचार किया गया है, किन्तु मीमांसा दर्शन तथा न्याय-वैशेषिक में इस पर विशेषरूप से विचार किया गया है। अब सभी दर्शनों के प्रामाण्य विषयक विचारों का संक्षिप्त विवेचन यहां पर किया जा रहा है:-

न्यायमत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतोग्राह्य है। तात्पर्य यह है कि जिन कारणों से प्रामाण्य और अप्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है, केवल उन्हीं कारणों से प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता, बल्कि उनके लिये अन्य कारणों की अपेक्षा होती है।

मीमांसा दर्शन की यह मान्यता है कि प्रामाण्य तो स्वतोग्राह्य है, किन्तु अप्रामाण्य परतोग्राह्य है। स्वतोग्राह्य का तात्पर्य यह है कि जिस कारण सामग्री से प्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है, उसी कारण सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है, उसके लिये किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं होती।

प्रमाणिकता के ग्रहण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में मीमांसकों में भी तीन सम्प्रदाय है:- प्राभाकर, कुमारिलभट्ट और मुरारि मिश्र।

प्रभाकर के अनुसार प्रत्येक ज्ञान के तीन अंश होते हैं:-मिति, मातृ और मेय अर्थात ज्ञान, ज्ञान का आश्रय और ज्ञान का विषय । इनके अनुसार घट विषयक ज्ञान 'यह

---

1. न्यायमंजरी-भाग-1 पृष्ठ-155

घट है' एवं 'मैं घट विषयक ज्ञानवान हूं' इस प्रकार का व्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, यह व्यवसाय को स्वतः प्रकाशरूप मानते हैं, अतः उसका प्रामाण्य भी प्रकाश के समान ही स्वतःगृहीत होता है।

इसके अतिरिक्त मीमांसक वेद को ईश्वर कृत मानते हैं, अतः ईश्वर कृत रचना प्रामाणिकता के लिये वे किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा स्वीकार नहीं करते[1]।

कुमारिल भट के अनुसार ज्ञान स्वयं अतीन्द्रिय होता है और उसका ग्रहण'ज्ञातता' हेतु युक्त अनुमिति द्वारा होता है इनके मतानुसार 'स्वतोग्राह्य' का अर्थ है-'स्व' अर्थात 'स्वकीय ज्ञातता लिंग युक्त अनुमिति' से ग्राह्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस मत में ज्ञाततालिंगक अनुमान ज्ञान का ग्राहक होता है और उसी से ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान होता है, उसके लिये किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार इस मत में भी प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व ही माना जाता है।

मुरारि मिश्र का मत, न्याय मत के अनुसार ही है। इनके मत में भी ज्ञान अनुव्यवसाय से गृहीत होता है। इनका न्यायमत से अन्तर मात्र इतना ही है कि न्यायमत में अनुव्यवसाय में केवल ज्ञान का ही ग्रहण होता है, जबकि मुरारि मिश्र के मत में अनुव्यवसाय ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है, क्योंकि अन्य दोनों मीमांसकों के समान ही, यह भी प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य ही मानते हैं।

इसप्रकार प्राभाकर, कुमारिल और मुरारि मिश्र इन तीनों प्रसिद्ध मीमांसाचार्यों के मत में ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है और स्वतोग्राह्य का अर्थ है, अन्य कारण की अपेक्षा न कर केवल ज्ञान सामग्री से ही गृहीत होना।

सांख्य मत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतोग्राह्य माना गया है। इनके मतानुसार यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य को परतोग्राह्य माना जायेगा तो उनके ग्रहण के लिये अतिरिक्त कारण की कल्पना करने से गौरव होगा और यदि स्वतोगाह्य माना जायेगा तो ज्ञान के ग्राहकों से ही उसके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान हो जाने से,

---

1. श्लोकवार्त्तिका-2/68

उसके निमित्त अन्य कारण की कल्पना की आवश्यकता न होने से लाघव होगा, अतः उन दोनों को स्वतोग्राह्य मानना उचित ही है।

श्लोकवार्त्तिक सूत्र-2, श्लोक 47 में 'केचिदाहुर्द्वयं स्वतः' लिखकर इसी सांख्य मत का ही संकेत किया गया है।

माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन संग्रह' में भी सांख्य को न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा इन दोनों से भिन्न प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानने वाला बताया गया है:-'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः'[1]।

बौद्ध दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतोग्राह्य और परतोग्राह्य के विषय मे दो प्रकार क मान्यतायें हैं। कुछ बौद्ध विद्वान अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रामाण्य को परतः मानते हैं। 'सर्वदर्शनसंग्रह' मे सोगताश्चरमं स्वतः' लिखकर इस बौद्ध मत का संकेत दिया गया है। किन्तु 'शान्तिरक्षित' आदि बौद्ध विद्वानों की मान्यता इससे विपरीत है, वे अभ्यास दशापान्न ज्ञान में दोनों को परतः मानते हैं।

इस प्रकार प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व के विषय में वैदिक और अवैदिक दोनों दर्शनों में विभिन्न प्रकार की मान्यतायें दृष्टिगत होती है।

न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में 'प्रामाण्यवाद' :

'तर्कसंग्रह' तथा 'तार्किकरक्षा' में प्रामाण्यवाद पर कोई चर्चा नहीं की गयी है, जबकि 'तर्कामृत' में प्रामाण्यवाद विषयक 'न्यायमत' तथा तीनों मीमांसकाचार्य-प्रभाकर, मुरारि मिश्र तथा भट्ट के मतों की संक्षिप्त चर्चा की गई है। इसी प्रकार 'तर्ककौमुदी' में मीमांसक मत का उल्लेख करते हुये उसका खण्डन अत्यन्त संक्षिप्तरूप में किया गया है। विश्वनाथ ने 'कारिकावली' में कारिका 136 में प्रामाण्य को स्वतोग्राह्यत्व का खण्डन करते हुये कहा है कि 'प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तितः' अर्थात प्रमात्व स्वतोग्राह्य नहीं है,क्योंकि प्रामाण्य को यदि स्वतोग्राह्य माना जायेगा तो संशय ही नहीं बन सकेगा।

---

1. सर्वदर्शनसंग्रह, जैमिनि द0 पृष्ठ 279

तात्पर्य यह है कि प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य नहीं है, क्योंकि जिस ज्ञान में प्रामाण्य निश्चय नहीं है, उसमें 'इदं ज्ञानं प्रमा न वा' यह संशय नहीं बनेगा। यदि ज्ञान ज्ञात है तब फिर प्रामाण्य भी ज्ञात ही है, तब संसय कैसा? और यदि ज्ञान ज्ञात नहीं है, तब संशय भी नहीं बनेगा' क्योंकि एक धर्मी के विरूद्ध अनेक धर्मावगाही ज्ञान ही संशय है' फिर जब धर्मी का ही ज्ञान नहीं तो संशय बनेगा कैसे? अतः ज्ञान में प्रामाण्य की अनुमिति ही होती है, अर्थात प्रामाण्य परतोग्राह्य ही है स्वतोग्राह्य नहीं[1]।

तर्ककोमुदीकार-लोगाक्षिभास्कर ने भी संशय न बन सकने के कारण प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व का खण्डन किया है।

'प्रामाण्यवाद' पर सबसे विस्तृत विवेचन आचार्य केशव मिश्र कृत 'तर्कभाषा' में मिलता है। इसमें मुख्य रूप से मीमांसकाचार्य 'कुमारिल' की मान्यता की आलोचना करते हुए न्याय मत की पुष्टि करने की चेष्टा की गई है। जिसका संक्षिप्त विवेचन यहां पर किया जा रहा है:-

जहां तक प्रामाण्यवाद का प्रश्न है तो इसका विशद रूप से विवेचन मीमांसकों तथा नैयायिकों ने ही किया है। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवाद को मानते हैं, जबकि नैयायिक परतः प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। मीमांसकों में भी तीन मत प्रमुख हैं, जैसा कि पूर्व वर्णन किया जा चुका है, प्रभाकरः ये ज्ञान स्वंय प्रकाश होने से स्वतः प्रमाण मानते हैं, अतः यथार्थ है। उसका प्रामाण्य अपने आप सिद्ध है, उसके लिये दूसरे की आवश्यकता नहीं, इस प्रकार इनका स्वतः प्रामाण्य स्वाभाविक है। दूसरा मत है कुमारिल भट्ट का: इनके मत में जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी सिद्ध हो जाता है। यथाःघट और नेत्र के सन्निकर्ष से 'अयं घट' ऐसा ज्ञान होता है। परन्तु यह ज्ञान स्वप्रकाश नहीं है। अतः 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होने के वाद 'मया ज्ञातोऽयं घटः' मैने घट को जान लिया। यह प्रतीति ही 'ज्ञातता' है, जो अपने कारण ज्ञान से उत्पन्न हुई है। 'अयं घटः' इस ज्ञान से पहले नहीं थी और इस प्रकार घट का ज्ञान होने पर

---

1. विशेष दृष्टव्य-कारिकावली पर 'मुक्तावली' टीका कारिका 136

ही घट ज्ञान होताहै, अन्यथा न तो घट का ज्ञान ही होता है और न तो ज्ञातता ही उत्पनन होती है। इस ज्ञातता की उत्पत्ति के लिये अर्थापत्ति प्रमाण को माना जाता है।

इस प्रकार ज्ञातता की अर्थापत्ति से ही ज्ञान का ग्रहण होता है और उसी से ज्ञान मे रहने वाला प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। अतः इनके मत में'ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्' के अनुसार स्वतः प्रामाण्य है।

मुरारि मिश्र:

तीसरा मत मुरारिमिश्र का है। इनके अनुसार इन्द्रिय और अर्थ का संयोग होने पर 'अयं घटः' इस ज्ञान की प्रतीति होती है। तत्पश्चात् 'अहम् घटज्ञानवान्' इस प्रकार का अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है, इसी अनुव्यवसाय से 'यह घट है' तथा 'मैने घट जान लिया' इस प्रकार प्रामाण्य सिद्ध होता है। यह स्वतः प्रामाण्य हुआ।

उपरोक्त दोनो मतों कुमारिल भट्ट तथा मुरारिमिश्र के मतों में ज्ञान और प्रामाण्य दोनों की ग्राहक सामग्री एक ही है और वह है 'ज्ञाततान्यथानुपपत्ति प्रसूता अर्थापत्ति।'

न्यायमतः

'न्याय मत' का संक्षिप्त विवेचन तो ऊपर किया जा चुका है, किन्तु यहाँ पर उसको स्पष्ट रूप से समझाया जा रहा है:-नैयायिक परतः प्रामाण्य को मानते हैं। उनके अनुसार इन्द्रिय के संयोग से जल का ज्ञान होता है, किन्तु जलार्थी को जब तक जल की प्राप्ति नही होती, उसे यह सन्देह बना ही रहता है कि प्रस्तुत स्थल पर जल की प्राप्ति होगी अथवा नहीं। जल के प्राप्त हो जाने पर यथार्थ ज्ञान होता है, अतः अयं घटः' यह ज्ञान व्यवसाय है। तथा मया ज्ञातोऽयं घटः' यह अनुव्यवसाय है, अतः 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वंपरतस्त्वम्' के अनुसार परतः प्रामाण्य हुआ। न्याय मत में ज्ञानग्राहक सामग्री' अनुव्यवसाय' है तथा प्रामाण्य ग्राहक सामग्री 'प्रवृत्ति साफल्यमूलक अनुमान है। वस्तु की उपलब्धि होने पर ही प्रामाण्य का निश्चय होता है।

मीमांसक मत में ज्ञातता:

मीमांसक अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा 'ज्ञातता' की सिद्धि करते हुये कहते हैं

कि ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता का आधार होना ही ज्ञान विषयत्व है, और इसकी पुष्टि के लिये वे नैयायिकों के 'तदुत्पत्ति सिद्धान्त' तथा बौद्धों के 'तादात्म्य सिद्धान्त' का खण्डन करते हैं। 'तदुत्पत्ति सिद्धान्त' के खण्डन मे यह युक्ति देते हैं कि घट ज्ञान से घट की उत्पत्ति होती है, ऐसा विषयत्व ग्रहण करने पर तो इन्द्रियों का भी विषयत्व हो जायेगा, क्योंकि इन्द्रियों से ही ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः इन्द्रिय और आलोक आदि भी घट ज्ञान के विषय हो जायेगें, किन्तु यह उचित नही है, क्योंकि इन्द्रिय आदि में ज्ञातता न हो सकने के कारण, इन्द्रिय आदि विषय नहीं हो सकते और घट में ज्ञातता सम्भव है, अतः घट विषय है। इस प्रकार नैयायिकों का यह सिद्धान्त उचित नहीं है।

अब बौद्धों के 'तादात्म्य सिद्धान्त' का भी खण्डन करते हुये, मीमांसक कहते हैं कि 'तादात्म्य'से विषयता नहीं हो सकती, क्योंकि घट और घट का ज्ञान तादात्म्य होने से , घट ज्ञान का विषय घट ही होगा, पट नहीं। यह भी उचित नहीं है क्योंकि ज्ञान और विषय दोनों परस्पर भिन्न हैं।

अतः स्पष्ट है कि घट ज्ञान कविषय घट ही होता है, पट नहीं। यह तथ्य इन दोनों ही सिद्धान्तों से प्रतिपादित नहीं किया जा सकता, अतः इस तथ्य के प्रतिपादन के लिये 'ज्ञातता' को मानना आवश्यक है, क्योंकि घट ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता केवल घट में ही रहती है, पट में नहीं। इस प्रकार मीमांसक ज्ञातता' की स्थापना करते हैं।

नैयायिकों द्वारा 'ज्ञातता' का खण्डनः

नैयायिक, मीमांसकों की ज्ञातता का खण्डन करके, उनके स्वतः प्रामाण्यवाद का भी खण्डन करते हैं। नैयायिकों का कथन है कि 'विषयविषयीभाव' के लिये 'ज्ञातता' को मानना ठीक नहीं है। घट और ज्ञान का विषयविषयीभाव तो स्वाभाविक है, उसमें 'ज्ञातता' के आधार मानना व्यर्थ है, क्योंकि विषयविषयीभाव को ज्ञातता के आधार पर यदि माना जायेगा तो उसमें दो दोष होंगेः- (1) प्रथम दोष तो यह कि वर्तमान ज्ञातता का आधार वर्तमान पदार्थ होने के कारण अतीत और अनागत ज्ञान का विषय नहीं हो सकेंगे तब ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता उनमें कैसे रहेगी? अतः 'विषय नियम' को ज्ञातता के आधार पर नहीं माना जा सकता, वह स्वाभाविक ही है। (2) द्वितीय दोष यह होगा

कि ज्ञातता को विषय नियम का आधार मानने पर 'अनवस्था' हो जायेगी। यथा:-'अयं घट:' इस ज्ञान से घट में 'ज्ञातता' की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार 'ज्ञातता' के ज्ञानस्थ होने से उस ज्ञातता से दूसरी ज्ञातता उत्पन्न होगी और उस ज्ञातता के भी ज्ञानस्थ होने से तृतीय ज्ञातता उत्पन्न होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायेगा। अत: 'ज्ञातता' को मानना उचित नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि नैयायिक ज्ञानविषयता के अतिरिक्त ज्ञातता को नहीं मानते और ज्ञातता अयथार्थ ज्ञान की भी होगी और उससे ज्ञान और अप्रामाण्य का ग्रहण एक साथ होगा। इस प्रकार 'ज्ञाततान्यथा नुपपत्ति प्रसूता अर्थापत्ति'से प्रामाण्य के साथ ही अप्रामाण्य का भी ग्रहण होगा। अत: मीमांसकों को प्रामाण्य के समान ही अप्रामाण्य को भी स्वत: मानना चाहिये, किन्तु वे प्रामाण्य को तो स्वत: मानते हैं और अप्रामाण्य को परत:, जो कि उचित नहीं। अत: मीमांसकों का 'ज्ञातता' का सिद्धान्त उचित नहीं है। इस प्रकार नैयायिक-मीमांसक मत का खण्डन करते हैं।

नैयायिक ज्ञान और प्रामाण्य दोनों की सामग्री को पृथक-पृथक स्वीकार करते हैं, इनके अनुसार ज्ञान का ग्रहण तो 'अनुव्यवसाय' से होता है तथा प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ग्रहण' प्रवृत्ति की सफलता और विफलता' के आधार पर होता है। प्रथम प्रमाण से घट: घट जलादि का ज्ञान होता है, फिर मनुष्य उसकी प्राप्ति के लिये प्रवृत्त होता है, यदि उसे घटादि की उपलब्धि हुई तो यह यथार्थ ज्ञान हुआ और नहीं हुई तो अयथार्थ ज्ञान। इसके पश्चात् प्रामाण्य और आप्रामाण्य निश्चित होता है। इस स्थिति को :'अभ्यास दशा' कहते हैं। इसमें अनुमान से प्रामाण्य और आप्रमाण्य का ज्ञान होता है। जैसे-'इदं में जलज्ञान' यहां पर जो संशययुक्त जल का ज्ञान था। वह जल की प्राप्ति अर्थात् प्रवृत्ति के सफल हो जाने से यथार्थ होता है। इस स्थल पर 'केवल व्यतिरेकी' अनुमान है। साफल्यमूलक जलज्ञान 'पक्ष' है, उसकी यथार्थता [प्रमाणता] 'साध्य' है, 'हेतु' सफलप्रवृत्तिजनकत्व है। इस अनुमान से अभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है, किन्तु जहां जल प्रवृत्ति के पहिले ही ज्ञान में प्रामाण्य ग्रहण कर लिया जाता है, वहां 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' हेतु नहीं बन सकता। यह दशा 'अनभ्यास दशापन्न' है। यहां अन्वयव्यतिरेकी अनुमान

से प्रामाण्य की अनुमिति होगी। अतः स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान का ग्रहण 'प्रवृत्ति साफल्यमूलक' अनुमान से होता है। अतः भिन्न-भिन्न सामग्री से ग्रहण होने के कारण स्वतः प्रामाण्य नही होगा, अत. परतः प्रामाण्य ही सिद्ध होता है।

इसी प्रकार कुछ संक्षिप्त युक्तियों द्वारा 'विश्वनाथ' ने भी 'कारिकावली' की टीका 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में भी मीमांसक मत का खण्डन करते हुए 'परतः प्रामाण्यवाद' की स्थापना की है।

पंचम अध्याय

प्रमेय से निग्रह स्थान तक के पदार्थों का निरूपण

प्रमेय निरूपण

न्याय दर्शन में मान्य षोडश पदार्थों में से 'प्रमेय' पदार्थ दूसरा पदार्थ है, अतः प्रमाण पदार्थ के विवेचन के पश्चात् अब इसका विवेचन किया जा रहा है। न्याय दर्शन में द्वादश प्रमेय माने गये हैः

'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफल
दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्'[1]

तात्पर्य यह है कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग, ये द्वादश प्रमेय हैं।

वैशेषिक दर्शन तो प्रमेय प्रधान दर्शन ही है, उसमें मान्य जो सात पदार्थ हैं, वे प्रमेय के अन्तर्गत ही हैं, तात्पर्य यह है कि वैशेषिक में प्रमेय का ही विवेचन विस्तृत रूप से किया गया है और प्रमेय के अन्तर्गत ही 'प्रमाण' पदार्थ का विवेचन किया गया है।

अब न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों में मान्य प्रमेयों का विवेचन करने के पूर्व 'प्रमेय' का तात्पर्य क्या है? यह जानना अत्यावश्यक है, अतः अब 'प्रमेय' का अर्थ बताया जा रहा है।

'प्रमा' अर्थात् यथार्थ ज्ञान का जो विषय होता है, उसे प्रमेय कहते हैं, किन्तु तर्कभाषाकार केशव मिश्र के अनुसार, 'उस प्रमा के विषय को 'प्रमेय' कहते हैं, जिसके ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायता प्राप्त होती है। इन प्रमेयों के मिथ्याज्ञान से मनुष्य संसार रूपी समुद्र में डूबा रहता है, परन्तु जब इन प्रमेयों का 'तत्वज्ञान' हो जाता है, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है, अतः इन प्रमेयों का ज्ञान आवश्यक है।

अब न्याय दर्शन में मान्य प्रमेयों का विवेचन किया जा रहा हैः-

न्याय में मान्य प्रमेय

न्याय दर्शन में द्वादश प्रमेय माने गये हैं, उनमें प्रथम 'आत्मा' प्रमेय है, अतः

---

1. न्यायदर्शन-1.1.90

अब उसका विवेचन किया जा रहा है:

आत्मा :

आत्मा का विवेचन न्याय और वैशेषिक दोनों ही शास्त्रों में किया गया है, अन्तर मात्र इतना है कि न्याय में 'आत्मा' की गणना 'प्रमेय' के अन्तर्गत तथा वैशेषिक में 'द्रव्य' के 'नवम्' भेद के रूप में की गयी है।

जहां तक 'आत्मा' के निरूपण का प्रश्न है तो तार्किक रक्षा तथा तर्कभाषा में आत्मा का विवेचन 'प्रमेय' के प्रथम भेद के रूप में तथा तर्कसंग्रह, तर्कामृत, तर्ककौमुदी तथा करिकावली में 'आत्मा' का विवेचन द्रव्य के 'नवम्' भेद के रूप मे किया गया है।

अब न्याय-वैशेषिक दर्शन की सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित ग्रन्थों के आधार पर 'आत्मा' का विवेचन किया जा रहा है:-

आत्मा का लक्षण:

आत्मा का लक्षण दो प्रकार से किया गया है:- अन्नम्भट्ट ने 'तर्कसंग्रह' में 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' किया है, अर्थात् ज्ञान के आश्रय को 'आत्मा' कहते हैं। इस लक्षणसे विज्ञानवादी मत खण्डित हो जाता है अर्थात तात्पर्य यह है कि 'आत्मा' ज्ञानस्वरूप न होकर, ज्ञान का आश्रयमात्र ही है। अतः ज्ञान को चेतन [आत्मा] मानने वालों का मत स्वतः खण्डित हो जाता है।

केशवमित्र ने 'तर्कभाषा' में तथा लौगाक्षिभास्कर ने 'तर्ककौमुदी' में आत्मा का लक्षण, अन्नम्भट्ट से भिन्न प्रकार से किया है, इनके अनुसार-

'आत्मत्वसामान्यवानात्मा' अर्थात् 'आत्मतत्व सामान्य जिसमें रहता है, वह आत्मा है', ऐसा लक्षण किया गया है।

इन दोनों लक्षणों को स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है:-

प्रथम लक्षण:

'ज्ञानाधिकरणमात्मा' इस लक्षण का अर्थ है कि 'जो द्रव्य समवाय सम्बन्ध से

ज्ञान गुण का अधिकरण होता है, वह द्रव्य 'आत्मा' कहा जाता है। यह ज्ञान गुण समवाय सम्बन्ध से 'आत्मा' में ही रहता है, आत्मा से भिन्न 'पृथ्वी' आदि द्रव्यों में ज्ञानगुण नहीं रहता, अतः ज्ञान का अधिकरणत्वरूप आत्मा का लक्षण उचित ही है।

द्वितीय लक्षणः

'आत्मत्वसामान्यवानात्मा' इस लक्षण का अर्थ है कि जो द्रव्य समवाय सम्बन्ध से आत्मतत्व जाति वाला हो, वह द्रव्य 'आत्मा' है। यह आत्मतत्वजाति समवाय सम्बन्ध से केवल आत्मा में ही रहती है, आत्मा से भिन्न किसी भी पृथ्वी आदि द्रव्यों में नहीं रहती, अतः यह आत्मत्व जाति रूप आत्मा का लक्षणउचित ही है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'आत्मत्व जाति से युक्त तथा ज्ञान गुण का आश्रय द्रव्य 'आत्मा' पद से सम्बोधित किया जाता है।

'आत्मा' का विवेचन करते हुये 'विश्वनाथ पंचानन' ने 'कारिकावली की टीका मुक्तावली' में कहा है कि 'यद्यपि ज्ञान आदि गुणों के रूप में तथा "मैं जानता हूं, मैं सुखी हूं' इत्यादि प्रतीतति के आधार पर आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है, तथापि जो विप्रतिपन्न या भ्रमयुक्त है, उनकी सन्तुष्टि के लिये अनुमान प्रमाण के आधार पर 'आत्मा' के ज्ञान को चर्चा की गयी है। जिस प्रकार कुठार आदि अपना कार्य अर्थात लकड़ी का चीरना, बिना चीरने वाले कर्ता के नहीं करते, इसी प्रकार चक्षु आदि जो ज्ञान के कारण है वे भी अपने फल अर्थात ज्ञान के लिए किसी कर्ता की अपेक्षा रखते हैं वह कर्ता ही 'आत्मा' है।[1]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'आत्मा' के लक्षण के विषय में न्याय-वेशेषिक के सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित ग्रन्थों में परस्पर मतभेद पाया जाता है:-केशवमिश्र तथा लौगाक्षिभास्कर के अनुसार 'आत्मत्वसामान्यवानात्मा' ऐसा लक्षण किया गया है, जबकि 'अन्नम्भट्ट' ने 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' तथा विश्वनाथपंन्चानन ने 'इन्द्रिय एवं शरीर आदि के अधिष्ठान को 'आत्मा' कहा है।

---

1. 'आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्'-कारिकावली।

आत्मत्व जाति की सिद्धिः

आत्मत्वजाति रूप आत्मा का उपरोक्त लक्षण तभी घटित हो सकता है, जबकि 'आत्मत्व जाति' की सिद्धि किसी प्रमाण से कर ली जाये, अतः अब आत्मत्व जाति की सिद्धि की जाती हैः-

विश्वनाथ पंन्चानन ने 'कारिकावली' की टीका 'मुक्तावली' में आत्मत्व जाति की सिद्धि अनुमान प्रमाण से की हैः- 'आत्मत्वजातिस्तु सुखदुःखादि समवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति' तात्पर्य यह है कि आत्मत्व जाति सुख और दुख की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में सिद्ध होती है। अनुमान का आकार इस प्रकार हैः-

'आत्मनिष्ठा या सुखदुःखादिसमवयिकारणता सा किंचिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, पटनिष्ठकार्य निरूपिततन्तुनिष्ठाकारणतावत्' तात्पर्य यह है कि आत्मा में स्थित जो सुखदुःखादि की समवायिकारणता है, वह किसी धर्म से अवच्छिन्न होने योग्य है, कारणता होने से, जो-जो कारणता होती है, वह-वह कारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न ही होती है, निरवच्छिन्न कोई कारणता नहीं होती, तथा तन्तुओं में रही हुई पट की समवायिकारणता तंतुत्वधर्म से अवच्छिन्न होती है, वैसे ही आत्मा में रहने वाली वह सुख, दुःखादि की समवायिकारणता भी कारणतारूप होने से किसी धर्म से अवश्य अवच्छन्न होगी, अतः इस आत्मवृत्ति कारणता का अवच्छेदक धर्म आत्मत्व जाति ही संभव है, उस आत्मत्वजाति से भिन्न दूसरा कोई धर्म, उस कारणता का अवच्छेदक नहीं हो सकता, इस प्रकार के अनुमान से उस आत्मत्व जाति की सिद्धि होती है।

कुछ ग्रन्थकार इस आत्मत्वजाति को 'जीवात्मा' में ही मानते हैं, उनका कथन है कि ईश्वर में यह आत्मत्व जाति नहीं रहती, अतः ईश्वर में आत्मत्व जाति का साधक कोई प्रमाण नहीं है। इस पर यह शंका होती है कि यदि ईश्वर का ग्रहण नहीं होगा, तब ईश्वर को दशम द्रव्य मानना पड़ेगा।

तब इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि जो 'आत्मा' पद है, उसके स्थान पर यदि 'ज्ञानवत्' इस पद का कथन करें तो 'ज्ञानवत्' पद से जीव और ईश्वर दोनों का संग्रह हो सकेगा। अतः 'आत्मत्वजातिमान् आत्मा' यह लक्षण केवल जीवात्मा में ही सम्भव हैं, ईश्वर में नहीं, जीव और ईश्वर का तो 'ज्ञानाधिकरणत्वरूप' लक्षण ही सम्भव

किन्तु यह मत उचित नहीं है, क्योंकि वेद में अनेक स्थलों पर जीव और ईश्वर दोनों का 'आत्मा' पद से कथन किया गया है। उन सब आत्मपदों की ज्ञानवाले में लक्षणा करनी होगी। नैयायिक जीव तथा ईश्वर दोनों में आत्मत्व जाति मानते हैं।

तार्किकरक्षाकार ने भी 'आत्मा' की सिद्धि में उपरोक्त हेतु ही दिये है कि :-'आत्मात्र चेतनोऽयं सुखदुःखादिलिङ्गकः' अर्थात यह चेतन आत्मा सुख और दुःख आदि हेतुओं द्वारा जाना जाता है, अथवा आत्मा की सिद्धि सुख और दुःख आदि लिङ्गो द्वारा होती है।

न्यायसूत्रकार गौतम ने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान को आत्मा का लिङ्ग कहा है[1]। कणाद ने भी इच्छा, द्वेष आदि के अतिरिक्त प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष तथा जीवन को भी आत्मा का लिंग बताया है[2]।

आत्मा के भेदः

आत्मा के दो भेद बताये गये हैं:- जीव और ईश्वर। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न होता है, जबकि ईश्वर सभी शरीरों में एक ही हैं। जीवात्मा जन्य ज्ञान का अधिकरण होता है, जबकि परमात्मा या ईश्वर शश्वत ज्ञान का आश्रय है। ईश्वर सुख दुःखादि से रहित है, जबकि जीव इनसे युक्त है। जीव, इन्द्रिय आदि का अधिष्ठता तथा बन्ध, मोक्ष का अधिकारी हैं, जबकि ईश्वर इन सभी से रहित नित्य मुक्त एवं सर्वज्ञ है। जीव संख्या में अनन्त हैं, जबकि ईश्वर एक तथा सर्वव्यापक है। दोनों ही प्रकार की आत्मा विभु और नित्य है।

जीव के गुणः

जीव के चौदह गुण माने गये हैं:-संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन चौदह गुणों से युक्त जीव को माना गया है।

---

1. न्यायसूत्र-'इच्छाद्वेष प्रयत्न सुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्'-1/1/10
2. वैशेषिक सूत्र-3/2/4

ईश्वर के गुण:

ईश्वर के आठ गुण बताये गये हैं, वे हैं:-संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न।

ईश्वर सिद्धि:

विश्वनाथ पंचानन ने 'मुक्तावली' में तथा जगदीश तर्कालंकार ने 'तर्कामृत' में ईश्वर की सिद्धि अनुमान प्रमपण से की है, वह अनुमान इस प्रकार है:-

'यथा घटादिकार्यं कर्तृजन्यं तथा क्षित्यङ्कुरादिकमपि। न

च तत्कर्तृत्वमस्मदादीनां संभवतीत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वर सिद्धिः।

अर्थात पृथिवी अंकुर आदि कर्ता से उत्पन्न हुये हैं, कार्य होने से, जो कार्य होता है, वह-वह कर्ता से उत्पन्न होता है, जैसे-घट। इस अनुमान से यह सिद्ध हुआ कि पृथिवी आदि भी कर्ता से उत्पन्न हुये हैं, और उनका कर्ता, हमारे जैसे शरीरधारी तो हो नहीं सकते, इसलिये हमारे जैसे शरीरधारियों के अतिरिक्त बढ़कर शक्ति रखने वाला ही कोई पृथवी का कर्ता हो सकता है, और उसी कर्ता का नाम 'ईश्वर' है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि हो जाती है।

जीवात्मा सिद्धि:

तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने जीवात्मा की सिद्धि में अनुमान इस प्रकार दिया है कि :बुद्धि आदि गुण पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल दिशा और मन से भिन्न किसी द्रव्य विशेष में आश्रित है, क्योंकि ये गुण हैं और गुणों का द्रव्याश्रित होना अनिवार्य है। बुद्धि आदि गुण, पृथिवी आदि आठ द्रव्यो पर आश्रित नहीं हो सकते, अंतः इनसे भिन्न द्रव्य 'आत्मा' के ही आश्रित होगें, अतः बुद्धि आदि के अधिकरण के रूप में 'जीवात्मा' की सिद्धि होती है। यह सर्वत्र कार्य की उपलब्धि होने से विभु और परममहत्वपरिमाण वाला है, तथा विभु होने से नित्य भी है।

ईश्वर का स्वरूप:

ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिकों के विविध विचार हैं, जिसका उल्लेख लौगाक्षिभास्कर ने 'तर्ककौमुदी' में किया है: एक का विचार है कि ईश्वर शरीरहीन है, क्योंकि शरीर की प्राप्ति अदृष्ट से होती है, तथा ईश्वर अदृष्टहीन है, अतः वह अशरीरी है। दूसरा वर्ग जो कि उसे शरीरी और अशरीरी दोनों मानता है,उनके अनुसार स्वंय अदृष्ट संसर्ग न होने पर भी वह प्राणिवर्ग के अदृष्ट से शरीर धारण करता है, जैसे एक स्त्री, पति के अदृष्टवश रूप आदि से युक्त शरीर धारण करती है।

न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में ईश्वर के विषय में इतना ही विवेचन किया गया है ईश्वर पर विस्तृत विवेचन 'उदयनाचार्य' कृत 'कुसुमान्जलि' मे किया गया है तथा अन्य ग्रन्थों में भी 'ईश्वर पर विस्तृत चर्चा की गयी है।

आत्मा विषयक अन्य मतों का खण्डन

विश्वनाथ पंचानन ने 'कारिकावली' तथा 'न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली' में 'आत्मा' सम्बन्धी अन्य मतों -चार्वाक, क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध, नित्यविज्ञानवादी वेदान्त तथा सांख्य मतों का खण्डन करके न्यायसिद्धान्त की विवेचना की है। अब चार्वाक आदि मतों का प्रतिपादन करके, उनका खण्डन मुक्तावली के आधार पर किया जा रहा है:-

चार्वाक मत

चार्वाक शरीर, इन्द्रिय और मन को आत्मा मानते हैं।

शरीर आत्मा नहीं:

चार्वाक दर्शन शरीर को ही कर्ता मानता है, अतः उसका कहना है कि शरीर को ही कर्ता क्यों न मान लिया जाये?

खण्डन:

इसका खण्डन करते हुए विश्वनाथ कहते हैं कि शरीर को चैतन्य नहीं मान सकते, क्योंकि मरे हुये देह में चैतन्य न रहने से व्यभिचार होता है[1]।

---

1. कारिकावली-कारिका 48

इस पर चार्वाक पुनः यह तर्क प्रस्तुत करता है कि ज्ञान, इच्छा आदि को ही चैतन्य कहते हैं और जैसे नैयायिकों के मत में मुक्त आत्मा में ज्ञान, इच्छा आदि नहीं रहती, वैसे ही हमारे चार्वाक मत में भी मृत शरीर में भी ज्ञान आदि के न रहने पर भी क्या हानि है? क्योंकि प्राणाभाव से ज्ञानाभाव की सिद्धि हो जायेगी।

खण्डन:

किन्तु नैयायिक इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि चार्वाक का उपरोक्त मत ठीक नहीं, क्योंकि शरीर को यदि चैतन्य मान लिया जाये तो बचपन में देखी हुई वस्तु का बुढ़ापे में स्मरण नहीं होना चाहिये, क्योंकि देहों के अवयवों में जो वृद्धि और ह्रास होते हैं, उनसे यह मानना पड़ता है कि शरीर नया-नया उत्पन्न होता है और नष्ट भी होता है और यह भी नहीं कहा जासकता कि पहले शरीर से उत्पन्न संस्कार से ही दूसरे देह में संस्कार उत्पन्न होता है, क्योंकि अनन्त संस्कारों की कल्पना करनी पड़ेगी, जिसमें गौरव होगा।

इसी प्रकार यदि शरीर को ही चैतन्य माना जाये तो बालक की स्तन से दूध पीने की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि प्रवृत्ति के लिये 'इसमे मेरा कल्याण है" यह ज्ञान होना आवश्यक है, किन्तु उस समय जब बालक को कोई ज्ञान नहीं है, दृष्टसाधनता का स्मारक कोई नहीं है। न्याय तथा वैशेषिक मत में शरीर से भिन्न नित्य आत्मा है, जो बालक के शरीर में है, वह अपने पूर्वजन्म में अनुभूत दृष्ट साधन को जन्मान्तर में स्मरण करके ही प्रवृत्त होता है।

यहां यह शंका नहीं की जा सकती कि जन्मान्तर में अनुभूत सब कुछ स्मरण हो जाना चाहिये, क्योंकि कोई उद्बोधक नहीं है, स्तनपान में तो जीवन का अदृष्ट ही स्मरण दिलाता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शरीर, आत्मा नहीं है, बल्कि आत्मा के पृथक है और शरीर को कर्ता मानना उचित नहीं है।

इन्द्रिय आत्मा नहीं:

चार्वाक नेत्र आदि इन्द्रियों को ज्ञान के प्रति कारण और कर्ता दोनों मानते

हैं।

खण्डन:

किन्तु मुक्तावलीकार उनका खण्डन करते हुये कहते हैं कि नेत्रादि इन्द्रिय को चैतन्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि नेत्रादि को चैतन्य मान लिया जाये तो नेत्र आदि के नष्ट हो जाने पर स्मृति कैसे होगी? तात्पर्य यह है कि नेत्र से पहले देखे हुये पदार्थों का नेत्र के नाश हो जाने पर स्मरण नहीं होगा, क्योंकि उक्त समय अनुभव करने वाले नेत्र आदि ही नहीं है। और नेत्र से देखे हुये पदार्थों का, दूसरे इन्द्रिय से स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि समान आश्रय में रहने वाले अनुभव और स्मरण में कार्य कारणभाव माना जाता है।

अतः इन्द्रिय को भी चैतन्य नहीं माना जा सकता।

मन आत्मा नहीं :

चार्वाक कहता है कि नेत्र आदि इन्द्रिय चैतन्य न हों, किन्तु 'मन' तो नित्य है, अतः उसे चैतन्य मानना चाहिये।

खण्डन:

किन्तु इसका खण्डन करते हुए न्याय-वैशेषिक कहता है कि यदि मनस् का गुण चैतन्य को मान लें तो ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि मनस् को अणु परिमाण वाला माना गया है, यदि मन को महत्परिमाण वाला माना जाये तो अनेक ज्ञान एक साथ होने लगेंगे। जबकि नियम यह है कि एक समय में एक ही ज्ञान होता है, क्योंकि मनस् अणुपरिमाण वाला है और वह एक समय में एक ही इन्द्रिय से सम्बद्ध हो सकता है, अतः एक समय में एक ही ज्ञान हो सकता है, जैसा कि 'न्यायसूत्रकार' ने भी कहा है कि:-

'युगपत्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंड्गम्'

अर्थात एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना ही मन का लिंग है।

चूंकि मनस् अणु परिमाण वाला है, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जब मनस् का ही प्रत्यक्ष नहीं होगा तो मनस के धर्मज्ञान का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा। किन्तु ज्ञान का तो प्रत्यक्ष होता है, अतः ज्ञान को मनस् का गुण नहीं माना जा सकता, इस प्रकार 'मनस' को चेतन (आत्मा) नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार विश्वनाथ पंचानन ने 'कारिकावली' तथा 'मुक्तावली' में चार्वाक के शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद तथा मानसात्मवाद का खण्डन किया है।

विश्वनाथ ने 'कारिकावली' में तो चार्वाक मत का ही खण्डन किया है, किन्तु उसकी टीका 'मुक्तावली' में 'क्षणिक विज्ञानवाद' नित्यविज्ञानवाद' तथा 'सांख्यमत' का भी खण्डन किया है, अतः अब 'क्षणिकविज्ञानवाद बौद्धों' के मत का खण्डन किया जा रहा है:-

क्षणिक विज्ञानवाद मत

क्षणिक- विज्ञानवादी बौद्धों का मत है कि :- आत्मा को एक पृथक ग्रन्थ न मानकर 'विज्ञान' को ही आत्मा मानना चाहिये, क्योंकि यह विज्ञान स्वयं प्रकाश रूप होनें से चेतन है, इस विज्ञान के दो प्रकार है:- प्रवृत्ति विज्ञान और आलय विज्ञान। 'यह घट है' यह प्रवृत्ति विज्ञान है और 'मैं' यह आलय विज्ञान है ज्ञान और सुख आदि भी उसी विज्ञान के विशेष आकार है। विज्ञान भी भावपदार्थ है, अतः वह क्षणिक है। किन्तु पूर्व-पूर्व विज्ञान, अगले-अगले विज्ञान में हेतु है, अतः सुषुप्ति अवस्था में भी आलय विज्ञान की धारा बाधा रहित होकर चलती रहती है और कस्तूरी की सुगन्ध से सुगन्धित वस्त्र के समान पूर्व-पूर्व विज्ञान से उत्पन्न संस्कार आगे वाले विज्ञानो में चले जाते हैं, अतः पूर्व विज्ञान में उत्पन्न संस्कार के अगले विज्ञान में ले जाने में कोई बाधा नहीं है।

अतः विज्ञान' ही आत्मा है।

खण्डन:

किन्तु विश्वनाथ पन्चानन 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' से इसका खण्डन करते

विश्वनाथ कहते हैं कि उपरोक्त मत उचित नहीं है, क्योंकि 'विज्ञान' को आत्मा नहीं माना जा सकता। विज्ञान को आत्मा मानने वाले सर्वजगद्विषयक विज्ञान को आत्मा मानते हैं या किसी विशेष वस्तु विषयक विज्ञान को आत्मा मानते हैं अथवा निर्विषयक विज्ञान को ही आत्मा मानते हैं। यदि वे जगद्विषयक विज्ञान को आत्मा मानते हैं तो वह आत्मा सर्वज्ञ हो जायेगा, यदि किसी विशेष वस्तु विषयक विज्ञानको आत्मा मानते हैं तो किसी निर्णायक युक्ति के न होने के कारण, किसे आत्मा माने और किसे न माने, इस प्रकार का निर्णय न हो सकेगा, तब सुषुप्तिकाल में भी विषयों का ज्ञान होने लगेगा, क्योंकि ज्ञान सविषयक होता है। यदि बौद्ध निर्विषयक विज्ञान को आत्मा मानते हैं तो उसमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः आत्मा 'विज्ञान' से भिन्न है।

'विज्ञानवाद' का सिद्धान्त इसलिये भी उचित नहीं है, क्योंकि विज्ञान से भिन्न घट-पटादि तथा नीलत्व, पीतत्व आदि का अनुभव होता है, अतः विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ विद्यमान होने से 'विज्ञान' को आत्मा नहीं माना जा सकता।

विज्ञानवादी, वासना का संचार मानते हैं, तो यह भी सम्भव नहीं क्योंकि विज्ञान में वासना का उत्पादक कोई नहीं है औरयदि विज्ञान को ही उत्पादक मान लेंगे तो यह उचित नहीं क्योंकि अनन्त संस्कार मानने का गौरव होगा। यदि विज्ञानवादी यह कहे कि क्षणिक विज्ञान में एक अतिशय उत्पन्न हो जाता है तो अतिशय उत्पन्न होने मे कोई प्रमाण नहीं है।

अतः क्षणिक विज्ञान को आत्मा नहीं माना जा सकता, क्षणिक विज्ञानवादियों का मत सर्वथा खण्डित हो जाता है।

नित्य विज्ञानवाद मत [अद्वैत वेदान्त]

नित्यविज्ञानवादी कहते हैं कि क्षणिक विज्ञान को 'आत्मा' न माना जाये, किन्तु 'नित्य विज्ञान' को तो आत्मा माना जा सकता है, क्योंकि श्रुति कहती है कि 'अविनाशीवाऽरेऽयमात्मा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात 'अरे, यह आत्मा अविनाशी है, ब्रह्म सत्यज्ञानस्वरूप और अनन्त है।

खण्डन:

किन्तु विश्वनाथ पन्चानन अद्वैत वेदान्तियों के मत का खण्डन करते हुये कहते हैं कि यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा सविषयक नहीं हो सकता, जैसे:- जगद्विषयक विज्ञान को आत्मा मानते हो तो आत्मा को सर्वज्ञ होना चाहिये, यदि यत्किन्चिद् विषयक विज्ञान को आत्मा मानते हो तो किसको आत्मा माने , किसे न माने, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, यदि निर्विषयक विज्ञान को आत्मा माने तो इसमें भी कोई प्रमाण नहीं। यदि आत्मा को ज्ञानरूप माना जाये तो सविषयक आत्मा का अनुभव होना चाहिये किन्तु होता नहीं है, अतः ज्ञान आदि से भिन्न नित्य आत्मा सिद्ध होता है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में जो आत्मा को ज्ञानस्वरूप और सत्य कहा गया है, तो वह परम् ब्रह्म के लिये कहा गया है, उसे जीव पर लगाना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान, सुख और दुःख आदि से मुक्त होने और न होने से जीवों से तो परस्पर भेद सिद्ध होता है, फिर जीव से ईश्वर का भेद तो सिद्ध ही है। यदि जीवात्माओं में भेद न माना जायेगा तो बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। इसी प्रकार जो ईश्वर और जीव में अभेद बतलाने वाले 'तत्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेद वाक्य हैं, वे भी उस ईश्वर से अभेद बतलाकार जीवात्मा में परमात्मा का सम्बन्ध बताते हुये स्तुति करते हैं। अभेद भावना रखकर यत्न करना चाहिये, यह भी कहा गया है। अतः 'सर्वएवात्मनि सर्मर्पिताः' अर्थात सब ही आत्मा में समर्पित है 'यह श्रुति भी कहती है।

वह ईश्वर भी ज्ञान और सुखस्वरूप नहीं है, अपितु ज्ञान और सुख का आश्रय ही है। 'नित्य विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस वेद में पठित 'विज्ञान' पद से ज्ञान का आश्रय यही अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इस वाकय से ही यही अर्थ निकलता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'आत्मा' ज्ञानस्वरूप न होकर ज्ञान का आश्रय ही है, अतः नित्य विज्ञान को आत्मा मानने वाले वेदान्तियों का मत खण्डित हो जाता हैं।

सांख्य मत और उसका खण्डन

सांख्य मत के अनुसार 'पुरूष' चेतन्यस्वरूप है, तात्पर्य यह है कि 'चेतनता' पुरूष का धर्म है, किन्तु सांख्य का न्याय-वैशेषिक से यह अन्तर है कि सांख्य 'चेतनता' को तो पुरूष का धर्म मानता है, किन्तु ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि धर्म उसके अनुसार 'पुरूष' को न रहकर 'बुद्धि' में रहते हैं, जबकि न्याय-वैशेषिक यह मानता है कि जिस अधिकरण में ज्ञान आदि रहते हैं, उसी में चेतनता भी रहती है।

उपरोक्त सांख्य मत के खण्डन में न्याय-वैशेषिक मुख्य युक्ति यही देता है, प्रयत्न, ज्ञान आदि जिस अधिकरण में है, वह चाहे न्याय के अनुसार 'आत्मा' हो अथवा सांख्य के अनुसार 'बुद्धि' उसी में चेतनता भी रहती है।

न्याय-वैशेषिक में 'चेतनता' को 'ज्ञान' के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जाता और ज्ञान, प्रयत्न आदि के आश्रय से भिन्न 'पुरूष' कोई अलग वस्तु है, इसमें कोई प्रमाण भी नही है क्योंकि ज्ञान, प्रयत्न आदि के आश्रय से भिन्न चेतन की कोई प्रतीति भी नहीं होती, क्योंकि यह अनुभव होता है कि 'मैं चेतनकर्ता हूं 'अर्थात तात्पर्य यह है कि जिसमें कृति अर्थात प्रयत्न है, उसी में चेतनता है। कहने का अभिप्राय यह है कि चेतनता और प्रयत्न एक ही अधिकरण में मानने पड़ेंगे। यदि उनका आश्रय 'बुद्धि' को माना जाये तो वह न्याय-वैशेषिक के 'आत्मा' के समान ही हो जायेगी।

इसके अतिरिक्त यदि 'बुद्धि' नित्य है तो बुद्धि के सदेव बने रहने से 'पुरूष' का कभी मोक्ष ही नहीं हो सकता और यदि बुद्धि अनित्य है तो वह कभी उत्पन्न हुई होगी तो उससे पूर्व जन्म, मरण आदि किस प्रकार होता था, यह प्रश्न उपस्थित होगा। यदि बुद्धि के अचेतन होने में यह युक्ति दी जाये कि वह जड़ प्रकृति का कार्य है, अतः वह स्वंय भी जड़ अथवा अचेतन है, तो न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान, प्रयत्न आदि के आश्रयरूप बुद्धि को प्रकृति का कार्य मानना, यह सांख्य मत की अपनी ही कल्पना है, जो उचित नहीं। इस प्रकार की बुद्धि को नित्य ही मानना पड़ेगा और वह न्याय-वैशेषिक के नित्य आत्मा के समान ही होगी,ऐसी बुद्धि को प्रकृति का कार्य नहीं माना जा सकता।

अर्थात् अभिप्राय यह है कि जो प्रयत्न ज्ञान का आश्रय है, वह अनादि तथा नित्य न्याय-वैशेषिक में मान्य 'आत्मा' ही हो सकता है, प्रकृति के कार्यरूप वुद्धि को ज्ञान आदि का आश्रय मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

इस प्रकार 'कारिकावली' की टीका 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में विश्वनाथ ने चार्वाक, क्षणिकविज्ञानवाद, नित्य विज्ञानवाद तथा सांख्य मत का खण्डन करते हुये न्याय-वैशेषिक में मान्य 'आत्मा' की सत्ता को 'प्रत्यक्ष' तथा 'अनुमान' प्रमाण से इस प्रकार सिद्ध किया है:-

न्याय-वैशेषिक में मान्य यह आत्मा धर्म और अधर्म का अधिकरण है। आत्मा का प्रत्यक्ष, आत्मा में रहने वाले ज्ञान, सुख आदि विशेष गुणों के सम्बन्ध से होता है, अर्थात विशेष गुणों के बिना आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि "मैं मानता हूं, मैं इच्छा वाला हूं इत्यादि रूप में आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, बिना विशेष गुण के केवल "मैं" इस रूप मे आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता[1]।

अब आत्मा की सत्ता में अनुमान प्रमाण[2] देते हैं कि -इस आत्मा का दूसरे देहों में प्रवृत्ति अर्थात चेष्टा आदि से अनुमान किया जाता है। इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे रथ में गति को देखकर सारथि का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार दूसरी देह में होने वाली चेष्टा से उस देह में रहने वाली आत्मा का अनुमान हो जाता है।

इसके पश्चात् विश्वनाथ कहते हैं कि 'अहं' अर्थात "मैं" इस प्रतीति का विषय 'आत्मा' ही है, अर्थात आत्मा के कारण ही प्रत्येक ज्ञान के साथ "मैं" [जानता हूं] ऐसी प्रतीति होती है। इस आत्मा का प्रत्यक्ष 'केवल 'मनस्' इन्द्रिय से होता है, अन्य बाह्य इन्द्रियों से नहीं, क्योंकि वाह्येन्द्रिय से किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होने में 'रूप' आदि कारण है और आत्मा में रूपादि का अभाव है, अतः आत्मा का प्रत्यक्ष वाह्येन्द्रिय से नहीं हो सकता।

यह आत्मा विभु है और वुद्धि, सुखदुःख, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, भावना नामक संस्कार, धर्म और अधर्म, इन चौदह गुणों से युक्त है,

---

1. कारिकावली-कारिका 49

2. कारिकावली-कारिका 50

तात्पर्य यह है कि ये चौदह गुण आत्मा में रहते हैं।

इस प्रकार 'आत्मा' का विवेचन न्याय तथा वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में किया गया है।

शरीर

न्याय दर्शन में मान्य दूसरा प्रमेय 'शरीर' है। न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों, यथा-तर्कभाषा तथा तार्किकरक्षा में इसका लक्षणपूर्वक विवेचन किया गया है, जबकि तर्कामृत, तर्ककौमुदी, तर्कसंग्रह इत्यादि ग्रन्थों में पृथिवी आदि द्रव्यों के निरूपण के सन्दर्भ में इनका विवेचन है, लेकिन इन ग्रन्थों में पार्थिव शरीर, जलीय शरीर इत्यादि रूप से ही विवेचन हैं। अब 'शरीर' का लक्षण किया जा रहा है:-

तर्कभाषाकार ने 'शरीर' का लक्षण 'भोगयायतनमन्त्यावयवि शरीरम्' किया है। तात्पर्य यह है कि उस आत्मा के भोग का आश्रय अन्त्य अवयवी शरीर कहलाता है। सुख और दुःख में से किसी एक का साक्षात्कार भोग कहलाता है, वह जिससे अवच्छिन्न आत्मा में रहता है, वही उस आत्मा का भोगायतन अर्थात शरीर है।

केशवमिश्र ने शरीर का दूसरा लक्षण 'चेष्टाश्रयो शरीरम्' किया है। तात्पर्य यह है कि चेष्टा का जो आश्रय है, वह शरीर कहलाता है। चेष्टा, हित की प्राप्ति तथा अहित के परिवार के लिये की जाने वाली क्रिया को कहते हैं, केवल गतिमात्र को चेष्टा नहीं कहते ।

तार्किकरक्षाकार[1] वरदराज ने 'शरीर' का लक्षण तीन प्रकार से किया है:-

(1) अन्त्यावयवि चेष्टाश्रय शरीरम् ।

(2) अन्त्यावयिव भोगाश्रय शरीरम् ।

(3) अन्त्यावयवि इन्द्रियाश्रय शरीरम् ।

---

1. शरीरमन्त्यावयवि चेष्टाभोगेन्द्रियाश्रयः-तार्किकरक्षा पेज 12।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि तार्किकरक्षाकार ने तर्कभाषाकार से भिन्न एक लक्षण और किया है कि -'अन्त्यावयवि इन्द्रियाश्रय शरीरम्' तात्पर्य यह है कि 'इन्द्रिय का आश्रय अन्त्यावयवि शरीर' कहलाता है। अन्त्यावयवी' कहने से इन्द्रिय के आरम्भक परमाणु आदि का निराकरण हो जाता है।

शरीर के भेद:

शरीर के दो भेद बताये गये हैं:-|1| योनिज |2| अयोनिज ।

योनिज:

इसका लक्षण 'शुक्रशोणितसंनिपातज'[1] किया गया है, तात्पर्य यह है कि शुक्र और शोणित इन दोनों के परस्पर मिलन से जन्य जो शरीर है, वह 'योनिज' शरीर कहा जाता है, जैसे:-अस्मदादि शरीरम्' हम लोगों का शरीर'।

अयोनिज:

इसका लक्षण 'शुक्रशोणित संनिपातं बिना धर्म विशेष सहकृत परमाणु प्रभावमयोनिज[2]' किया गया है। इसका एक सामान्य लक्षण यह भी किया जा सकता है कि -'योनिजभिन्नं शरीरम् अयोनिजम्' अर्थात् योनिज शरीर से भिन्न जो शरीर है, उन्हें अयोनिज शरीर कहते हैं, जैसः-देवर्षि नारद आदि का शरीर।

योनिज शरीर के भेद:-

इसके दो भेद बताये गये हैं-जरायुज और अंडज।

जरायुज:

जरायु से जो शरीर उत्पन्न होता है, उसे जरायुज कहते हैं, जैसे मनुष्य गो, अश्व आदि के शरीर 'जरायुज' कहे जाते हैं।

अंडज :

अंड से जो शरीर उत्पन्न होते हैं, वे अंडज कहलाते हैं, जैसे: पक्षी सर्प

---

1. तर्ककौमुदी-पृष्ठ-3
2. तर्ककौमुदी-पृष्ठ3

आदि के शरीर अंडज कहे जाते हैं।

अयोनिज शरीर के भेद:

इसके तीन भेद बताये गये हैं:स्वेदज, उद्भिज्ज और अदृष्ट विशेषजन्य।

स्वेदज:

जो शरीर जल आदि रूप स्वेद से उत्पन्न होते हैं, वे स्वेदज कहलाते हैं, जैसें-कृमि, दंश इत्यादि का शरीर 'स्वेदज' कहा जाता है।

उद्भिज्ज:

जो शरीर पृथिवी को भेद कर अपने-अपने बीज से उत्पन्न होते हैं, वे 'उद्भिज्ज' कहलाते हैं, जैसे-वृक्ष, लता, वनस्पति आदि का शरीर।

अदृष्टविशेषजन्य:

जो शरीर पुण्य और पापरूप अदृष्ट विशेष से उत्पन्न होते हैं, वे शरीर अदृष्टविशेषजन्य कहे जाते हैं। जैसे:स्वर्ग में स्थित 'देवता शरीर' तथा नरक में स्थित 'नारकी शरीर' अदृष्टविशेषजन्य कहे जाते हैं।

इन्द्रिय

न्याय में मान्य तीसरा प्रमेय 'इन्द्रिय' है। इसका लक्षण 'तर्कभाषाकार' ने शरीर संयुक्तम् ज्ञानकरणमतीन्द्रियं इन्द्रियम्' किया है, तात्पर्य यह है कि शरीर से संयुक्त और इन्द्रियों से गृहीत न होनें वाला ज्ञान का करण 'इन्द्रिय' हैं।

इस लक्षण में से यदि 'ज्ञानकरणम्' हटा दें तो यह काल आदि में भी चला जायेगा, अतः 'ज्ञानकरणम्' कहा है।

इसी प्रकार यदि इस लक्षण से 'शरीर संयुक्तम्' हटा दें तो यह लक्षण इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष में भी घटित होने लगेगा, अतः 'शरीर' संयुक्तम्' ऐसा कहा गया है।

इसी प्रकार यदि 'अतीन्द्रियम्' पद हटा दें तो इस लक्षण की आलोक' आदि में भी अतिव्याप्ति होगी, अतः इसके निवारण के लिये ही 'अतीन्द्रियम्' पद दिया गया

इस प्रकार इन्द्रिय के लक्षण में आचार्य केशवमिश्र ने 'शरीर संयुक्तम् ज्ञानकरणं और अतीन्द्रियम्' में तीन पद जो रखे हैं, उनका रखना अत्यन्त अनिवार्य है, इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यह लक्षण दोष रहित है।

'तार्किकरक्षाकार' ने इसका विवेचन इस प्रकार किया है:-

'शरीरयोगे सत्येव साक्षात्प्रमितिसाधनम् ।
इन्द्रियं तत्र साक्षात्वं जाति भेद इति स्थितिः ।।

तात्पर्य यह है कि शरीर से युक्त होने पर साक्षात् प्रमिति का साधन जो है, वह 'इन्द्रिय' कहलाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य केशव मिश्र तथा वरदराज ने 'इन्द्रिय' के लक्षण के विषय में कोई मतभेद नहीं है, दोनों ने 'इन्द्रिय' का लक्षण एक समान ही किया है।

'इन्द्रिय' का एक लक्षण यह भी किया जा सकता है कि 'शब्देतरोद्भूत विशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारण मनः संयोगाश्रयः इन्द्रियम्' तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य शब्द से भिन्न, उद्भूत विशेष गुणों का आश्रय न होता हुआ, ज्ञान के कारणरूप मन के संयोग का आश्रय है, वह 'इन्द्रिय' कहा जाता है।

इन्द्रिय-भेदः

'तार्किकरक्षाकार ने तो इन्द्रिय भेदों का विवेचन नहीं किया है, किन्तु 'तर्कभाषाकार' ने इन्द्रिय के छः भेद बताकर उनका विवेचन किया है:-

'घ्राणरसनचक्षुस्त्वकश्रोत्र मनांसि'

अर्थात् घ्राण, रसन, चक्षु त्वक्, श्रोत्र और मन ये छः इन्द्रियां हैं।

घ्राण :

गन्ध की प्राप्ति का साधनभूत इन्द्रिय 'घ्राण' कहलाती है। वह नासिका के अग्रभाग में रहती है। वह गन्धवत् होने से घट के समान पार्थिव है। जो इन्द्रिय, रूप

आदि में से जिस गुण को ग्रहण करती है, वह उस गुण से युक्त कहलाती है, जैसे कि रूप की ग्राहक चक्षु रूपवत् है।

रसनेन्द्रिय :

रस की उपलब्धि की साधनभूत जो इन्द्रिय है, उसे 'रसना' कहते हैं। यह जिह्वा के अग्रभाग में स्थित है, यह रसवती होने से 'जलीय इन्द्रिय' है। यह रूप आदि पाँचों में से रस की ही अभिव्यन्जक होने से रसनेन्द्रिय हैं।

चक्षु इन्द्रियः

रूप की उपलब्धि का साधनभूत इन्द्रिय 'चक्षु' इन्द्रिय है। यह आँख की काली पुतली में रहती है। वह तेजस् इन्द्रिय है, क्योंकि रूपादि पाँचों में से रूप की ही अभिव्यन्जक होने से वह प्रदीप के समान तेज या अग्नि से उत्पन्न इन्द्रिय है।

त्वक् इन्द्रिय :

'स्पर्श' की उपलब्धि का साधनभूत इन्द्रिय 'त्वक्' है। यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। यह रूप आदि पाँचों में से स्पर्श की ही अभिव्यन्जक होने से 'वायवीय' है। शरीर में लगे हुये जल के शैत्य के अभिव्यन्जक पंखें की वायु के समान।

योन इन्द्रिय :

शब्द की उपलब्धि की साधनभूत इन्द्रिय 'श्रोत्र' है वह कर्णशुष्कली से घिरा हुआ अकाश ही है, शब्द गुण वाला होने से अलग कोई द्रव्य नहीं है। 'शब्दगुणत्वं' भी शब्द को ग्रहण करने वाला होने के कारण ही है। जो इन्द्रिय रूपादि पाँचों में से जिस गुण की व्यन्जक है, वह उस गुण से युक्त है। जैसे रूपादि का ग्राहक (चक्षु आदि) रूपादि युक्त है। इसी प्रकार श्रोत्र, शब्द का ग्राहक है, अतः शब्द गुण युक्त है।

ये पाँच इन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रिय कही जाती है।

मन इन्द्रियः

सुखादि की उपलब्धि का साधन भूत जो इन्द्रिय है, वह मन हैं। यह अणु,

परिमाण और हृदय के अन्दर रहती है। इसे अन्तरिन्द्रिय कहते हैं। उसका विस्तृत विवेचन 'द्रव्य निरूपण' के प्रसंग में 'मन' द्रव्य के अन्तर्गत किया जायेगा।

इन्द्रियों की सिद्धि :

अब यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि चक्षु आदि इन्द्रियों की सत्ता में क्या प्रमाण है? तब इसका समाधान करते हुये आचार्य केशवमिश्र ने अपनी 'तर्कभाषा' में कहा है कि :अनुमान ही इन्द्रियों की सत्ता में प्रमाण है। जैसे:-रूपादि का ज्ञान करण से साध्य है, क्रिया होने से छेदन क्रिया के समान। तात्पर्य यह है कि जो क्रिया होती है, वह किसी करण से साध्य होती है। जैसे छेदनक्रिया-हसिया, चाकू आदि किसी करण से ही साध्य होती है, इसी प्रकार रूप आदि का ज्ञान भी किसी करण से साध्य होना चाहिये और जिस करण से साध्य है, वह इन्द्रिय है, इस प्रकार अनुमान से इन्द्रियों की सिद्धि होती है।

अर्थ

प्रमेयों के निरूपण में चौथा प्रमेय 'अर्थ' है। 'तर्कभाषा' में 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिक के अभिमत पदार्थों का निरूपण किया गया है, जबकि 'तार्किक रक्षाकार' ने अपवर्ग के लिये उपयोगी होने से तन्त्रान्तर अर्थात् वैशेषिक के अनुसार द्रव्य आदि छः पदार्थों का निरूपण 'प्रमेय' के अन्तर्गत ही किया है। वरदराज[1] का कहना है कि मोक्ष के लिये साक्षात्रूप से उपयोगी न होने से गौतम ने इनका लक्षण नहीं किया है।

तार्किकरक्षाकार ने 'इन्द्रिय से ग्राह्य पदार्थों को 'अर्थ' कहा है। द्रव्यों में से पृथिवी आदि चार और आत्मा, गुरुत्व, धर्म, अधर्म और संस्कार से भिन्न 20 गुण, 5 कर्म, सामान्य, समवाय, और अभाव ये सभी 'अर्थ' के अन्तर्गत आते हैं[2] ।

---

1. मोक्षे साक्षादनङ्गत्वादक्षपादैर्न लक्षितम् ।
   तन्त्रान्तरानुसारेण षटक द्रव्यादि लक्ष्यते।।'
   .-तार्किकरक्षा, 33.

2. तार्किक रक्षा पर 'सारसंग्रह' टीका।

'अर्थ' के अन्तर्गत आने वाले वैशेषिक के सातों पदार्थों का विस्तृत निरूपण आगे अध्यायों में किया जायेगा।

बुद्धि

यह न्याय दर्शन में मान्य पाचवाँ प्रमेय है। वैशेषिक दर्शन में इसका विवेचन 'गुण' के अन्तर्गत किया गया है। वैशेषिक दर्शन की प्रक्रिया में न्याय दर्शन के प्रमाणादि पदार्थों का अन्तर्भाव इस 'बुद्धि' पदार्थ के अन्तर्गत ही किया गया है।

इसका लक्षण 'अर्थप्रकाशो बुद्धिः' तथा 'बुद्धेरर्थप्रकाशनम्' किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'अर्थ का ज्ञान 'बुद्धि' है। यह दो प्रकार की होती है:- नित्या और अनित्या। ईश्वर की बुद्धि नित्य है और अन्य की अनित्य है।

तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने इसकी एक परिभाषा और की है कि :-बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय आदि पर्याय शब्दों के द्वारा जिसका कथन किया जाता है, उसे बुद्धि कहते हैं। वह संक्षेप से दो प्रकार का होता है:-अनुभव और स्मरण। अनुभव भी दो प्रकार का होता है:-यथार्थ और अयथार्थ।

इसका विस्तृत निरूपण 'प्रमाण निरूपण' के प्रसंग में किया जा चुका है।

मन

बुद्धि के पश्चात् न्याय दर्शन में क्रम प्राप्त छठा प्रमेय 'मन' है। इसका लक्षण 'अन्तरिन्द्रिय मनः' तथा 'सुखादेरापरोक्ष्यस्य साधनं मन इन्द्रियम्' किया गया है। इसका विस्तृत विवेचन 'द्रव्य निरूपण' के अन्तर्गत 'मन' द्रव्य के विवेचन में किया जायेगा।

प्रवृत्ति

इसका विवेचन करते हुये 'तार्किकरक्षाकार' ने कहा है कि :-'प्रवृत्तिरत्रयागादेः पुण्यापुण्यमयी क्रिया' अर्थात यागादि में होने वाली जो पुण्य तथा पापवाली क्रियायें हैं, वे प्रवृत्ति कही जाती हैं। तर्कभाषाकार ने धर्म और अधर्मरूप यागादि क्रिया और उससे उत्पन्न धर्माधर्म को

प्रवृत्ति[1] कहा है क्योंकि वह जगत के व्यवहार का साधक है।

दोष

प्रवृत्ति के कारण को 'दोष' कहते हैं। राग, द्वेष और मोह ये तीनों दोष हैं। 'राग', इच्छा को कहते हैं। 'द्वेष' क्रोध को कहते हैं और 'मोह' मिथ्याज्ञान अर्थात विपर्यय को कहते हैं।

प्रत्यभाव

यह न्याय में मान्य 'नवाँ' प्रमेय है। 'प्रेत्यभाव' का अर्थ है मरकर, फिर उत्पन्न होना है। 'प्रेत्य' का अर्थ है मरकर और 'भाव' का अर्थ है, फिर उत्पन्न होना। 'पुनर्जन्म' आत्मा के पूर्व शरीर की समाप्ति और नवीन शरीर आदि समूह की प्राप्ति ही है। देह, इन्द्रिय आदि के साथ आत्मा का जो फिर से सम्बन्ध होता है, उसे ही प्रेत्यभाव या पुर्नजन्म कहते हैं।

फल

यह न्याय मे मान्य दसवाँ प्रमेय है। तार्किकरक्षाकार ने प्रवृत्ति और दोष से उत्पन्न अर्थ को 'फल' कहा है और वह सुखादि है। तर्कभाषाकार ने सुख या दुःख में से किसी के अनुभवरूप भोग को 'फल' कहा है।

दुःख

यह न्याय मे मान्य ग्यारहवाँ प्रमेय है। पीड़ा को दुःख कहते हैं। तार्किकरक्षाकार ने 'प्रतिकूलवेदनीय दुःख' है, ऐसा कहा है। वह इक्कीस प्रकार का होता है। ये इक्कीस प्रकार शरीर, छः इन्द्रियाँ, छः विषय, छः ज्ञान और सुख तथा दुःख है। न्यायसूत्रकार ने 'दुःख' का लक्षण 'बाधनालक्षणं दुःखम्' किया है। इसका विस्तृत विवेचन 'गुण' निरूपण के सन्दर्भ में किया जायेगा।

---

1. प्रवृत्तिर्वागबुद्धिशरीराम्भः'-न्यायसूत्र

अपवर्ग

यह न्याय में मान्य अन्तिम अर्थात बारहवां प्रमेय है। प्रत्येक भारतीय दर्शन 'मोक्ष' को उद्देश्य मानकर ही प्रवृत्त होता है। अपवर्ग, कैवल्य, निःश्रेयस् आदि सभी इसी के पर्याय हैं। सभी दर्शन 'अपवर्ग' को मानते हैं, भले ही उनके मोक्ष (अथवा अपवर्ग, कैवल्य तथा निःश्रेयस्) प्राप्ति के साधन अथवा मोक्ष का स्वरूप भिन्न भिन्न ही हो। 'निःश्रेयस्' शब्द का अर्थ ही है कि मानव जीवन का सबसे महान कल्याण जिससे बढ़कर कोई कल्याण न हो।

अब जहां तक अपवर्ग सम्बन्धी धारणाओं का प्रश्न है तो सभी दर्शनों की अपवर्ग सम्बन्धी धारणाओं मे मतभेद है:-

न्यायमत :

न्यायसूत्रकार गौतम ने 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' अर्थात् दुःख से अत्यन्त समुच्छेद को 'अपवर्ग' कहा है। 'अत्यन्त' का अर्थ है सदा के लिये अर्थात जो जन्म ग्रहण किया गया है, उसका तो नाश होना ही चाहिये, आगे जन्म भी नहीं होना चाहिये, तभी दुःख नाश अत्यन्त कहलाता है। मुक्तावस्था में आत्मा के नवों विशेष गुणों -बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार का नाश हो जाता है। अभिप्राय यह है कि मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित और अखिल गुणों से विरहित रहती है।

नैयायिकों ने अपवर्ग अथवा निःश्रेयस दो प्रकार का माना है:- अपर निःश्रेयस् तथा पर निःश्रेयस्। तत्वज्ञान ही इन दोनों का कारण है। जीवनमुक्ति को अपर निःश्रेयस तथा विदेह मुक्ति को पर निःश्रेयस् कहा जा सकता है।

न्यायसूत्रकार गौतम ने न्यायसूत्र 1/1/2 में अपवर्ग प्राप्ति का साधन इस प्रकार बताया है:- मिथ्याज्ञान ही संसार का कारण है, मिथ्याज्ञान के विनाश से अपवर्ग की प्राप्ति होती है। मिथ्याज्ञान का विनाश केवल तत्वज्ञान से होता है जब तत्वज्ञान का विनाश हो जाता है तब राग द्वेष और मोह रूप दोषों का विनाश हो जाता है, क्योंकि मिथ्याज्ञान ही इनका कारण है। दोष भी प्रवृत्ति का कारण है, अतएव दोषों के विनाश होते ही प्रवृत्ति का भी

नाश हो जाता है, अर्थात धर्म और अधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म एवं अधर्म रूप अदृष्ट के नष्ट होने पर तज्जन्य जन्म का नाश हो जाता है। जन्म के अभाव से आत्मा के भोगसाधन शरीर आदि के न होने से सुखदुःख भोग का विनाश हो जाता है। इस प्रकार तत्वज्ञान से आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति होने से अपवर्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1]

वैशेषिक मत :

वैशेषिक दर्शन का मोक्ष सम्बन्धी विचार, न्याय दर्शन के समान ही है। वैशेषिक मत में जीव को नि-श्रेयस् की प्राप्ति द्रव्य, गुण आदि पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से होती है। पदार्थ ज्ञान के साथ ही साथ मानव को धर्म का आचरण भी करना चाहिए क्योंकि तत्वज्ञान समन्वित धर्म मोक्ष का अवान्तर कारण है। प्रशस्तपादभाष्य में कहा गया है कि मोक्ष ईश्वर की प्रेरणा से अभिव्यक्त होने वाले धर्म से ही होता है।[2] धर्माचरण परायण मानव ज्ञान-कर्म समुच्चय का आश्रय लेकर मुक्त हो जाता है।

महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के द्वितीय सूत्र में ही धर्म का लक्षण इस प्रकार किया है:-'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। किरणावली और उपस्कार के व्याख्यानुसार, अभ्युदय का अर्थ है 'तत्वज्ञान' और निःश्रेयस् का अर्थ है 'मोक्ष'। अभिप्राय यह है कि 'जिसके द्वारा तत्वज्ञान और मुक्ति की उपलब्धि हो अथवा तत्वज्ञानपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो, वही धर्म है।'

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जब अदृष्ट के अभाव होने पर कर्म-चक्र की गति का अपने ही आप अन्त हो जाता है, तब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध टूट जाता है और जन्म-मरण की परम्परा भी उसी के साथ बन्द हो जाती है, साथ ही सब दुःखों का नाश हो जाता है-यही मुक्ति है।[3] जब तक कर्म का कोई हिस्सा शेष रहता है,

---

1. दुःखजन्म प्रवृत्ति दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः'-न्यायसूत्र-1/1/
2. 'तच्चेश्वर चोदनाअभिव्यक्ताद्धर्मादेव-प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ 18
3. वैशेषिक सूत्र-5/2/18

तब तक उसके फल को भोगने के लिये जन्म धारण ही करना पड़ता है। जब संचित कर्म तथा प्रारब्ध कर्म का फल समाप्त हो जाता है और नये कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, तब पुनर्जन्म नहीं होता, आत्मा दुखों से सदा के लिये छुटकारा पा लेता है। इस मोक्ष की प्राप्ति तत्वज्ञान द्वारा ही होती है। तत्वज्ञान होने से मोह का नाश हो जाता है मोह के न होने पर वस्तु में राग या आसक्ति नहीं रहता, जो उसे अपनी ओर आकृष्ट कर सके। इस विषय में वैराग्य होने से कर्म करने में प्रवृत्ति नहीं होती। शरीर, वचन तथा मन के द्वारा मनुष्य तब कोई कर्म ही नही करता, जिसका फल भोगने के लिये, जन्म लेने की जरूरत पड़े। विपाक होने से पूर्व कर्म का नाश हो जाता है और नये कर्म का उदय प्रवृत्ति के अभाव में होता ही नहीं। अतएव शीररपात होने पर जीव को पुनः नये जन्म देने की आवश्यकता ही नहीं रहती फलतः उस समय सब प्रकार के दुःखों का नाश हो जाने से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि न्याय तथा वैशेषिक की अपवर्ग सम्बन्धी धारणा एक समान ही है तथा मोक्ष प्राप्ति का उपाय भी एक समान ही है।

किन्तु अन्य दर्शनों को मोक्ष सम्बन्धी धारणा न्याय-वैशेषिक में भिन्न है, जिसका संक्षिप्त विवेचन यहां किया जा रहा है:-

मोक्षसम्बन्धी अन्य मत:

वेदान्त मत :

अद्वैतवेदान्ती 'मोक्ष' मेंदुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के अतिरिक्त, नित्य सुख की अभिव्यक्ति भी मानते हैं। इनका मत है कि अनिर्वचनीया, त्रिगुणात्मिका, जगत 'परिणामी' उपादानकारणरूपा अविद्या' की निवृत्ति से उपलक्षित सच्चिदानन्द ब्रह्म ही मोक्ष है। उसका उपाय है, अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा तत्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों से प्रादुर्भुत होता है।

मीमांसा मतः

इनके अनुसार 'नित्य सुख की अभिव्यक्ति' ही मोक्ष है, जो वेदविहित कर्मों के श्रद्धापूर्वक विधिवत् अनुष्ठान से साध्य है।

सांख्य-योगमतः

इनके अनुसार अपने वास्तव स्वरूप कूटस्थ चैतन्य में पुरुष की अवस्थिति ही मोक्ष है,जो पुरुष और प्रकृति के विवेक साक्षात्कार से साध्य है।

जैन मत :

इनके मतानुसार आत्मा के वास्तविक स्वरूप को आवृत्त करने वाले सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होकर उसका ऊर्ध्वाभिमुख गमन' ही मोक्ष है, जो सम्यग् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्रय से निपुणतापूर्वक प्राप्त होता है।

बौद्धमतः

इनके अनुसार ज्ञान के विषय सम्पर्क रूप कालुष्य को निरस्त कर उसकी नितान्त निर्मल धारा को प्रवहित करना या उसे सदा के लिये निर्वाण-समाप्त कर देना ही मोक्ष है।

चार्वाक दर्शनः

इनके अनुसार वर्तमान जीवन को यथासंभव सब प्रकार के लौकिक सुखों से सम्पन्न कर अन्त में सांसारिक समृद्धियों के बीच मृत्यु का आलिंगन ही मोक्ष है, जो जीवन में धन, जन, स्वास्थ्य और अधिकार के अधिकाधिक अर्जन से लब्ध होता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि 'अपवर्ग' अर्थात् मोक्ष सभी दर्शनों का चरम लक्ष्य है, भले ही उनकी अपवर्ग सम्बन्धी धारणाओं तथा उसके प्राप्ति के उपाय भिन्न भिन्न हैं।

न्याय वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में अपवर्ग का स्वरूप :

अब जहाँ तक न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में 'अपवर्ग' के स्वरूप का

प्रश्न है तो तर्क संग्रह, तर्कामृत तथा करिकावली में 'अपवर्ग' का विवेचन ही नही किया गया है। तार्किकरक्षा तथा तर्ककौमुदी में अपवर्ग के स्वरूपमात्र को ही बताया गया है, उसकी प्राप्ति के उपायों का विवेचन नही किया गया है, जबकि तर्कभाषा में अपवर्ग के स्वरूप के साथ ही साथ, उसकी प्राप्ति के उपाय को भी बताया गया है:-

'तार्किकरक्षाकार' वरदराज ने, न्यायसूत्रकार गौतम के समान ही 'दु:खात्यन्तसमुच्छेदमपवर्ग:' अर्थात दु:ख के अत्यन्त समुच्छेद को अपवर्ग कहा है, अर्थात कहने का अभिप्राय यही है कि दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है।

'तर्ककौमुदीकार' लौगाक्षिभास्कर ने भी आत्यन्तिक दु:ख ध्वंस को ही मोक्ष माना है। उसका कहना है कि आत्यन्तिक दु:ख ध्वंस का अर्थ है, दु:ख के आश्रय स्थल आत्मा में जहाँ पहले दु:ख वर्तमान था, वहाँ अब एक कालावच्छेदेन दु:ख का ध्वसं हो गया। संसार दशा में आत्मा में होने वाला दु:ख ध्वसं, दु:खप्रागभाव समकालीन है। अत: मुक्त आत्मा में वर्तमान जन्म में होने वाले दु:ख का तथा अनागत में होने वाले दु:ख का नाश अपेक्षित है। इसी को 'आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति' कहा जा सकता है।

तर्कभाषाकार केशवमिश्र मोक्ष को अपवर्ग कहते हैं। तर्कभाषा के टीकाकार चिन्न भट्ट ने भी 'दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति' को अपवर्ग कहा है[1] ये अपवर्ग गौण तथा मुख्य भेद से इक्कीस प्रकार का है। शरीर, इन्द्रिय, उनके छ: विषय, उनके छ: ज्ञान, सुख एवं दु:ख। सुख भी दु:ख ही है क्योंकि वह दु:ख का अनुषंगी होता है, अर्थात सुख एवं दुख का अविनाभाव सम्बन्ध होता है, दोनों का एक दूसरे के बिना अस्तित्व सम्भव ही नही।

दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति के उपाय अथवा अपवर्ग प्राप्ति की प्रक्रिया केशवमिश्र ने 'तर्कभाषा' में इस प्रकार बतायी है:-

शास्त्र का यथोचित अध्ययन करने से मनुष्य को समस्त पदार्थों का तत्वज्ञान होता है। पदार्थों के तत्व के विदित हो जाने पर सांसारिक विषयों में दु:खानुविद्वता की प्रतीति होती

---

(1) तर्कभाषा प्रकाशिका-पृष्ठ 253

है, जिससे कि उनसे विरक्ति होती है और मुक्ति ही इच्छा होती है, परिणामस्वरूप आत्मा के वास्तविक स्वरूप के चिन्तन में प्रवृत्ति होती है। चिन्तन के परिपाक से आत्मा का साक्षात्कार होता है, जिससे अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और मोह नामक पंचक्लेशों की निवृत्ति होती है। इन दोषों के निवृत्त हो जाने पर मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह निष्काम भाव से करता है, जिससे नये धर्म या अधर्म का संचय नहीं होता योगाभ्यास से प्राप्ति शक्ति से पूर्वसंचित धर्म और अधर्म को जानकर उन्हें एक साथ ही भोग लेता है और जिस प्रारब्ध कर्म के लिये वर्तमान शरीर प्राप्त हुआ है, उसका भी भोग कर लेता है। परिणामस्वरूप वर्तमान शरीर छूट जाने पर और नया शरीर उत्पन्न न होने के कारण शरीर आदि इक्कीस दुःखों की आत्यन्तिक हानि हो जाती है। इन दुःखों का नाश ही मोक्ष अथवा अपवर्ग कहलाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि मोक्ष की अवस्था में दुःख की निवृत्ति का होना, सभी नैयायिकों का सिद्धान्त है और उसके लिये अपेक्षित ज्ञान का अर्जन तथा जीवन की शुद्धता का सम्पादन आवश्यक है।

संशय

न्याय दर्शन में मान्य षोडश पदार्थों में संशय तृतीय पदार्थ है। इसका विवेचन न्याय और वैशेषिक दोनों ही शास्त्रों में किया गया है, किन्तु अन्तर मात्र इतना ही है कि न्यायशास्त्र में इसे अयथार्थ अनुभव का एक भेद तो माना ही गया है, साथ ही इसकी गणना एक पृथक पदार्थ के रूप में भी की गयी है, इसकी उपयोगिता बताते हुये भाष्यकार[1] ने कहा है कि 'न्याय शास्त्र संशयित अर्थ में ही प्रवृत्त होता है, निर्णीत अर्थ में नही, अतः संशय पदार्थ की पृथक उपयोगिता है।' किन्तु वैशेषिक शास्त्र इसे पृथक पदार्थ स्वीकार नही करता, वैशेषिक शास्त्र में इसका विवेचन 'बुद्धि' गुण के सन्दर्भ में 'अयथार्थ अनुभव' के एक भेद के रूप में ही किया गया है।

---

(1) तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि? संशयितेऽर्थे-न्यायभाष्य-1/1/1।

लक्षण:

अब जहाँ तक संशय पदार्थ के स्वरूप का प्रश्न है तो इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है:-

'एकस्मिन्धर्मिणि विरूद्धनानार्थावमर्शः संशयः' किया है, इसका तात्पर्य यह है कि एक ही धर्मी में परस्पर विरूद्ध अनेक धर्मों का जो बोध सा होता है, उसे संशय कहते हैं। इसी से मिलते-जुलते लक्षण 'तर्कसंग्रहकार 'अन्नम्भट्ट तथा तर्ककौमुदीकार लौगाक्षिभास्कर' ने भी किये है। 'तार्किकरक्षाकार[1] वरदराज' ने भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है, किन्तु 'न्यायसिद्धान्त मुक्तावलीकार विश्वनाथ पन्चानन' ने संशय का लक्षण कुछ भिन्न प्रकार से किया है: 'एक धर्मिक विरूद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानंसंशयः' अर्थात एक धर्मी में परस्पर विरूद्ध भावाभावप्रकारकं ज्ञानंसंशयः' अर्थात एक धर्मी में परस्पर विरूद्ध भावाभाव को विषय करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। इसी प्रकार 'तर्कामृतकार जगदीश तर्कालंकार' ने भी संशय का लक्षण कुछ दूसरे ही प्रकार से किया है कि -'समानधर्मवद्धर्मिज्ञान विशेषादर्शनकोटि-द्वयस्मरणैरयं स्थाणुर्वा पुरूषो वेति ज्ञानं जन्यते सं एवं संशयः'

इस प्रकार संक्षेप में 'एक वस्तु में नानाविध ज्ञानों की अनिश्चितावस्था को' ही संशय कहा जाता है।

संशय के लक्षण को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है कि-मन्द अन्धकार में स्थित दिखाई देने वाले किसी 'स्थाणु' के विषय में 'स्थाणुर्वा पुरूषो वा' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान पुरोवर्ति स्थाणुरूप एक धर्मी में 'स्थाणुत्व और स्थाणुत्व के अभाव' तथा 'पुरूषत्व और उसका अभाव' ये दोनों परस्पर विरोधी भी है, कहने का अभिप्राय यह है कि ये दोनों एक ही अधिकरण में नहीं रह सकते, अतः एक धर्मी के विरूद्ध भावाभावप्रकारक ज्ञान होने से, इसे संशय कहा जाता है।

---

1. वरदराजकृत तार्किकरक्षा-'संशय कथितो ज्ञानमवधारणवर्जितम्।
   समानानेकधर्माभ्यां विमतेश्तदुभवः।।'

   तथा

   'दोलायमाना प्रतीतिः संशयः- 'गुणरत्नषड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति।

संशय पदार्थ का ऐसा ही लक्षण टीकाकारों[1], न्यायसूत्रकार तथा वैशेषिक सूत्रकार[2] ने भी किया है।

अब यह जानना भी आवश्यक है कि संशय के लिये किन-किन परिस्थितियों का होना अनिवार्य है? अतः तर्कसंग्रह की 'दीपिका' टीका में अन्नम्भट्ट ने संशय के लिये अवस्थायें बतायी हैं-

(1) नाना धर्मों का ज्ञान होना ।
(2) उन धर्मों का परस्पर विरूद्ध होना
(3) उन धर्मों का एक ही धर्मी में होना

इन तीनों अवस्थाओं के होने पर ही संशय होता है।

अब यह शंका होना भी स्वाभाविक ही है कि संशय, 'प्रमा' क्यों नही है? तब इस शंका के समाधान में यह कहा जा सकता है कि 'संशय प्रमा इसलिये नही, क्योंकि इसमें एक भी कोटि का वास्तविक होना अनिवार्य नही, यदि किसी संशय में एक कोटि वास्तविक होती भी है तो भी ज्ञान निश्चयात्मक नही हो पाता, अतः संशय को प्रमा नहीं माना जा सकता इस प्रकार उसका अप्रमात्व ही सिद्ध होता है।

भेद:

अभी तक तो संशय पदार्थ का लक्षण तथा संशय सम्बन्धी अन्य बातों का विवेचन किया जा रहा था, किन्तु अब यह जानना भी आवश्यक है कि यह संशय होता कितने प्रकार का है? अतः अब संशय के भेदों का विवेचन किया जा रहा है, जहाँ तक न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों का प्रश्न है तो इन ग्रन्थों में संशय के तीन भेद बताये गये हैं-

(1) साधारण धर्म के ज्ञान से उत्पन्न ।
(2) असाधारण धर्म के ज्ञान से उत्पन्न ।
(3) विप्रतिपत्ति वाक्य के ज्ञान से उत्पन्न ।

---

(1) 'एकत्रविरूद्ध कोटिद्वयालम्बि ज्ञानं संशयः'-चिन्नम्भटट्कृत तर्कभाषा-प्रकाशिका

(2) वैशेषिक सूत्र-2/2/17 'सामान्य प्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेष स्मृतेश्च संशयः'

तथा न्यायसूत्र-1/1/23

यहाँ तीन भेद 'वार्त्तिककार'[1] को भी मान्य है किन्तु 'सूत्रकार'[2] तथा 'भाष्यकार' ने पाँच प्रकार के संशय बताये हैं:

(1) समानधर्म की उपलब्धि से ।

(2) अनेक धर्म की उपलब्धि से ।

(3) विप्रतिपत्ति से ।

(4) उपलब्धि की अव्यवस्था से ।

(5) अनुपलब्धि की अव्यवस्था से ।

अब न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में प्रतिपादित संशय के भेदों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया जा रहा है:-

साधारण धर्म के ज्ञान से जन्य :

इस संशय को इस प्रकार समझा जा सकता है, यथा:-'स्थाणुर्वा पुरूषोवा' इस ज्ञान में 'स्थाणु' तथा 'पुरूष' में रहने वाला जो आरोह (लम्बाई) और परिणाह (मोटाई) आदि साधारण धर्म हैं, उसके ज्ञान से जन्य होने के कारण, इस ज्ञान को 'साधारण धर्मज्ञान जन्य संशय' कहा जाता है।

असाधारण धर्म के ज्ञान से जन्य :

यह दूसरे प्रकार का संशय इस प्रकार होता है, यथा:-शब्दत्वधर्म, आकाशादि नित्य पदार्थों में भी नहीं रहता और घटादि अनित्य पदार्थों में भी नहीं रहता, वह तो केवल 'शब्द' में ही रहता है, इस प्रकार के ज्ञान के बाद पुरूष को 'शब्दों नित्यों न वा' इस प्रकार का 'शब्द' में नित्यत्व तथा नित्यत्वाभाव प्रकारक संशय' होता है, यह संशय उस शब्द रूप असाधारण धर्म के ज्ञान से जन्य होता है, अतः इस संशय को 'असाधारण धर्मज्ञान जन्य' संशय कहा जाता है।

---

(1) न्यायवार्त्तिक-1/1/23

(2) न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य-1/1/23

विप्रतिपत्तिवाक्यजन्य:

यह संशय तब होता है, जब एक ही पदार्थ के विषय में विरूद्ध मत सामने आते हैं, जैसे:-मीमांसक प्रमात्व को 'स्वतोग्राह्या' कहते हैं और नैयायिक 'परतोग्राह्या' मानते हैं, तब दोनों प्रकार के मतों को सुनकर पुरूष को 'प्रमात्वं' स्वतोग्राह्यम् परतो वा ग्राह्यम्' इस प्रकार का जो संशय होता है, उसे विप्रतिपत्तिवाक्यजन्य संशय' कहा जाता है।

यह जो तीन प्रकार के संशय बताये गये हैं, इन तीनों ही प्रकार के संशय में सदैव विशेष का अदर्शन' तथा 'दोनों कोटियों का स्मरण' कारण होता है, उसके बिना कोई संशय नही होता। जिसके ज्ञान से संशय की निवृत्ति होती है, उसे विशेष' कहते हैं, यथा -'स्थाणुत्व' का निश्चय कराने वाला 'वक्रकोटरादिमत्व' है और 'पुरूषत्व' का ज्ञान कराने वाले 'करचरणादिमत्व' है। इस विशेष' का ज्ञान हो जाने पर संशय नही रहता, इसलिये विशेष का अदर्शन' तथा 'भावाभावरूप विरूद्ध कोटियों का स्मरण' भी संशयोत्पत्ति में कारण होता है।

इस प्रकार संशय पदार्थ का लक्षण भेद, पूर्वक विवेचन किया गया।

प्रयोजन

न्याय दर्शन में मान्य यह चतुर्थ पदार्थ है, अतः अब संशय के पश्चात् इसका विवेचन किया जा रहा है:-

जहाँ तक 'प्रयोजन' के स्वरूप का प्रश्न है तो वह इसकी व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट होता है कि 'प्रयुज्यते प्रवर्त्यते अनेन इति प्रयोजनम्' अर्थात इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'प्रयोजन' का अर्थ है 'प्रवर्तक' इसी प्रकार के कुछ लक्षण ग्रन्थकारों ने भी किये हैं-तर्कभाषाकार ने इसका लक्षण 'येन प्रयुक्तः प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम्' किया है, अभिप्राय यह है कि जिससे प्रेरित होकर मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, उसे प्रयोजन कहते हैं। तार्किकरक्षाकार ने भी इसी प्रकार का लक्षण किया है कि 'यदुद्दिश्य प्रवर्त्तन्तेपुरूषास्तत् प्रयोजनम्' अर्थात तात्पर्य है कि जिसका उद्देश्य करके पुरूष कार्य में प्रवृत्त होता है, उसे प्रयोजन कहते हैं।

इस प्रयोजन का स्वरूप मुख्यतः सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश ही है, क्योंकि सभी की प्रवृत्ति उसी के लिये होती है। प्रायः यह भी कहा जाता है कि -'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'[1] अर्थात् प्रयोजन के बिना मन्द बुद्धि वाला भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, अतः इससे सिद्ध होता है कि प्रयोजन की सत्ता सभी दर्शनों में स्वीकार की गई है, क्योंकि बिना प्रयोजन के कोई भी शास्त्र प्रवृत्त नहीं होता।

न्यायसूत्रकार[2] भी कहते हैं कि जिस वस्तु को उद्देश्य बनाकर व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, उसे प्रयोजन कहा जाता है। इसी परिभाषा को और स्पष्ट करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं कि जिस वस्तु को प्राप्य या त्याज्य समझकर उसकी प्राप्ति एवं उसके त्याग के लिये प्राणी प्रयास करता है, उसे 'प्रयोजन' कहते हैं। किन्तु इस परिभाषा से यह स्पष्ट नहीं होता कि कौन से पदार्थ प्राप्तव्य है और कौन से त्याज्य है, जिनकी प्राप्ति एवं त्याग को प्रयोजन माना जाये। वार्त्तिककार[4] ने इसे स्पष्ट करते हुये कहा है कि 'सुख' ग्राह्य है और 'दुःख' त्याज्य है, क्योंकि सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण के लिये ही मनुष्य की प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश ही प्रयोजन है।

उपरोक्त लक्षणों वाले इस प्रयोजन के ग्रन्थकारों ने दो भेद बताये हैं:- मुख्य और गौण । सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण रूप प्रयोजन को मुख्य प्रयोजन तथा सुख प्राप्ति एवं दुःख निवारण के साधनों को गौण प्रयोजन बताया गया है।

अब यह शंका हो सकती है कि 'गौण प्रयोजन' को मानना क्यों आवश्यक है? तब इसके समाधान स्वरूप यह कहा जा सकता है कि गौण प्रयोजन मानने का कारण यह है कि सुख की प्राप्ति एवं दुःख के निवारण को मुख्य प्रयोजन मानना ठीक है, किन्तु इन दोनों में

---

(1) चिन्नम्भट्ट कृत तर्कभाषा प्रकाशिका, पृष्ट 255

(2) न्यायसूत्र-1/1/24

(3) न्याय भाष्य-1/1/1

(4) न्यायवार्तिक-1/1/24

स्वरूपतः किसी व्यक्ति को न तो प्रवृत्ति ही होती है और न निवृत्ति ही, क्योंकि सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार, ये दोनों ही मात्र प्रतीति के विषय है, प्रवृत्ति के नहीं, किन्तु सुख प्राप्ति एवं दुःख परिहार के साधनों में व्यक्ति प्रवृत्त होता है, अतः गौण रूप से इन साधनों को भी प्रयोजन माना गया है।

प्रयोजन के भेदों के संबंध में तो विभिन्न मतभेद हैं, किन्तु इस विषय में सभी का एक मत है कि 'प्रयोजन' ही व्यक्ति को किसी कार्य में प्रवृत्त करता है' विभिन्न प्रमाणों एवं तर्क का सहारा लेकर व्यक्ति पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के निर्णय करने में तभी प्रवृत्त होता है, जबकि उसका कोई प्रयोजन हो।

दृष्टान्त

न्याय दर्शन में मान्य षोडश पदार्थों में यह पांचवां पदार्थ है। इसका विवेचन तर्कभाषा तथा तार्किकरक्षा इन दो सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में ही किया गया है।

अब यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि इस पदार्थ की उपयोगिता क्या है? जिससे न्याय शास्त्र में इसकी पृथक पदार्थ के रूप मे गणना की गयी है। अतः भाष्यकार ने दृष्टान्त के महत्व को बताते हुये, उसे अनुमान का मूल माना है[1]। उदाहरण को अनुमान का प्राण माना जाता है, जो कि एक प्रकार का दृष्टान्त ही होता है, उचित उदाहरण को पाकर नास्तिक भी आस्तिक बन जाता है।

इस दृष्टान्त की एक उपयोगिता और है, वह ये कि प्रतिपक्ष के दृष्टान्त की त्रुटि को देखकर, उसके मत का खण्डन किया जाता है तथा स्वंय दृष्टान्त का प्रयोग करके अपने मत की स्थापना की जाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि दृष्टान्त के बिना अनुमान प्रमाण से पदार्थों का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता तथा शब्द प्रमाण का आधार भी दृष्टान्त ही है, इस

---

(1) न्यायभाष्य-1/1/1

प्रकार दृष्टान्त, प्रमा में अत्यधिक सहायक होता है, अतः न्याय दर्शन में 'दृष्टान्त' की उपयोगिता बतायी गयी, अब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि 'दृष्टान्त' का स्वरूप क्या है? अतः इसका लक्षण बताते हुए 'तर्कभाषाकार' कहते हैं कि 'वादे प्रतिवादिनोः संप्रतिपत्ति विषयोऽर्थो दृष्टान्तः' अर्थात वादी और प्रतिवादी दोनों के एकमत्य के विषयभूत अर्थ को 'दृष्टान्त' कहते हैं, इसे सरल भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस विषय में वादी और प्रतिवादी का मतभेद न हो, ऐसे विषयभूत अर्थ को 'दृष्टान्त' कहा जाता है।

किन्तु 'तार्किकरक्षाकार' ने इसका लक्षण कुछ भिन्न प्रकार से किया है:-'व्याप्ति संवेदन स्थाने दृष्टान्त इति गीयते' अर्थात व्याप्ति के संवेदन स्थान को दृष्टान्त कहते हैं। किन्तु सूत्रकार[1] का लक्षण इन दोनों ही लक्षणों से बिल्कुल भिन्न है' लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः' अभिप्राय यह है कि जिस विषय में लौकिक और परीक्षक दोनों प्रकार के व्यक्ति एक मत हों, उसे दृष्टान्त कहते हैं।

उपरोक्त लक्षणों वाले इस दृष्टान्त के दो भेद माने गये हैं, जैसा कि 'तर्कभाषाकार' और 'तार्किकरक्षाकार' के विवेचन से भी ज्ञात होता है। तर्कभाषाकार ने 'स द्विविधः एकः साधर्म्य दृष्टान्तो द्वितीयस्तु वैधर्म्य दृष्टान्त, ऐसा कहा है और तार्किकरक्षाकार ने भी 'स च साधर्म्यवैधर्म्य भेदेन द्विविधो भवेत्' कहकर दृष्टान्त के दो भेद माने हैं:-साधर्म्य और वैधर्म्य।

साधर्म्य दृष्टान्त का लक्षण 'साध्यसाधनयोर्यत्र साहचर्य दृश्यते स साधर्म्य दृष्टान्तः[2] किया गया है। ऐसा ही लक्षण 'तार्किकरक्षा की सारसंग्रह' टीका में भी किया गया है।

लक्षण का तात्पर्य यह है कि साध्य और साधन इन दोनों में जहाँ साहचर्य दिखायी देता है, उसे साधर्म्य दृष्टान्त कहते हैं, यथा-'धूमत्वस्य हेतोर्महानसम्' तात्पर्य यह है कि जैसे 'पर्वतो वहि्नमान् धूमवत्वात् यथा महानसम्' यहाँ पर्वत पक्ष है, उसमें धूम से वहि्नसाध्यक अनुमान किया गया है, इस अनुमान में 'महानस' का दृष्टान्त दिया गया है यह महानस, पर्वत पक्ष का

---

(1) न्यायसूत्र-1/1/25

(2) चिन्नम्भट्ट कृत तर्कभाषा प्रकाशिका-पृष्ठ 256
तथा
तार्किकरक्षा पर सारसंग्रह टीका पृष्ठ-169

साधर्म्य दृष्टान्त है, क्योंकि धूम और अग्नि अर्थात हेतु और साध्य पक्षभूत पर्वत के तथा दृष्टान्त रूप महानस इन दोनों के ही धर्म हैं, अतः यह साधर्म्य दृष्टान्त का उदाहरण है।

दूसरे वैधर्म्य दृष्टान्त का लक्षण 'तदभावयोः साहचर्य यत्र सः वैधर्म्य दृष्टान्तः किया गया है, ऐसा ही लक्षण तार्किक रक्षा की सारसंग्रह टीका में भी किया गया है[1]। लक्षण का अभिप्राय यह है कि जहाँ साध्य में साधन के अभाव के साहचर्य का ज्ञान होता है, वह वैधर्म्य दृष्टान्त कहा जाता है, अथवा अन्य शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'पक्ष के विधर्मी दृष्टान्त को वैधर्म्य दृष्टान्त कहा जाता है कि इसे इस उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है, जैसे पर्वत में (पक्ष) धूम (हेतु) से वह्निसाध्यक अनुमान करते समय महाहृद को दृष्टान्त रूप में रखा जाता है। यह महाहृद पर्वत पक्ष का विधर्मी है, क्योंकि पर्वतपक्ष में धूम और वह्नि है, किन्तु महाहृद में दोनों का अभाव है। वह्न्यभाव में धूमाभाव के सहचार का ज्ञान 'महाहृद' में होता है, अतः यह वैधर्म्य दृष्टान्त का उदाहरण है।

यह दृष्टान्त पदार्थ, अनुमान, उपमान और उदाहरण से भिन्न होता है। दृष्टान्त पदार्थ की अनुमान, उपमान और उदाहरण से भिन्नताओं का विवेचन वार्तिककार ने किया है।

सिद्धान्त

न्याय दर्शन की पदार्थ गणना में यह 'छठा' पदार्थ है, अतः दृष्टान्त के पश्चात् अब क्रमप्राप्त सिद्धान्त' पदार्थ का विवेचन किया जा रहा है:-

जहाँ तक 'सिद्धान्त' पदार्थ के स्वरूप का प्रश्न है तो वह इसकी व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट होता है कि 'सिद्धः अन्तः येन सः सिद्धान्तः' इसका लक्षण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है:-'तर्कभाषाकार' ने इसका लक्षण 'प्रमाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः' किया है, यही लक्षण 'सर्वदर्शन संग्रहकार' को भी मान्य है, किन्तु 'तार्किकरक्षाकार' ने इसका लक्षण दूसरे ही शब्दों में किया है 'अभ्युपेतः प्रमाणैः स्यादाभिमानेक सिद्धिभिः सिद्धान्तः', जबकि 'न्यायसूत्रकार'

---

(1) चिन्नम्भट्ट कृत तर्कभाषाप्रकाशिका-पृष्ठ 256 तथा तार्किकरक्षा सारसंग्रह टीका-पृष्ठ 169

ने इसका लक्षण 'तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्त' किया है। तात्पर्य यह है कि 'शास्त्र के आश्रित अर्थ की इत्थम् भावव्यवस्था सिद्धान्त' कहलाती है अथवा जिस पदार्थ को प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाता है, उस अर्थ को सिद्धान्त कहते हैं। इसे स्पष्टरूप से इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी वस्तु के विषय में सामान्य या विशेष रूप से जो कुछ कहा जाये, उसे मान लेने को सिद्धान्त' कहते हैं, प्रमाण के द्वारा ज्ञान होने पर 'यह अर्थ है' इस प्रकार से स्वीकृत अर्थ को सिद्धान्त कहते हैं। शास्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम इन तीनों के माने हुये विषयों की सम्यक् व्यवस्था मानना सिद्धान्त कहलाता है[1]। किसी विषय में संसार के सभी लोगों की मान्यता एक जैसी नही होती, इसी से विभिन्न सिद्धान्तों का जन्म होता है।

सभी ग्रन्थकारों ने चार प्रकार के सिद्धान्त माने हैं:-सर्वतंत्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम ।

सर्वतन्त्र सिद्धान्तः

इसका लक्षण तार्किकरक्षाकार ने इस प्रकार किया है:-'सर्वतन्त्राविरूद्धोऽर्थः स्वतन्त्रेऽधिकृतश्च यः स सर्वतन्त्र सिद्धान्तः' तथा चिन्नम्भट्ट ने भी अपनी 'तर्कभाषा प्रकाशिका' टीका में इसका लक्षण 'सर्वतन्त्राविरूद्धः सर्वतन्त्राधिकृतश्च सर्वतन्त्र सिद्धान्तः' किया है। दोनों ही लक्षणों का अभिप्राय यह है कि 'ऐसा विषय, जिसका प्रतिपादन अपने शास्त्र मे हुआ हो तथा अन्य विरोधी शास्त्रों के द्वारा भी मान्य हो, उसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त' कहते हैं, ऐसा ही 'सूत्रकार'[2] का भी मत है। इस सिद्धान्त को उदाहरण द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है, यथा:-'मानैर्मेयधीः' अर्थात 'प्रमाण के द्वारा प्रमेयों का ज्ञान होता है' यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त का उदाहरण है, क्योंकि सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रमाण को माना गया है।

प्रतितन्त्र सिद्धान्तः

तार्किकरक्षाकार ने इसका लक्षण-'स्वतन्त्र एवं सिद्धोऽर्थः परतन्त्रैर्निवारितः प्रतितन्त्रो'

---

(1) न्यायसूत्र - 1/1/26

(2) न्यायसूत्र - 1/1/28

किया है, चिन्नम्भट्ट[1] ने भी इसी प्रकार का लक्षण किया है।

उपरोक्त लक्षण का अभिप्राय यह है कि जिस सिद्धान्त को अपना समाजशास्त्र मानता हो तथा अपने से विरोधी शास्त्र न मानता हो, उसे प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहते हैं। यथाः-न्याय का समानतंत्र शास्त्र वैशेषिक है और परतन्त्र शास्त्र सांख्य-योग है। उदाहरण से इसका स्वरूप और स्पष्ट हो जायेगा, वैशेषिक दर्शन में इन्द्रियों को पांच महाभूतों से उत्पन्न माना गया है, परन्तु न्याय के विरोधी शास्त्र सांख्य और योग में ऐसा नहीं माना गया है, अतः 'इन्द्रियां भौतिक हैं' न्याय का यह सिद्धान्त, सांख्य आदि की दृष्टि से 'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' है।

अधिकरण सिद्धान्तः

तार्किक रक्षाकार ने इसका लक्षण 'अनुमेयस्य सिद्धयर्थो योऽनुषङ्गेण सिध्यति स स्यादधिकार सिद्धान्तो' ऐसा ही लक्षण चिन्नम्भट्ट[2] ने भी किया है।

इस प्रकार जिस सिद्धान्त के सिद्ध होने पर ही अन्य सिद्धान्त की सिद्धि हो, वह अधिकरण सिद्धान्त[3] है। यथा-न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा की सिद्धि के साथ-साथ इन्द्रिय नानात्वादि की भी सिद्धि हो जाती है, वो अधिकरण सिद्धान्त है।

तर्कभाषाकार ने इस सिद्धान्त का उदाहरण क्षित्यादि कर्तृत्व सिद्धौ कर्तुः सर्वज्ञत्वम्' दिया है, अर्थात पृथिवी आदि के कर्त्ता की सिद्धि हो जाने पर, कर्ता का सर्वज्ञत्व भी सिद्ध हो जाता है। अतः यह अधिकरण सिद्धान्त का उदाहरण है।

अभ्युपगम सिद्धान्तः

इसका लक्षण 'साधितः परतन्त्रे यः स्वतन्त्रे च समाश्रितः स ह्यभ्युपगमो[4] तथा अपरीक्षा युपगमन्त-द्विशेषणपरीक्षणमभ्युपगम सिद्धान्तः[5] किया गया है। न्यायसूत्रकार[6] ने भी ऐसा ही

---

(1) चिन्नम्भट्टकृत तर्कभाषा प्रकाशिका-पृष्ठ 256
(2) चिन्नम्भट्ट कृत तर्कभाषा प्रकाशिका-पृष्ठ 256
(3) न्यायसूत्र-1/1/30
(4) वरदराजकृत तार्किकरक्षा
(5) चिन्नम्भट्टकृत तर्कभाषा प्रकाशिका-पृष्ठ 256
(6) न्यायसूत्र-1/1/31

लक्षण किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस विषय की विशेष परीक्षा {हेतु कुछ समय के लिये उसे मान लेना अथवा स्वीकार करना, अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है।

वादी अपने बुद्धि कौशल के प्रदर्शन के लिये ही प्रतिवादी के सिद्धान्त को मानता है, क्योंकि कालान्तर में उसका खण्डन करना होता है, यथा-न्याय दर्शन में शब्द को द्रव्य नहीं माना जाता, परन्तु थोड़े समय के लिये शब्दों को द्रव्य मानकर बाद में उसके नित्यत्व और अनियत्व की परीक्षा करने के श्रम में उसका खण्डन कर देना, अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है।[1]

अभी तक तो सिद्धान्त के भेदों का विवेचन किया जा रहा है, किन्तु अब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि न्याय दर्शन में सिद्धान्त' पदार्थ का महत्व क्या है? तब इस प्रश्न के समाधान में यह कहा जा सकता है कि सिद्धान्त का वादादि कथाओं की प्रवृत्ति में भी योगदान है, क्योंकि सिद्धान्तों में परस्पर विरोध होने पर ही वाद, जल्प और वितण्डा आदि कथाओं की प्रवृत्ति होती है, यदि सिद्धान्तों में विरोध ही न होगा, तब वादादि कथाओं की प्रवृत्ति ही अवरूद्ध हो जायेगी। यही सिद्धान्त' पदार्थ की उपयोगिता है।

इस सिद्धान्त पदार्थ के विषय ने जैन तथा बौद्ध दर्शन से नैयायिकों का मतभेद है।

अवयव

'न्यायदर्शन में मान्य पदार्थों में 'सातवां पदार्थ' अवयव' है। 'अनुमान वाक्य के एकदेश' अवयव' कहलाते हैं। ये पांच प्रकार के माने गये हैं:-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। ये पांच अवयव न्याय-वैशेषिक में मान्य हैं, किन्तु अन्य दर्शनों में इनके भेदों के विषय में मतभेद हैं। इनका विस्तृत निरूपण 'अनुमान प्रमाण' के संदर्भ में किया जा चुका है।

तर्क

न्याय दर्शन में मान्य आठवां पदार्थ 'तर्क' है। न्याय दर्शन में एक पृथक पदार्थ के रूप में इसकी सत्ता स्वीकार की गयी है, तथा इसे 'अयथार्थ अनुभव' का एक भेद भी माना

{1} तर्कभाषा-केशवमिश्रकृत तथा न्यायभाष्य-1/1/31

गया है, जबकि वैशेषिक शास्त्र में अयथार्थ अनुभव के एक भेद के रूप में ही इसका विवेचन किया गया है।

अब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है 'तर्क' कहते किसे हैं? अतः इस प्रश्न के निवारण के लिये ही अब ग्रन्थकारों द्वारा किये गये तर्क के लक्षणों का विवेचन किया जा रहा है-वरदराज ने तार्किकरक्षा में तथा केशवमिश्र ने तर्कभाषा में इसका लक्षण 'तर्कोऽनिष्ट प्रसंगः' किया है, तात्पर्य यह है कि 'अनिष्टप्रसंग' को तर्क कहा जाता है। तर्कसंग्रह में इसका लक्षण 'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः' किया गया है, तात्पर्य यह है कि व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, तर्कामृत तथा तर्ककौमुदी में तर्क पदार्थ का विवेचन नहीं किया गया है। तर्कामृत में अयथार्थ अनुभव के चार भेद माने गये हैं-संशय, विपर्यय, स्वप्न और अनध्यवसाय, इन्होंने तर्क को अयथार्थ अनुभव का भेद नहीं माना है, इसी प्रकार 'कारिकावलीकार' ने भी अयथार्थ अनुभव के दो भेद बताये हैं- विपर्यय और संशय तथा 'तर्ककौमुदीकार' ने भी भ्रम और संशय ये दो भेद अयथार्थ अनुभव के बताये हैं, इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि तर्क का अयथार्थ अनुभव के भेद के रूप में विवेचन 'तर्कसंग्रह' में ही किया गया है, अन्य ग्रन्थों में नहीं। तर्कभाषा तथा तार्किक रक्षा में तो इसकी पृथक पदार्थ के रूप में विवेचना की गयी है।

तर्क के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये यह कहा जा सकता है कि 'अज्ञात अर्थ के स्वरूप को निश्चित करने के लिये कारणनिर्देश पूर्वक किया जाने वाला मानस-व्यापार विशेष 'तर्क' होता है[1]। इसे ही अन्य शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि उत्तरपक्षी द्वारा स्थापित एक सत्य को स्वीकार न करने वाले पूर्वपक्षी को दूसरे प्रसिद्ध सत्य के अस्वीकार के लिये बाध्य कर देना ही 'तर्क' है।

अभिप्राय यह है कि उत्तरपक्षी, पूर्वपक्षी के समक्ष तर्क द्वारा एक प्रकार के विरोध की स्थिति प्रस्तुत कर देता है, जिससे पूर्वपक्षी को बाध्य होकर उत्तरपक्षी के वक्तव्य को मानना

---

(1) न्यायसूत्र-1/1/40

ही पड़ता है, इस प्रकार तर्क से अपने वक्तव्य का विरोध प्रदर्शन द्वारा उत्तरपक्षी समर्थन करता है। चूंकि प्रसिद्ध सत्य को मानना पूर्वपक्षी का भी अभीष्ट होना चाहिये, अतः इसके अस्वीकार के लिये बाध्य हो जाना ही पूर्वपक्षी के लिये अनिष्ट है, इस अनिष्ट के स्वीकार के लिये पूर्वपक्षी को बाध्य कर देना ही तर्क का लक्ष्य है, अतः केशवमिश्र तथा वरदराज ने तर्क को अनिष्ट प्रसंग कहा है[1]।

किन्तु ऊपर जो कहा गया है कि 'उत्तरपक्षी' के वक्तव्य का समर्थन तर्क का तात्पर्य है, तो यह तभी सम्भव है, जब उत्तरपक्षी द्वारा स्थापित सत्य और प्रसिद्ध सत्य के मध्य कोई स्वाभाविक सम्बन्ध हो, इसलिये इन दोनों के बीच 'व्याप्यव्यापकभाव' सम्बन्ध माना जाता है। उत्तरपक्षी द्वारा स्थापित सत्य को 'व्यापक' तथा प्रसिद्ध सत्य को 'व्याप्य' होना चाहिये और चूंकि तर्क में विरोध प्रदर्शन ही प्रधान होता है, अतः इसकी अभिव्यक्ति सदा अभावात्मक ही होती है यदि व्यापक नहीं होता तो व्याप्य भी नहीं हो सकता। इसीलिये 'तर्क' की परिभाषा 'अन्नम्भट्ट' ने 'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः' की है[2]।

अब यह जानना भी आवश्यक है कि तर्क की उपयोगिता क्या है? तो इसकी उपयोगिता यह है कि यह प्रमाण तो नहीं, किन्तु प्रमाणों का अनुग्राहक अर्थात समर्थक होता है, ऐसा तर्कभाषाकार तथा तार्किकरक्षाकार ने कहा है, यही कथन न्यायभाष्यकार वात्स्यायन का भी है[3]।

जैन दर्शन में अकलंक ने परोक्ष प्रमाण के एक भेद के रूप में 'तर्क' को भी एक प्रमाण माना है। मीमांसा में 'तर्क' के लिये 'ऊह' शब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु न्याय और बौद्ध दर्शनों में 'तर्क' को प्रमाणरूप नहीं, बल्कि प्रमाणों का अनुग्राहक मात्र माना गया है।

अब जहां तक तर्क के भेदों का प्रश्न है तो इस विषय में मतभेद है, 'सर्वदर्शनसंग्रह'

{1} तर्कभाषा-केशवमिश्रकृत तथा वरदराज कृत तार्किकरक्षा।

{2} तर्कसंग्रह-अन्नम्भट्टकृत ।

{3} न्यायभाष्य-1/1/1

में इसके ग्यारह भेद बताये गये हैं[1], किन्तु वृत्तिकार विश्वनाथ केवल पांच भेद ही मानते हैं, ये अन्य प्रकारों को वास्तविक तर्क न कहकर औपचारिक तर्क कहते हैं[2]

अब जहां तक 'सम्मिश्रित प्रकरणग्रन्थों' में वर्णित तर्क के भेदों का प्रश्न है तो 'तर्कभाषा तथा तर्कसंग्रह' में इसका लक्षण ही बताया गया है, इसके भेदों का विवेचन नहीं किया गया है, किन्तु 'तार्किकरक्षा' में वरदराज ने तर्क के पांच भेद बताये हैं-

आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रकाश्रय, अनवस्था और प्रमाणबाधितार्थप्रसंग। वरदराज का कहना है कि इन 'तर्कभेदों' का अन्तर्भाव पांच हेत्वाभासों में ही हो जाता है[3]

यहां तक तो 'तर्क' का लक्षण तथा उसके भेदों के विषय में विवेचन किया गया, अब तर्क के अंग, तर्क का विषय, उसका हेतु और उसका फल क्या होता है, यह बताया जा रहा है-वरदराज ने तार्किकरक्षा में तर्क के पांच अंग बताये हैं-व्याप्ति, तर्काप्रतिहति, अवसान, विपर्यय और अनिष्टानुकूल। वरदराज ने अविज्ञात तत्व के विषय में होने वाले संशय को इसका विषय, आरोपित लिंग को हेतु तथा तत्वार्थनिर्णय को तर्क का फल बताया है।

निर्णय

तर्क के पश्चात् अब क्रमप्राप्त निर्णय' पदार्थ का विवेचन किया जा रहा है-

जहां तक इसके लक्षण का प्रश्न है तो तर्कभाषाकार ने इसका लक्षण 'निर्णयो अवधारणज्ञानम् निर्णयः' तथा तार्किकरक्षाकार ने इसका लक्षण 'निर्णयस्तर्कमानाभ्यामर्थतत्वावधारणम्

---

(1) सर्वदर्शनसंग्रहः पृष्ठ 232, 239

(2) वि.पृ. 1/1/40

(3) वरदराजकृत 'तार्किकरक्षा'

निर्णयः' किया है, जबकि न्यायसूत्रकार ने इसका लक्षण विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणम् निर्णयः किया है।[1]

उपरोक्त लक्षणों का अभिप्राय यह है कि 'निश्चयात्मक ज्ञान को निर्णय कहते हैं' अथवा 'पक्ष और प्रतिपक्ष के द्वारा अर्थ के निर्धारण को निर्णय कहते हैं। किसी भी एक अधिकरण में पक्ष तथा प्रतिपक्ष के परस्पर विरूद्ध कथन को सुनकर, उसके विषय में संशय उत्पन्न होने पर उन दोनों मतों के विषय में विचार-विमर्श करने पर एक पक्ष प्रामाणिक तथा अन्य पक्ष अप्रामाणिक सिद्ध होता है, द्वितीय पक्ष के अप्रामाणिक हो जाने से उसकी निवृत्ति हो जाती है और प्रथम वादी का पक्ष स्थिर रहता है, इसी को 'निर्णय' कहा जाता है। विभिन्न प्रमाणों के द्वारा विवादाध्यासित विषय का ही निर्णय होता है, अतः भाष्यकार ने निर्णय को प्रमाणों का फल कहा है। तर्क भाषाकार का भी यही मत है। किन्तु वार्तिककार ने इसमें शंका उठायी है[2], उनके अनुसार निर्णय किसी स्थल पर प्रमाणों का फल तथा कहीं पर प्रमाण भी होता है, जिस स्थल पर निर्णय को प्रमाण मानकर, उसके सहाय्य से अन्य पदार्थ के स्वरूप का निर्धारण होता है, वहां पर निर्णय फल न होकर स्वतः प्रमाण ही होता है, परन्तु यहां पर न्याय में मान्य चार प्रमाणों के समान पृथक प्रमाणों के अर्थ में निर्णय प्रमाण नहीं कहा गया है, वरन् निर्णय सभी के द्वारा मान्य होने के कारण कहा गया है।

कथा

वाद, जल्प और वितण्डा के भेद से कथा तीन प्रकार की होती है। अब जहां तक 'कथा' के स्वरूप का प्रश्न है तो इसका लक्षण तार्किकरक्षाकार ने इस प्रकार किया है:- 'विचारविषयो नानावक्तृको वाक्यविस्तरः कथा', तात्पर्य टीकाकार ने भी ऐसा ही लक्षण किया है।

इस लक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस विषय को लेकर वाद विवाद किया जाता है, उसको 'कथा' अथवा 'कथावस्तु' कहा जाता है। तर्कभाषाकार ने भी इसी

---

1. न्यायसूत्र-1/1/41
2. न्यायवार्तिक-1/1/41

प्रकार का लक्षण किया है 'नानावक्तृक पूर्वोत्तर पक्षप्रतिपादक वाक्यसन्दर्भः' तात्पर्य यह है कि 'अनेक वक्ता मिलकर किसी तत्व के निर्णय अथवा जय-पराजय के लिये पूर्वोत्तरपक्ष के रूप में जो चर्चा या वार्तालाप करते हैं, उसको 'कथा' कहते हैं।

उपरोक्त स्वरूप वाली इस कथा के छः अंग माने गये हैं-[1] निरूप्यनिरूपक नियम, कथाविशेषव्यवस्था, वादिनियम, प्रतिवादी नियम, सदस्यानुविधेय तथा संवरण। किन्तु कुछ नैयायिक इसके चार अंग ही मानते हैं-वादी नियम, प्रतिवादी नियम, सदस्यानुविधेय और संवरण।

कथा के तीन भेद माने गये हैं-वाद जल्प और वितण्डा।

अब कथा के प्रथम भेद तथा न्याय दर्शन में मान्य दसवें पदार्थ 'वाद' का निरूपण किया जा रहा है-

वादः

इसका लक्षण 'तर्कभाषाकार' ने 'तत्वबुभुत्सोः कथा वादः' किया है, तथा तार्किकरक्षाकार' ने 'प्रमाणतर्काभ्यासाधनाक्षेपसंयुता वीतराग कथा वादः' किया है। ऐसा ही लक्षण न्यायसूत्रकार ने भी सूत्र 1/2/1 में किया है।

इन लक्षणों का अभिप्राय यह है कि तत्वज्ञान के इच्छुक वादी-प्रतिवादी की प्रश्नोत्तर रूप 'कथा' को वाद कहते हैं, अथवा अन्य शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'प्रमाण तथा तर्क द्वारा स्वपक्ष स्थापन तथा परपक्ष के निषेध से युक्त, सिद्धान्त के अनुकूल, प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों से युक्त, पक्ष-प्रतिपक्ष सहित वाक्यसमूह को 'वाद' कहते हैं। 'वाद' का सामान्य रूप से यह लक्षण भी किया जा सकता है कि किसी विषय के विचार-विमर्श को 'वाद' कहते हैं। यह 'वाद' कथा गुरु शिष्यों के मध्य विशुद्ध रूप से किसी तत्व निर्णय के लिये हुआ करती है, जैसा कि 'तार्किकरक्षाकार' ने 'वादस्फलं तत्वनिर्णयः' कहकर 'तत्वनिर्णय' को वाद का फल बताया है।

---

1. वरदराजकृत तार्किकरक्षा पर सारसंग्रह टीका।

इस विचार विमर्श रूप 'वाद' कथा में अपने अपने विचार प्रमाणपूर्वक ही उपस्थित किये जाते हैं। प्रमाणशून्य कोई भी विचार उपस्थित नहीं किया जाता, इस कथा में जय-पराजय की भावना नहीं रहती, क्योंकि एक ओर पूज्यत्व भावना तो दूसरी ओर वात्सल्य भावना पूर्णतया हृदय में विराजती रहती है, किन्तु इस वाद कथा के चलते हुये तत्व निर्णय के अवरोधक आठ निग्रहस्थानों-न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और पांच हेत्वाभासों का उद्भावन किया जाता है, जैसा कि तर्क भाषाकार का भी मत है कि 'वाद कथा आठ निग्रहस्थानों का विषय या क्षेत्र होती है, वे आठ न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और पांच हेत्वाभास निग्रहस्थान कहलाते हैं।

वाद के नौ अवयव बताये गये हैं-कथा, पक्ष, प्रतिपक्ष, वादी, प्रतिवादी, कथामुख पूर्वपक्ष, अनुवाद और उत्तरपक्ष ।

अब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि इस 'वाद' कथा की क्या आवश्यकता है? जिससे इसे पृथक पदार्थ माना जाता है, तब इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि 'संशय पदार्थ का निरूपण, जो पूर्व किया जा चुका है कि एक वस्तु में नानाविध ज्ञानों की अनिश्चितावस्था को ही संशय कहा जाता है, तो वस्तु की उस अनिश्चितावस्था को ही निश्चयात्मक स्थिति मे लाने का कार्य 'वाद' पदार्थ के द्वारा होता है 'वाद' का आशय है, यथार्थ तत्व का निर्णय । इस तत्व निर्णय के लिये ही वाद की आवश्यकता बतायी गयी है।

जल्प

अब कथा के द्वितीय भेद तथा न्याय दर्शन में मान्य ग्यारहवें पदार्थ 'जल्प' का विवेचन किया जा रहा है-

जहां तक 'जल्प' पदार्थ के लक्षण का प्रश्न है तो इसका लक्षण 'तर्कभाषाकार' ने 'उभयसाधनवती विजीगीषु कथा जल्पः' किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जिस कथा (विचार) में वादी और प्रतिवादी दोनों अपने-अपने पक्षों का साधन, विजय की कामना से करते हैं, उस कथा को 'जल्प' कहते हैं। अतः उभयपक्षस्थापनवती

विजीगीषु कथा जल्पः कहकर भी उक्त लक्षण को सुस्पष्ट किया जा सकता है। किन्तु तार्किकरक्षाकार ने इसका लक्षण 'स च छलादिसम्भिन्नो जल्पः अस्य विजयः फलम्' किया है तथा न्यायसूत्रकार ने इसका लक्षण 'यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः' किया है। इन लक्षणों का अभिप्राय यह है कि 'वाद कथा के लक्षण से युक्त छल, जाति तथा निग्रहस्थानों से स्वपक्ष की स्थापना तथा परपक्ष का खण्डन होता है, उस कथा को 'जल्प' कहते हैं।

इस कथा में योग्यता और वाक्चातुर्य की प्रधानता रहती है, यहां तक कि मिथ्या बात कहकर भी अपने पक्ष को सिद्ध किया जाता है, अतः कहा गया है कि द्विविध अर्थात् सत्य और असत्य साधनों को लेकर जीतने की इच्छा से जो 'वाद' किया जाता है, उसको 'जल्प' कहते हैं। इस कथा में वादी-प्रतिवादी के प्रश्न और उत्तर एक-दूसरे को जीतने की इच्छा से किये जाते हैं। इसमें तत्व निर्णय की कोई कामना नहीं होती और यह यथा सम्भव सभी बाइस निग्रहस्थानों का अधिकरण (विषय तथा क्षेत्र) रहती है और परपक्ष का खण्डन हो जाने पर अपने पक्ष के स्थापनात्मक निर्णय में इस कथा की समाप्ति होती है[1]। अपने विरोधी को जीतने के लिए ही इस 'जल्प' कथा को किया जाता है, अतः इस कथा के अवसर पर प्रमाण, प्रमाणाभास, तर्क और तर्काभास आदि सबका उपयोग किया जाता है, क्योंकि इसका मुख्य उददेश्य विरोधी को मुद्रित कर अपनी विजय की कामना का होता है।

वितण्डा

अब कथा के तीसरे भेद तथा न्यायदर्शन में मान्य बारहवें पदार्थ 'वितण्डा' पदार्थ का विवेचन किया जा रहा है-

जहां तक इसके स्वरूप का प्रश्न है तो इसका लक्षण 'तर्कभाषाकार' ने इस प्रकार किया है-'स एवं स्वपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा' किया है, तात्पर्य यह है कि

---

(1) केशवमिश्रकृत 'तर्कभाषा'

वह 'जल्प' कथा ही जब अपने पक्ष की स्थापना से रहित होकर चलती रहती है, तब उसे वितण्डा' कहते हैं। तार्किकरक्षाकार ने इसका लक्षण-'जल्प एवं वितण्डा स्यात्, प्रतिपक्षेत्वसाधने' किया है, तथा न्यायसूत्रकार ने इसका लक्षण 'स प्रतिपक्ष-स्थापना हीनो वितण्डा' किया है, इन लक्षणों का अभिप्राय यह है कि 'जल्प' कथा ही जब विरूद्ध पक्ष की स्थापना से रहित हो जाती है, तो वह कथा 'वितण्डा' कहलाती है। वितण्डावादी की कोई प्रतिज्ञा नहीं होती, अतः उसकी प्रपंचपूर्ण युक्तियाँ रचनात्मक न होकर ध्वंसात्मक होती है।

इस कथा का एकमात्र उद्देश्य 'परपक्ष का खण्डन' ही होता है, परपक्ष को दूषित कर देने से ही इसकी समाप्ति समझी जाती है। इस वितण्डा-वादी का अपना स्थापनीय पक्ष कोई नहीं होता।

अब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जल्प और वितण्डा में अन्तर क्या है? अतः अब इसी जिज्ञासा के निवारण के लिये ही जल्प और वितण्डा के अन्तर को बताया जा रहा है-इन दोनों में अन्तर यही है कि जल्पकथा में परपक्ष का खण्डन करके अपना पक्ष स्थापित किया जाता है और वितण्डा में परपक्ष का केवल खण्डन ही किया जाता है, अपने पक्ष की स्थापना नहीं की जाती, क्योंकि उसका कोई पक्ष ही नहीं होता है, जिसकी स्थापना करने की वह चिन्ता करें।

कथा के सम्बन्ध में विश्लेषण

उपरोक्त विवेचन को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'अनेक वक्ता मिलकर किसी तत्व के निर्णय में जो चर्चा या वार्तालाप करते हैं, उसको 'कथा' कहते हैं, उसके तीन भेद हैं-वाद, जल्प, वितण्डा। इनमें से तत्वज्ञान की इच्छा से गुरू या सब्रहम्चारी आदि के साथ जो 'कथा' होती है, उसको 'वाद' कहते हैं। अपने पाण्डित्य आदि के प्रकाशन के लिये दो प्रतिद्वन्दी पण्डितों आदि में जो 'कथा' होती है, उसके 'जल्प' और वितण्डा' दो भेद हैं। यदि वह दोनों वादी और प्रतिवादी

अपने-अपने पक्ष की स्थापना और दूसरे का खण्डन करते हैं तो उस कथा को 'जल्प' कहते हैं। जहाँ एक वादी तो अपने पक्ष की स्थापना करता है, परन्तु दूसरा प्रतिवादी अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता, केवल पहिले का खण्डन मात्र करता है, उसको 'वितण्डा' कहते हैं।

आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक' में भी इन त्रिविध कथाओं की चर्चा की गयी है, परन्तु उनके वर्णन की शैली कुछ भिन्न है, 'चरक' में कथा' के स्थान पर 'सम्भाषा' तथा 'वाद' के स्थान पर 'सन्धायसम्भाषा' तथा जल्प और वितण्डा के लिये 'विगृह्य सम्भाषा' का प्रयोग किया गया है।

जैन दार्शनिक केवल 'वाद' को ही कथा का भेद मानते हैं तथा 'जल्प' और 'वितण्डा' को -'कथा' न कहकर 'कथाभास' कहते हैं। इस विषय पर सुविस्तृत चर्चा-'कथात्रयभंग' नामक ग्रन्थ में की गयी है।

न्यायसूत्रकार ने सूत्र 4/2/50 द्वारा जल्प और वितण्डा की आवश्यकता प्रदर्शित की है-

'तत्वाध्यवसाय संरक्षणार्थं जल्प वितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्' अर्थात प्रमाण सिद्ध सुपरीक्षित सिद्धान्त की सुरक्षा के लिये 'जल्प' और 'वितण्डा' की भी आवश्यकता है, अतः कथा के इन तीन भेदों-वाद, जल्प और वितण्डा को अवश्य मानना चाहिये।

हेत्वाभास

न्याय दर्शन में मान्य तेरहवां पदार्थ 'हेत्वाभास' है। जो हेतु न हो किन्तु हेतु के समान ही भासित हो, उसे हेत्वाभास कहते हैं। पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, अबाधितविषय और असत्प्रतिपक्ष इन पाँच रूपों में से किसी एक रूप से भी हीन 'अहेतु' कहलाते हैं। ये हेत्वाभास पाँच प्रकार के होते हैं-असिद्ध, विरुद्ध, अनेकान्तिक: प्रकरणसम तथा कालात्ययापदिष्ट। इनका विस्तृत निरूपण 'अनुमान प्रमाण' के सन्दर्भ में किया जा चुका है।

छल

न्यायदर्शन की पदार्थ गणना में 'छल' चौदहवाँ पदार्थ है, अतः अब क्रम प्राप्त 'छल' पदार्थ का लक्षण, भेदपूर्वक विवेचन किया जा रहा है-

जहाँ तक 'छल' के स्वरूप का प्रश्न है तो 'वक्ता के कथन का वास्तविक आशय ग्रहण न करके, उसकी जगह जो दूसरा अर्थ आरोपित किया जाता है, उसको 'छल' कहते हैं, अथवा व्यापक अर्थ में प्रयुक्त शब्द को संकुचित अर्थ में ग्रहण करके मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ अथवा लक्ष्यार्थ को लेकर जो आक्षेप किया जाता है, वह भी छल कहलाता है। छल का लक्षण ग्रन्थकारों ने इस प्रकार किया है-तर्कभाषा कार ने इसका लक्षण 'अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलम्' किया है, तात्पर्य यह है कि 'अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द का अन्य अर्थ कल्पना करके दोष देना 'छल' है। इसी अर्थ को स्वीकार करते हुये 'तार्किकरक्षाकार' ने भी किञ्चिदर्थमभिप्रेत्य प्रयुक्ते वचने पुनः अनिष्टमर्थमारोप्य तन्निषेधश्छलं मतम्' ऐसा लक्षण किया है, जबकि 'न्यायसूत्रकार' ने छल का लक्षण 'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्' यह लक्षण किया है। इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भिन्न अर्थ का ग्रहण कर वादी के वचन का जो खण्डन किया जाता है, उसे 'छल' कहते हैं, यह तो 'छल' का लक्षण हुआ, जब जहां तक 'छल' के भेदों का प्रश्न है तो 'तर्कभाषाकार' ने इसे अनावश्यक मानकर इसके भेदों का निरूपण नहीं किया है, किन्तु 'तार्किकरक्षाकार' ने इसके भेदों का निरूपण किया है। 'वरदराज' ने 'छल' के तीन भेद बताये हैं-सामान्य छल, वाक्छल, और उपचार छल । यही भेद 'न्यायसूत्रकार' को भी मान्य हैं। वैसे तो बौद्ध और जैन आचार्यों ने तो छल के प्रयोग की बहुत निन्दा की है, किन्तु इनके ग्रन्थों में भी 'छल' का वर्णन किया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि जैन तथा बौद्ध विद्वान 'छल' की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सके।

अब 'तार्किकरक्षा' मे वर्णित छल के भेदों का निरूपण किया जा रहा

है -

वाक्छल:

तर्किकरक्षाकार ने इसका लक्षण 'अभिधा वैपरीत्येन कल्पितार्थस्य बाधनम् वाक्छलम' किया है, तात्पर्य यह है कि 'अभिधा वैपरीत्य के द्वारा कल्पित अर्थ का बाध करना 'वाक्छल' कहलाता है अथवा अन्य शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी विशेष को न लेकर, सामान्य रूप से कहे हुये, शब्द के अर्थ में पूर्ववाक्य के कहने वाले के आशय से दूसरे अर्थ की कल्पना करना 'वाक्छल' कहलाता है।[1] इसे इस उदाहरण द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है नवकम्बलोडयं देवदत्त:' में 'नव' शब्द का शक्यार्थ 'नूतन' भी है और 'नौ' संख्या भी शक्यार्थ है, किन्तु इस स्थल पर वक्ता का तात्पर्य 'नव' शब्द से 'नूतन' के अर्थ में है, 'नौ' संख्या के अर्थ में नही, फिर भी 'नव' शब्द की 'नौ' संख्या रूप अर्थ की कल्पना करके, 'वक्ता' को जो मिथ्या ठहराया जाता है, वह 'वाक्छल' के द्वारा ही किया गया है। 'नव' इस सामान्य शब्द रूप वाक् (वाणी) में 'छल' होने के कारण इसे 'वाक्छल' कहते हैं।

सामान्य छल:-

छल का दूसरा प्रकार सामान्य छल है। तर्किकरक्षाकार ने इसका लक्षण 'सामान्य छलमेतत् स्यार्दात्तसामान्ययोग: तात्पर्य वैपरीत्येन कल्पितार्थस्य बाधनम्' किया है। इसका अभिप्राय यह है कि तात्पर्य के वैपरीत्य के द्वारा कल्पित अर्थ का बाध करना 'सामान्य छल' कहलाता है, अथवा हो सकने योग्य अर्थ की विवक्षित अर्थ में रहने वाले तथा उसको छोड़ने वाले समान धर्म के सम्बन्ध से न हो सकने योग्य अर्थ की कल्पना को 'सामान्य छल' कहते हैं।[2] इसे इस उदाहरण द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है 'असौ ब्राह्मण विद्याचरणसम्पन्न:' अर्थात 'यह ब्राह्मण विद्या और आचरण

---

(1) न्यायसूत्र - 1/2/12

(2) न्यायसूत्र - 1/2/13

से सम्पन्न है) इस वाक्य को सुनकर सुनने वाला कहताहै कि, यह वक्ता उक्त ब्राहमण में 'ब्राह्णत्व' रूप हेतु बताकर विद्या और आचरण' को सिद्ध कर रहा है, इस प्रकार कल्पना करके 'वक्ता' से उसने कहा कि 'ब्रहम्णत्व' के होने मात्र से विद्या और आचरण की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उपनय संस्कार से हीन 'व्रात्य' ब्राहमण में 'ब्राहमणत्व' के विद्यमान रहने पर भी विद्या और आचरण का अभाव ही, उसमें दृष्टिगोचर होता है, यदि विद्या और आचरणशील होने में ब्राहमणत्व' ही हेतु हो तो उस 'व्रात्य ब्राहमण' में भी विद्या और आचरण होना चाहिये और उसे पूज्यनीय तथा आदरणीय मानना चाहिये। इस प्रकार दोष देना ही 'ब्राहमणत्व' रूप सामान्य धर्म को विद्वान तथा मूर्ख दोनों में छल 'छल' करना ही सामान्य छल' कहा जाता है।

उपचार छल:

छल का तीसरा भेद 'उपचार छल' है इसका लक्षण 'तार्किकरक्षाकार में 'उपचारप्रयोगेषु - गौणलाक्षणिकेषुयु:। मुख्यार्थसम्भवाद्‌वाधं उपचारच्छलं तु तत्' किया है अभिप्राय यह है कि मुख्य तथा गौण लाक्षणिक अर्थों में से किसी एक अर्थ रूप के आशय से शब्द प्रयोग करने पर उसके विरूद्ध अर्थ को मानकर, उस अर्थ की सत्ता का निषेध करना ही उपचारच्छल है। 'न्यायसूत्रकार'[1] ने भी इसका लक्षण 'धर्मविकल्प-निर्देशेडर्थसद्‌भावप्रतिषेध उपचारच्छलं' किया है। इस छल को स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है, जैसे-'मंचाः क्रोशन्ति' इस उदाहरण में किसी ने 'मंच' शब्द का लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग करके उपरोक्त वाक्य कहा, किन्तु श्रोता ने 'मंच' शब्द का शक्यार्थ या मुख्यार्थ मानकर, उससे कहा कि 'मंच' तो कभी भी चिल्लाते नहीं, अर्थात शब्द नहीं करते हैं, बल्कि मन्च में स्थित व्यक्ति ही शब्द करते है, अतः आप 'मन्चाःक्रोशन्ति' यह कैसे कह रहे हैं? इस प्रकार का कथन 'उपचारच्छल' द्वारा ही किया जाता है।

---

(1) न्यायसूत्र-1/2/14

उपरोक्त तीनों में से वाक्छल ही उपचारच्छल भी है, क्योंकि दोनों में ही दूसरे अर्थ की कल्पना करना समान है, ऐसी शंका हो सकती है, किन्तु इसके समाधान स्वरूप यही कहा जाता है कि वाक्छल ही उपचारच्छल नहीं है, क्योंकि दोनों में भेद है[1]। अतः छल तीन प्रकार के हैं।

अब यह शंका उठ सकती है कि न्याय दर्शन में 'छल' को एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकार क्यों किया गया है? तब इस शंका के समाधान में यह कहा जा सकता है कि छल को स्वतंत्र पदार्थ के रूप में इसलिये स्वीकार किया गया है, जिससे उसको समझकर, उसका प्रतिकार किया जाये, जिससे अपवर्ग की प्राप्ति में सुगमता हो सके[2]।

जाति

न्याय दर्शन में मान्य पन्द्रहवां पदार्थ 'जाति' है, अतः अब क्रम प्राप्त 'जाति' पदार्थ का निरूपण किया जा रहा है-

लक्षणः

इस पदार्थ का विवेचन मात्र दो ही ग्रन्थों में किया गया है-

(1) तर्कभाषा और (2) तार्किकरक्षा

इनमें से तर्कभाषाकार ने जाति को अनावश्यक मानकर, उसका विस्तृत विवेचन नहीं किया है, आचार्य केशवमिश्र ने जाति का लक्षण बताकर, उसके दो भेदों उत्कर्षसम तथा अपकर्षसम का ही विवेचन किया है, जबकि तार्किकरक्षाकार ने 'जाति' का लक्षण बताते हुये, उसके चौबीस भेदों के स्वरूप मात्र का ही विवेचन किया है।

---

(1) न्यायसूत्र-1/2/15-1/2/16

(2) भारतीय दर्शन-वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ 216

इन दोनों ग्रन्थकारों द्वारा किया गया 'जाति' का लक्षण इसप्रकार है-

'तर्कभाषाकार' ने 'जाति' पदार्थ का लक्षण 'असदुत्तरं जातिः' अर्थात् असत् तात्पर्य यह है कि अनुचित और असद. उत्तर को 'जाति' कहते हैं, ऐसा किया है।

'तार्किकरक्षाकार ने 'जाति' पदार्थ का लक्षण 'प्रयुक्ते स्थापनाहेतौदुषणाशक्तमुत्तरम्' इस प्रकार बताया है। जबकि 'न्यायसूत्रकार' ने इसका लक्षण साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम् प्रत्यवस्थानं जतिः' किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा हेतु का प्रतिषेध 'जाति' कहलाता है।

इसे सरल शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'जब कोई व्यक्ति अपने सिद्धान्त की पुष्टि में किसी प्रकार के हेतु का प्रयोग करता है और प्रतिपक्षी उनके मत का खण्डन करने के लिये, ऐसे हेतुओं का प्रयोग करता है, जो व्याप्ति पर अश्रित न होकर केवल समानधर्मता एवं वैधर्म्य पर निर्भर रहते हैं, ऐसी स्थिति में उन्हें जति कहा जाता है, किन्तु इस जाति से किसी सिद्धान्त की पुष्टि नही होती है और न तो किसी का खण्डन ही। जाति एक प्रकार का असद् हेतु ही है[1]।

बौद्धाचार्य तथा जैनाचार्यों ने 'जाति' के प्रयोग का खण्डन किया है, किन्तु उनके ग्रन्थों में 'जाति' का वर्णन मिलता है। बौद्धों के 'प्रमाणसमुच्चय, वादविधि' आदि ग्रन्थों में नैयायिकों के परिगणित जाति भेदों से भी तीन अधिक जाति भेद-कार्यभेद, अनुक्ति और स्वार्थ विरूद्ध बताये गये हैं 'उपायहृदय' ग्रन्थ में जाति के दस भेद और बढ़ा दिये गये हैं।

इसप्रकार उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि 'जाति' के प्रयोग को अभीष्ट न मानते हुये भी बौद्ध और जैन दार्शनिक विद्वानों ने उसकी उपेक्षा नही की है। नैयायिकों ने भी उसकी कही भी प्रशंसा नही की है, तथापि अपने ग्रन्थों में उसका वर्णन इसलिये किया है कि यदि वादी तथा प्रतिवादी उनका आशय कर लें तो वे इस 'जाति' को अच्छी तरह समझ पायें और उसका समुचित निराकरण हो सकें।

---

(1) 'तत्र जतिर्नाम स्थापना हेतो प्रयुक्ते यः प्रतिरोधासमर्थो हेतुः'-
न्यायवार्त्तिक 5/1/9 पृष्ठ 529

जातिभेदः

तार्किकरक्षाकार ने जाति के चौबीस भेद बताये हैं, और उनके स्वरूप का भी विवेचन किया है। न्यायसूत्रकार ने भी चौबीस भेद ही बताये हैं, ये चौबीस भेद इस प्रकार हैं:-

साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्ष सम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसङ्गसम, प्रतिदृष्टान्तसम, अनुत्पत्तिसम, संशयसम, प्रकरणसम, हेतुसम, अर्थापत्तिसम, अविशेषसम, उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्यसम, कार्यसम ।

अब इनके स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है:-

साधर्म्यसमः

जिस जाति से पूर्वप्रयुक्त अनुमान को, पक्ष में किसी की समानता दिखलाकर दूषित किया जाता है, उसे 'साधर्म्यसम' जाति कहा जाता है।

वैधर्म्यसमः

साधर्म्यसम जाति द्वारा अनुमान के पक्ष में जहां किसी की समानता दिखलाकर अनुमान में दोष निकाला जाता था, वहां वैधर्म्यसम जाति द्वारा ~~अनुमान~~ अनुमान के पक्ष में किसी की विषमता को दिखाकर अनुमान को दूषित किया जाता है।

उत्कर्षसमः

दृष्टान्त के धर्म का पक्ष में आरोप करके अनुमान को दूषित सिद्ध करने का प्रयास, जिस जाति के द्वारा किया जाता है, उसे उत्कर्षसम जाति कहते हैं।

अपकर्षसमः

दृष्टान्त में रहने वाले अव्याप्त धर्म से अव्यापक धर्म के अभाव का आरोप करना ही 'अपकर्षसम' जाति है।

वर्ण्यसम:

पक्ष के धर्म की भांति उदाहरण के धर्म को भी साध्य बताकर किसी अनुमान में दोष निकालने को वर्ण्यसम जाति कहते हैं।

अवर्ण्यसम:

दृष्टान्त के धर्म के समान पक्ष के धर्म को भी सिद्ध बतलाकर किसी अनुमान में दोष निकालने को अवर्ण्यसम जाति कहते हैं।

विकल्पसम:

जब अनुमान में प्रयुक्त हेतु के साथ कोई विशेषण जोड़कर उसमें साध्य एवं साध्याभाव दोनों को सिद्ध करने का प्रयत्न करके अनुमान में दोष दिया जाता है, तब उसे विकल्पसम जाति कहते हैं।

साध्यसम:

जहाँ साध्यसम जाति का प्रयोग किया जाता है, वहाँ पक्ष की भांति दृष्टान्त को भी साध्य मानकर अनुमान में दोष निकाला जाता है।

प्राप्तिसम:

साध्य से सम्बद्ध होकर, हेतु साध्य की सिद्धि करने वाला माना जाता है। जातिवादी हेतु और साध्य दोनों को समान विशेषताओं से युक्त मानता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में जिस प्रकार हेतु साध्य से सम्बद्ध है, उसी प्रकार साध्य हेतु से। तब परस्पर तुल्यतया सम्बद्ध होने से, उन दोनों में से किसे साध्य माना जाये और किसे साधन। साध्य और हेतु दोनों साथ-साथ विद्यमान रहते हैं और दो विद्यमान पदार्थ ही परस्पर सम्बद्ध हो सकते हैं, दोनों के विद्यमान होने पर दोनों ही सिद्ध मान लिये जाने चाहिये। साध्य के सिद्ध हो जाने पर हेतु की आवश्यकता ही नही रहेगी। यहाँ पर साध्य

और हेतु के सम्बन्धरूप सादृश्य के कारण प्रकृत जाति मानी गयी है। हेतु और साध्य की प्राप्ति समान रहती है, अतः इस जाति को 'प्राप्तिसम' कहा जाता है।

इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हेतु और साध्य के सहचार सम्बन्ध पर आधारित वाद का विरोध उसी सम्बन्ध को उल्टे क्रम में रखकर, वादी के तर्क पर अनिश्चय का आरोप लगाते हुए तर्क करने का नाम 'प्राप्तिसम' जाति है। 'प्राप्ति' का अर्थ है-'सम्बन्ध' अर्थात् हेतु और साध्य का सहचार ।

अप्राप्तिसमः

साध्य और साधन में असम्बन्धता का आरोप लगाते हुये वादी के कथन का विरोध करना अप्राप्तिसम जाति कहलाता है।

प्रसङ.समः

वादी द्वारा प्रस्तुत हेतु की सिद्धि के लिये किसी अन्य हेतु की आवश्यकता बतायी जाये और उसकी सिद्धि के लिये किसी अन्य हेतु की कल्पना की जाये तो यह 'प्रसंड. सम जाति' दोष कहलायेगा।

प्रतिदृष्टान्तसमः

वादी साध्य की सिद्धि के लिये दृष्टान्त का प्रयोग करता है, जातिवादी अनुमान को दोषयुक्त ठहराने के लिये प्रतिदृष्टान्त अर्थात् एक नवीन विरोधी दृष्टान्त को उपस्थित करता है, ऐसे स्थल पर प्रतिदृष्टान्तसम जाति मानी गयी है।

सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रतिकूल दृष्टान्त देकर वादी का जो खण्डन किया जाता है, उसे प्रतिदृष्टान्तसम जाति कहा जाता है।

अनुत्पत्तिसमः

उत्पत्ति के पूर्व कारण का अभाव बतलाकर जो खण्डन किया जाये, उसे अनुत्पत्तिसम जाति कहा जाता है।

संशयसम:

संशय के द्वारा जो खण्डन किया जाये, वह संशयसम कहलाता है।

प्रक्रियासम:

इसे 'प्रकरणसम' जाति भी कहा जाता है। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों की प्रवृत्ति को प्रक्रिया कहते हैं। जहाँ दोनों (नित्य और अनित्य) का साधर्म्य दिखलाकर प्रक्रिया की सिद्धि हो, वहां प्रकरणसम जानना चाहिये।

अहेतुसम:

भूत, भविष्य और वर्तमान, इन तीनों कालों में हेतु की असिद्धि दिखलाकर जो खण्डन किया जाता है, उसे 'अहेतुसम' कहते हैं।

अर्थापत्तिसम:

अर्थापत्ति द्वारा विरूद्ध पक्ष को सिद्ध करने की आपत्ति को अर्थापत्तिसम जाति कहा जाता है, अर्थात वादी द्वारा प्रस्तुत प्रतिज्ञा वाक्य का यदि प्रतिवादी खींचतान कर अर्थापत्ति के द्वारा खण्डन करें तो प्रतिवादी का उत्तर अर्थापत्तिसम जाति कहलायेगा।

अविशेषसम:

सामान्य में एक धर्म की उपपत्ति से सम्पूर्ण अविशेष के प्रसंग से सद्भाव की उपपत्ति होना अविशेषसम जाति कहलाता है।

उपपत्तिसम:

दो विरूद्ध कारणों की उपपत्ति दिखलाते हुये खण्डन करने का नाम 'उपपत्तिसम' है। अर्थात् वह जाति, जिसमें पृथक-पृथक हेतुओं से साध्य और उसके विरोधी दोनों की सिद्धि दिखायी जा सके, उसको उपपत्तिसम कहा जाता है।

उपलब्धिसम:

निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी साध्य की उपलब्धि दिखलाकर जो खण्डन किया जाये, उसे 'उपलब्धिसम' कहते हैं।

अनुपलब्धिसम:

किसी वस्तु की अनुपलब्धि की अनुपलब्धि दिखाकर, उसके अभाव का खण्डन करना अर्थात उसका सद्भाव दिखाना 'अनुपलब्धिसम जाति' कहलाता है।

अनित्यसम:

कुछ वस्तुओं में समता देखकर उनमें अनित्यता नामक तुल्य धर्म की सिद्धि करके, संसार की सभी वस्तुओं को उनके समान अनित्य मानने की आपत्ति करना 'अनित्यसम जाति' कहलाता है।

नित्यसम:

धर्म के नित्यत्व और अनित्यत्व के इन दोनों विकल्पों द्वारा धर्मी को नित्य सिद्ध करना 'नित्यसम जाति' है।

कार्यसम :-

किसी प्रयत्न के अनेक परिणाम दिखाकर वादी के कथन का प्रतिवादी द्वारा खण्डन करना 'कार्यसम जाति' है ।

कार्यसम और संशयसम में अन्तर यह है कि दो वस्तुओं के समानधर्म की आपत्ति को 'संशयसम जाति' और कार्य की समानता को लेकर खण्डन करने का नाम 'कार्यसम जाति' है ।

इन जातियों के प्रयोग से असत्य बात को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है, अतएव पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये जातियों का ज्ञान अपेक्षित है। जातियों का यथार्थ ज्ञान होने पर ही सद्हेतु का प्रयोग सम्भव है और सद्हेतु द्वारा

ही विषयों का यथार्थ ज्ञान हो सकता है, कहने का अभिप्राय यह है कि जातियों का ज्ञान प्रमा में अत्यन्त सहायक है।

निग्रहस्थान

न्यायदर्शन में मान्य सोलहवाँ पदार्थ 'निग्रहस्थान' है, अतः अब क्रम प्राप्त 'निग्रहस्थान' पदार्थ का निरूपण किया जा रहा है :-

निग्रहस्थान का अर्थ है, निन्दा या तिरस्कार का स्थल, अर्थात् जिस स्थल पर पहुँचने से हार समझी जाये और भर्त्सना सहनी पड़े, उसी का नाम निग्रहस्थान है, निग्रहस्थान का अर्थ, उसके विग्रह से भी इस प्रकार स्पष्ट होता है कि "निग्रहस्य पराजयस्य (खलीकारस्य वा) स्थानम्" अर्थात् हार या तिरस्कार का स्थान। तात्पर्य यह है कि शास्त्रार्थ में जो-जो अवस्थायें पराजय की सूचक हैं, जिन-जिन बातों से वादी को निन्दाभाजन बनना पड़ता है, उन्हें 'निग्रहस्थान' कहते हैं।

गौतम[1] के अनुसार 'अपने पक्ष का प्रतिपादन अनुचित रूप से नियम के विरुद्ध करना (विप्रतिपत्ति) अथवा अपने पक्ष का प्रतिपादन नहीं कर सकना (अप्रतिपत्ति) निग्रहस्थान कहलाता है। केशवमिश्र ने भी 'पराजयहेतुः निग्रहस्थानम्' ऐसा कहा है।

निग्रहस्थान के भेद

केशवमिश्र ने 'तर्कभाषा' में न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा और विरोध आदि भेद से बहुत प्रकार होने पर भी ग्रन्थ के विस्तार के भय से उनके सभी भेदों का विवेचन नहीं किया हैं।

किन्तु वरदराज ने तार्किक रक्षा में निग्रहस्थान के बाइस भेदों के स्वरूपमात्र को समझाया है, ये बाइस भेद इस प्रकार हैं :-

प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण,

---

1. विप्रतिपत्तिर प्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् - न्याय सूत्र - 1/1/19

अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास ।

अब प्रत्येक का स्वरूप बताया जा रहा है :-

प्रतिज्ञाहानि :- वादी अपनी स्थापना के संदर्भ में जिस दृष्टान्त को देता है, यदि उसमें वह प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत प्रतिदृष्टान्त के धर्म का अस्तित्व मान लेता है तो इसका अर्थ हुआ कि वादी ने अपना पक्ष छोड़कर प्रतिवादी के पक्ष को स्वीकार कर लिया है, फलतः वह प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान में पड़कर पराजित समझा जाता है। अपने पक्ष को छोड़ने का अर्थ है, अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ना ।

प्रतिज्ञान्तर :- वादी द्वारा प्रतिपाद्य विषय का खण्डन हो जाने पर उससे विशिष्ट प्रतिज्ञा का आश्रय लेना, प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रह स्थान होता है।

प्रतिज्ञाविरोध :- जहाँ प्रतिज्ञा और हेतु दोनों में परस्पर विरोध हो जाये, वहाँ 'प्रतिज्ञा विरोध' नामक निग्रहस्थान समझना चाहिये ।

प्रतिज्ञासंन्यास :- पक्ष के खण्डित होने पर अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ देना 'प्रतिज्ञासंन्यास' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि यदि अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन होते हुये देखकर वादी यह कहे कि मैने तो ऐसी प्रतिज्ञा की ही नही तो वह प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

हेत्वन्तर :- यदि वादी का दिया हुआ हेतु असाधक प्रमाणित हो जाये और तब वह उस हेतु में और कोई विशेषण जोड़कर सिद्ध करना चाहे, तो यह 'हेत्वन्तर' नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

अर्थान्तर :- प्रस्तुत विषय में सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ को 'अर्थान्तर' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वादी या प्रतिवादी अपने साध्य की सिद्धि करने मे असमर्थ हो जाने पर यदि अप्रासंगिक बातें करने लग जाये तो यह 'अर्थान्तर' नामक निग्रहस्थान में पड़कर पराजित समझा जाता है।

निरर्थक :- यदि वादी या प्रतिवादी अपने तर्क में निरर्थक शब्दों का प्रयोग करें तो वह निरर्थक नामक निग्रहस्थान में पड़कर पराजित समझा जाता है, जैसे - क ख ग घ आदि ।

अविज्ञातार्थ :- वादी के तीन-तीन बार बोलने पर भी यदि उसका अर्थ प्रतिवादी और सभी को न जान पड़े तो वहाँ 'अविज्ञातार्थ' नामक निग्रहस्थान होता है।

अपार्थक :- जिन शब्दों में पूर्वा-पर की कोई संगति न हो, एक के साथ दूसरे का कोई सम्बन्ध न हो, उनका प्रयोग करना 'अपार्थक' नामक निग्रहस्थान कहलाता है

अप्राप्तकाल :- अनुमान के जो पाँच अवयव है, उनका निर्दिष्ट क्रम के अनुसार ही प्रयोग करना चाहिये, इस क्रम का भंग करने से या उनके क्रम में उलट-फेर करने से 'अप्राप्तकाल नाम निग्रहस्थान होता है।

न्यून :- अनुमान के प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों में से किसी एक की भी कमी रहने पर वादी या प्रतिवादी का कथन 'न्यून' नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त हो जाता है।

अधिक :- एक ही हेतु तथा दृष्टान्त से साध्य की सिद्धि होने पर भी यदि कोई वादी या प्रतिवादी अनेक हेतुओं और दृष्टान्तों का प्रयोग कर दें तो वह 'अधिक' नामक निग्रहस्थान होता है।

पुनरुक्त :- बिना 'प्रयोजन' के ही एक ही विषय को बार-बार कहना पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

अननुभाषण :- जब प्रतिवादी, वादी के अर्थ को समझकर भी चुप रहे तो वह 'अननुभाषण' निग्रहस्थान होता है।

अज्ञान :- वादी के अर्थ को जब अन्य तो समझ लें, किन्तु प्रतिवादी न समझे और न समझने के कारण, वह खण्डन भी नही कर सकता, तब 'अज्ञान' नामक निग्रहस्थान की स्थिति में पड़कर वह परास्त समझा जाता है।

अप्रतिभा :- यदि वादी या प्रतिवादी को प्रतिपक्ष का खण्डन करने के लिये समय पर कोई उत्तर ही न सूझे तो वह 'अप्रतिमा' नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त समझा जाता है।

विक्षेप :- जहाँ वादी या प्रतिवादी विवाद के बीच में हठात् दूसरे कार्य का बहाना कर बहस बन्द करे दें, वहाँ 'विक्षेप' नामक निग्रहस्थान समझा जाता है।

मतानुज्ञा :- अपने पक्ष में जो दोष निकाला जाये, उसको दूर करके, दूसरे में भी दोष निकालना 'मतानुज्ञा' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि वादी के कथन में यदि प्रतिपक्षी कोई दोष निकाले और वादी उसका खण्डन न करके उस दोष को अपने कथन में स्वीकार करते हुये, प्रतिपक्षी के कथन में भी कोई दोष निकाल दे तो वादी 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान में पड़कर परास्त समझा जाता है।

पर्यनुयोज्योपेक्षण :- प्रतिपक्षी के निग्रहस्थान में प्राप्त हो जाने पर भी उसका निग्रह न करना 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' कहलाता है। अभिप्राय यह है कि प्रतिवादी अपनी किसी गलती के कारण निग्रहस्थान में पड़ जाये, फिर भी यदि वादी उसी के दोष का उद्घाटन न कर सके तो वादी स्वयं प्रतिवादी की पराजय की उपेक्षा करने के कारण 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' नामक निग्रहस्थान में पड़कर परास्त माना जाता है।

निरनुयोज्यानुयोग :- यदि झूठमूठ निग्रहस्थान का दोषारोपण किया जाये तो वह निरनुयोज्यानुयोग कहलाता है। तात्पर्य यह है कि प्रतिवादी की पराजय न होने पर भी यदि वादी उस पर झूठमूठ ही दोषारोपण करें तो अदोष में दोष की उद्भावना करने के कारण वादी स्वयं निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त होकर परास्त माना जाता है।

अपसिद्धान्त :- किसी सिद्धान्त को मानकर फिर उसके विरुद्ध मत का अवलम्बन करना 'अपसिद्धान्त' कहलाता है। अर्थात् यदि कोई वादी, किसी एक सिद्धान्त की स्थापना करता है, किन्तु बाद में नियम को छोड़कर उसके विरुद्ध मत को स्वीकार कर लेता है तो यह 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान में पड़कर परास्त माना जाता है।

हेत्वाभास :- जो देखने में हेतु के ऐसा प्रतीत हो, किन्तु यथार्थतः हेतु न हो, उसे हेत्वाभास कहते हैं। यदि कोई वादी या प्रतिवादी ऐसे हेतु का सहारा लेता है तो वह हेत्वाभास नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त होकर परास्त हो जाता है।

हेत्वाभास का विस्तृत विश्लेषण अनुमान प्रमाण के सन्दर्भ में किया जा चुका है।

(षष्ठम् अध्याय)

(क) द्रव्य निरूपण

(ख) गुण निरूपण

(क) द्रव्य निरूपण

वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थ माने गये हैं - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव । अब इनमें, प्रथम 'द्रव्य' पदार्थ का निरूपण किया जा रहा है-

द्रव्य का स्वरूप :

'द्रव्य' शब्द गत्यर्थक 'द्रु' से कर्म में निष्पन्न है। 'द्रूयते-गम्यते आश्रय भावाय गुणा दीप्ति द्रव्यम्' अर्थात गुण आदि अन्य पदार्थ जिसकी ओर आश्रय पाने के लिये दौड़ते है, वह पदार्थ द्रव्य होता है, द्रव्य में गुण पदार्थ समवाय सम्बन्ध से रहता है, जबकि कर्म आदि नित्य नहीं रहते, अतः 'उपन्यास टीका'[1] में कहा गया है कि - जिस पदार्थ में गुण समवाय संबंध से रहता है, वह पदार्थ 'द्रव्य' है।

किन्तु नैयायिकों का मत है कि द्रव्य अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में गुण से रहित रहता है, द्वितीय क्षण में उसमें गुण आता है, अतः गुण, द्रव्य में समवाय संबंध से नहीं रह सकता, द्रव्य का एक लक्षण यह भी किया गया है कि अन्य पदार्थों से द्रव्य को अलग करने वाली उपाधि भी जिसमें रहती हो, वह पदार्थ 'द्रव्य' है।

अन्नम्भट्ट ने अपनी 'दीपिका' टीका में 'द्रव्य' का लक्षण कुछ भिन्न प्रकार से किया है - 'गुण जिसमें रहता हैं, उसी में रहने वाली किन्तु सत्ता से इतर जाति जिसमें विद्यमान है, वह द्रव्य है। [2]

यह तो द्रव्य के स्वरूप का विवेचन किया गया, अब द्रव्य पदार्थ का लक्षण किया जा रहा है :-

द्रव्य लक्षण :

'तर्कसंग्रहकार' अन्नम्भट्ट ने द्रव्य का लक्षण नहीं किया है, इन्होंने द्रव्य के नौ भेद बताकर, उनका ही लक्षण किया है, इसी प्रकार 'तर्कामृतकार' ने भी द्रव्य का लक्षण नहीं बताया है।

1- समवाय सम्बन्धेन गुणवत्वं द्रव्य - 'सामान्य लक्षणम्'

2- गुणसमानाधिकरण - सत्ता - भिन्न जातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्-दीपिका टीका

ग्रन्थकारों द्वारा किया गया 'द्रव्य' का लक्षण इस प्रकार है :-

'तर्ककौमुदीकार' ने द्रव्य का लक्षण 'द्रव्यत्वसामान्यवद्गुणवद् वा द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण किया है, तात्पर्य यह है कि जो द्रव्यत्व जाति से युक्त हो तथा गुण से युक्त हो, वह द्रव्य है।

'न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार'[1] ने द्रव्य का लक्षण 'समवयिकारणं द्रव्यं' किया है, जबकि 'तर्कभाषाकार' तथा 'तार्किकरक्षाकार' ने द्रव्य का लक्षण दो प्रकार से किया है :-

(1) समवायिकारण द्रव्यम्   (2) गुणाश्रयो द्रव्यम् ।

किन्तु 'वैशेषिकसूत्रकार' ने द्रव्य का लक्षण 'क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति' यह किया है।

इस प्रकार उपरोक्त किये गये लक्षणों का यदि सूक्ष्म विवेचन किया जाये तो यह स्पष्ट होता है कि इनके लक्षणों में विभिन्नतायें है, और वह स्वाभाविक भी है, क्योंकि 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' यह उक्ति सुप्रसिद्ध ही है। उपरोक्त लक्षणों के आधार पर द्रव्य के तीन लक्षण किये जा सकते हैं :-

(1) समवायिकारणं द्रव्यम्

(2) गुणाश्रयो द्रव्यम् और

(3) द्रव्यत्वजातिमत् द्रव्यम् ।

प्रथम लक्षण 'कारणत्व' का प्रवेश रहने से 'गौरव' होता है, यही सोचकर 'तर्कभाषाकार' ने दूसरा लघु लक्षण किया है, 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' किन्तु इस लक्षण के विषय में पूर्वपक्षी द्वारा जो शंका उठ सकती है, उसका समाधान भी 'केशवमिश्र' ने बहुत ही अच्छी प्रकार से किया है :-

इस लक्षण के विषय में यह शंका उठा सकती है कि - घट के प्रथम क्षण

---

1 - कारिकावली - कारिका 23.

उसके निर्गुण रहने से, उसमें अर्थात प्रथम क्षण के घट में, इस लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि न्याय का यह सिद्धान्त है कि प्रथम अर्थात् उत्पत्ति क्षण में निर्गुण घट की उत्पत्ति हुआ करती है, अतः प्रथम क्षण में घट (कोई भी द्रव्य) गुण का आश्रय नहीं बन सकता। तब 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण उसमें घटित नहीं हो सकेगा, अतः इस लक्षण की अव्याप्ति होगी।

तब इस शंका का समाधान करते हुये आचार्य केशवमिश्र 'तर्कभाषा' में कहते हैं कि 'योग्यता के आधार पर गुणाश्रयता को मानने पर अव्याप्ति दोष नहीं होगा, अर्थात् गुण का आश्रय बनने की योग्यता तो उसमें अपेक्षित है। 'योग्यता' का अर्थ है - गुणों के अत्यन्ताभाव का अभाव ।

द्रव्य का तीसरा लक्षण 'द्रव्यत्व जातिमत् द्रव्यम्' किया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि जो पदार्थ समवाय सम्बन्ध से द्रव्यत्व जाति वाला हो, वह पदार्थ 'द्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्यत्व जाति, पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में ही रहती है, गुण आदि पदार्थों में वह नहीं रहती, अतः द्रव्यत्वजातिमत्वरूप द्रव्य का यह लक्षण उचित ही है।

द्रव्यत्व जाति की सिद्धि :

किन्तु उपरोक्त लक्षण तभी घटित हो सकता है, जब द्रव्यत्व जाति सिद्ध हो जाये, अतः 'न्यायमुक्तावलिकार' [1] ने द्रव्यत्व जाति की सिद्धि अनुमान प्रमाण से इस प्रकार की है :-

'कार्य की समवयिकारणता के अवच्छेदक तथा संयोग अथवा विभाग की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में 'द्रव्यत्व जाति' की सिद्धि होती है।

इसको विस्तृत रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है कि 'कार्य की समवायिकारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति है, 'इसका तात्पर्य यह है कि जिस-जिस वस्तु में कार्य की समवायिकारणता पायी जायेगी, वह द्रव्य होगा। 'अवच्छेदक' का अर्थ है -

---

1 - कार्यसमवायिकारणताऽवच्छेदकता, संयोगस्य विभागस्य वा समवायिककारणतावच्छेदकतया तत्सिद्धेरिति' - कारिका 3, मुक्तावली ।

'सब पदार्थों से अलग करने वाला' । समवायिकारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति है, इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्यत्व के रूप में कोई वस्तु समवायिकारण होती है, अभिप्राय यह है कि जो-जो द्रव्य है, वह समवायिकारण अवश्य होता है, द्रव्य से भिन्न गुण, कर्म आदि समवायिकारण नहीं होते । अतः द्रव्यत्व जाति, द्रव्यमात्र की समवायिकारणता की अवच्छेदक होने से सिद्ध हो जाती है।

किन्तु 'कार्यमात्र के प्रति समवायिकारणता का अवच्छेदक कहने से कुछ गौरव आता है, क्योंकि इसमें 'कार्यत्व' जाति नहीं, बल्कि उपाधि है [1] और दूसरी बात यह है कि 'कार्य' में संसार के सारे कार्य आ जायेंगे, अतः मुक्तावलिकार ने 'द्रव्यत्व जाति' का दूसरा लक्षण किया कि 'जो संयोग का समवायिकारण हो, वह द्रव्य है, तात्पर्य यह है कि जिसमें संयोग की समवायिकारणता की अवच्छेदकता हो, वह द्रव्यत्व जाति है।

किन्तु इस लक्षण को भी निर्दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि कुछ नैयायिक नित्य संयोग' को मानते है, जो नित्य होने के कारण कार्य नहीं होंगे, तब संयोगत्व जाति कार्यता की अवच्छेदक नहीं होगी। अतः इस दोष को दूर करने के लिये ही मुक्तावलीकार ने अन्त में यह लक्षण किया है कि 'जो विभाग की समवायिकारणता की अवच्छेदक हो, वह द्रव्यत्व जाति है। विभाग, नित्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह संयोगपूर्वक होने के कारण अनित्य ही होता है। इसलिये 'विभागत्व' जाति से अवच्छिन्न कार्यता हो सकती है और तब इस कार्यता की समवायिकारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति होगी। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से द्रव्यत्व जाति की सिद्धि होने पर, उसका 'द्रव्यत्वजातिमत्वरूप लक्षण भी सिद्ध हो जाता है।

द्रव्य के भेद :

सभी ग्रन्थकारों [2] ने द्रव्य के नौ भेद स्वीकार किये हैं:- पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ।

1- करिकावली - करिका 8.

2- क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः द्रव्याणि - करिकावली - करिका 3.

अब इन नौ द्रव्यों का विस्तृत निरूपण किया जा रहा है :-

पृथिवी

अब द्रव्यों में प्रथम 'पृथिवी' द्रव्य का विवेचन किया जा रहा है। किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, उसके लक्षण, भेद, गुण आदि का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। बिना लक्षण के किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, अतः अब 'पृथिवी' द्रव्य का लक्षण किया जा रहा है :-

लक्षण :

'पृथिवी' का लक्षण ग्रन्थकारों ने इस प्रकार किया है :- 'तर्कभाषाकार' तथा 'तर्ककौमुदीकार' ने पृथिवी का लक्षण 'पृथिवीत्वसामान्यवती पृथिवी' तथा तर्कसंग्रहकार' एवं 'तार्किकरक्षाकार' ने इसका लक्षण 'गन्धवती पृथिवी' अथवा 'गन्धवती भूमिः' किया है तथा 'कारिकावलिकार' ने इसका लक्षण 'क्षितिर्गन्धहेतुः' किया है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकारों द्वारा 'पृथिवी' का लक्षण दो प्रकार से किया गया है -

'गन्धवती पृथिवी' और 'पृथिवीत्वसामान्यवती पृथिवी' । इनमें से प्रथम लक्षण का अभिप्राय है कि जो द्रव्य समवाय संबंध से गन्धगुण वाला हो अथवा अन्य शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जिस पदार्थ में गन्ध गुण समवाय संबंध से रहता हो, वह द्रव्य 'पृथिवी' है।

दूसरे लक्षण का अभिप्राय यह है कि जो द्रव्य समवाय संबंध से पृथिवीत्व जाति वाला हो तथा जिसमें पृथिवीत्व जाति समवाय संबंध से रहती है, वह द्रव्य पृथिवी कहा जाता है। 'पृथिवीत्व' जाति केवल पृथिवी में ही रहती है, जलादि द्रव्य में यह जाति नहीं रहती, अतः पृथिवी का यह लक्षण उचित ही प्रतीत होता है, किन्तु पृथिवी का यह लक्षण तभी घटित हो सकता है, जबकि पृथिवीत्व जाति की सिद्धि की जाये, अतः अब पृथिवीत्व जाति की सिद्ध की जा रही है :-

पृथिवीत्व जाति की सिद्धि :

पृथिवीत्व जाति की सिद्धि प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों ही प्रमाणों द्वारा की जा सकती है :-

'प्रत्यक्ष प्रमाण' से पृथिवीत्व जाति की सिद्धि इस प्रकार हो सकती है कि 'इयं नीलरूपा पृथिवी', इयं पीतरूपा पृथिवी' इस प्रकार नील, पीत इत्यादि रूप से पृथिवीत्व जाति की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से की जाती है।

इस पर यह शंका उठती है कि जब 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से ही पृथिवीत्व जाति की सिद्धि हो जाती है तो 'अनुमान प्रमाण' से उसे सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है? तब इस शंका के समाधानस्वरूप यह कहा जा सकता है कि परमाणु, द्वयणुक और घ्राणेन्द्रिय रूप पृथिवी का सिद्धि 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से नहीं हो सकती, अतः परमाणु आदि में पृथिवीत्व जाति की सिद्धि के लिये 'अनुमान प्रमाण' की आवश्यकता है। परमाणु आदि में पृथिवीत्व जाति की सिद्धि अनुमान प्रमाण से इस प्रकार की जाती है :-

'पृथिवीवृत्तिः या गन्धसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न कारणतात्वात्, तन्तुवृत्तिकारणतावत् ।'

इसका अर्थ यह है कि पृथिवी में जो गन्धगुण की समवायिकारणता है, वह किसी धर्म से अवच्छिन्न ही होती है, निरवच्छिन्न कोई भी कारणता नही होती, जैसे तन्तुओं में पट की समवायिकारणता, तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न रहती है, उसी प्रकार पृथिवी में रहने वाली गन्ध की समवायिकारणता भी किसी धर्म से अवश्य अवच्छिन्न होगी, वह धर्म 'पृथिवीत्व जाति' ही है।

इस अनुमान प्रमाण में परमाणु, द्वयगुण, घ्राणेन्द्रिय रूप अतीन्द्रिय पृथिवी में तथा प्रत्यक्ष योग्य पृथिवी में 'पृथिवीत्व जाति' की सिद्धि सरलतापूर्वक हो जाती है।

पृथिवी के लक्षणों में अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोष का निवारण :

पृथिवी का जो प्रथम लक्षण 'गन्धवती पृथिवी' किया गया है, इस लक्षण की जल तथा वायु में अतिव्याप्ति तथा पाषाण आदि में अव्याप्ति होती है।

तात्पर्य यह है कि जल तथा वायु में भी सभी लोगों को सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि की प्रतीति होती है अर्थात् 'जल सुगन्ध वाला है' तथा 'वायु सुगन्ध वाली है' इस प्रकार की प्रतीति सभी को होती है, अतः इस लक्षण की जल तथा वायु में अतिव्याप्ति होगी, किन्तु यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि जल तथा वायु में जो गन्ध की प्रतीति होती है, वह स्वभावतः न होकर औपाधिक होती है, वस्तुतः वायु और जल में पार्थिव द्रव्यों के संयोग के कारण ही उनमें गन्ध की प्रतीति होती है, अतः इस लक्षण की जल तथा वायु में अतिव्याप्ति नही होगी।

इसी प्रकार जो यह कहा गया है कि पाषाण आदि पृथिवी में गन्ध गुण की प्रतीति न होने से 'अव्याप्ति' होगी तो 'मुक्तावलिकार'[1] विश्वनाथ पन्चानन इसका समाधान करते हुये कहते हैं कि इस लक्षण की पाषाण आदि में अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि पाषाण में गन्ध उद्भूत नहीं होती और गन्ध अनुद्भूत होने के कारण ही, उसमें गन्ध की उपलब्धि नही होती, क्योंकि उत्कट गन्ध की ही उपलब्धि होती है, अनुत्कट की नहीं। दूसरी बात यह है कि पाषाण भस्म में गन्ध की उपलब्धि होती है और जो अवयव पाषाण के है, वहीं पाषाण भस्म के भी होते है। अतः पाषाण भस्म में गन्ध रहे और पाषाण में न रहे, यह सम्भव ही नहीं, अतः पाषाण में भी गन्ध को अवश्य मानना पड़ेगा। अतः इस लक्षण की अव्याप्ति नहीं होगी, अतः 'गन्धवती पृथिवी' यह लक्षण सर्वथा निर्दोष है, यह सिद्ध होता है।

पृथिवी के गुण :

जहां तक पृथिवी के गुणों का प्रश्न है तो सभी ग्रन्थकारों ने एकमत से पृथिवी के चौदह गुण माने हैं :- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरूत्व, द्रवत्व और संस्कार ।

इन चौदह गुणों से युक्त होती है। मुक्तावलीकार[2] ने पृथिवी को शुक्ल, नील इत्यादि भेद से नाना 'रूप' वाली अम्ल, लवण, मधुर, कटु, तिक्त और कषाय यह छः

1- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 35.

2- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 35.

प्रकार के 'रस' वाली, सौरभ, असौरभ ये दो प्रकार के गन्ध वाली तथा 'अनुष्णाशीत पाकज स्पर्श' वाली बताया है।

पृथिवी और वायु के स्पर्श में अन्तर मात्र इतना है कि वायु का "अनुष्णाशीत स्पर्श' पाकजन्य' होता है। पृथिवी का द्रव्यत्व भी पाकज होता है, अतः इसे 'नैमित्तिक द्रवत्व' वाला कहा गया है। संस्कार के तीन भेदों में से वेग और स्थितिस्थापक पृथिवी मे उपलब्ध होते हैं। अव इस सन्दर्भ में न्यायवैशेषिक में मान्य 'पाकज प्रक्रिया' का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है :-

पाकज प्रक्रिया

वैशेषिक दर्शन में 'पाकजोत्पत्ति' का बहुत ही विस्तृत विवेचन किया गया है और वैशेषिक दर्शन का यह 'मुख्य विषय' समझा जाता है। अतः 'पाकजोत्पत्ति' को ठीक प्रकार से जानना अत्यावश्यक है।

पृथिवी में रहने वाले रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श 'पाकज' अर्थात् तेज के संयोग से उत्पन्न माने जाते है। फल जब कच्चा होता है, तब यह हरा होता है, किन्तु जब वह पक जाता है तो पीला या लाल हो जाता है इसी प्रकार कच्चे फल के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श, पके हुये फल के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से भिन्न होते हैं। फल गर्मी अथवा तेज संयोग से ही पकता है, यह स्पष्ट ही है, अतः पके फल में जो रूप, रस आदि होते हैं, वह तेज संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि फल के पहले रूप, रस आदि नष्ट होकर, नये रूप, रस आदि उत्पन्न होते हैं, इसी कारण इन्हें पाकज कहते हैं। ये पाकज गुण केवल पृथिवी में ही रहते हैं, जल आदि अन्य द्रव्यों में रहीं।

पाकज - उत्पत्ति का जो क्रम है, उसमें न्याय तथा वैशेषिक में परस्पर मतभेद है, वह यह कि वैशेषिक दर्शन परमाणु का पाक मानता है। वैशेषिक के सिद्धान्त को 'पीलूपाक' तथा न्याय के सिद्धान्त के 'पिठरपाक' कहते हैं।

वैशेषिक का पीलूपाक :

वैशेषिक का सिद्धान्त 'पीलूपाक' कहलाता है। 'पीलू' शब्द का अर्थ है,

'परमाणु', अतः 'पीलूपाक' का अर्थ हुआ 'परमाणुओं का पाक' । वैशेषिक मानता है कि 'पाकज' रूप, रस आदि गुण 'परमाणुओं' में ही उत्पन्न होते हैं, पिण्डरूप घट आदि में नहीं।

वैशेषिक मत के अनुसार पृथिवी, तेज के संयोग होने पर पहले समस्त इकाई का परमाणुओं के रूप में विघटन होता है और फिर उसके पश्चात् उन परमाणुओं का पुनः संघटन होकर एक इकाई नये सिरे से बनती है। यह जटिल प्रक्रिया चक्षु का विषय नहीं हो सकती, क्योंकि वह अत्यन्त द्रुतगति से केवल नो क्षणों के ही व्यवधान में सम्पन्न हो जाती है, किन्तु इस नो क्षण - प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन यहाँ नही किया जा रहा है।

न्याय का पिठरपाक :

'पिठर' शब्द का अर्थ है, 'पिण्ड' और 'पिठरपाक' का अर्थ हुआ' सम्पूर्ण पिण्ड का पाक' तात्पर्य यह है कि न्याय दर्शन गुणों की उत्पत्ति, परमाणुओं में न मानकर घट के सम्पूर्ण पिण्ड में मानता है ।

वैशेषिक मत वाले यह कहते हैं कि पाक के पूर्व घट के परमाणुओं में इतना अन्तर नही रहता कि उनमें अग्नि प्रवेश कर सके। जब अग्नि के संयोग से वे परमाणु विभक्त हो जाते हैं, तब उनमें अग्नि प्रविष्ट होकर पाक कार्य करती है। तब घट के अवयवों के विभाग को ही वैशेषिक दर्शन घट का नाश मानता है, इसलिये वह 'पिठर' में पाक न मानकर 'पीलू' में ही पाक मानता है।

न्याय मत वाले परमाणुओं के मध्य, अग्नि का प्रवेश तो मानते हैं, किन्तु वह उसे द्रव्य का नाश नही मानते, उनका कहना है कि द्रव्यनाश मानने से उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया का गौरव होगा, अतः वह 'पिठर' में ही पाक मानते हैं।

यही दोनों दर्शनों में भेद है [1] ।

पृथिवी के गुण के सन्दर्भ में एक बात भी जान लेना अत्यावश्यक है कि 'कणाद' ने अपने सूत्रों में पृथिवी के चार गुण ही माने हैं, और 'उपस्कार' टीकाकार शंकर मिश्र ने इसी आधार पर पृथिवी के चार वैकल्पिक लक्षण माने हैं।[2]

किन्तु अन्य सभी ग्रन्थकारों ने पृथिवी के चौदह गुण ही स्वीकार किये हैं और गन्ध गुण को पृथिवी का असाधारण धर्म माना है।

पृथिवी के भेद :

सभी ग्रन्थकारों ने पृथिवी का वर्गीकरण एक ही प्रकार से किया है :- नित्य और अनित्य ।

इनमें से परमाणुरूप पृथिवी 'नित्य' कही जाती है और द्वयणुकादि कार्यरूप पृथिवी 'अनित्य' कही जाती है। वह कार्यरूप अनित्य पृथिवी 'अवयव वाली" मानी जाती है। 'अनित्य' पृथिवी के भी शरीर इन्द्रिय और विषय रूप तीन भेद किये गये हैं।

'तर्कामृतकार' ने नित्य और अनित्य रूप इसी विभाजन को परमाणु और सावयव इस प्रकार से किया है।

अवयव विवाद:

अनित्या पृथिवी को अवयवयुक्त कहा गया है, इस पर बौद्धों ने शंका उठायी है, जिसका समाधान न्याय-वैशेषिक में किया गया है। इसका विवेचन 'मुक्तावलीकार'[1] ने बहुत ही अच्छे ढंग से किया है :-

बौद्ध शंका करता है कि अवयवों से पृथक अवयवी को मानने में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि परमाणु के समूह मात्र को ही मानने से काम चल जाता है। बौद्ध कहता है कि यह शंका भी नहीं हो सकती कि परमाणु के अतीन्द्रिय होने से अर्थात प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से घटादि का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि एक परमाणु के अप्रत्यक्ष होने पर भी उसके समूह का प्रत्यक्ष होता है, जिस प्रकार एक केश का दूर से प्रत्यक्ष न होने पर भी उसके समूह का तो प्रत्यक्ष होता ही है। इसी प्रकार अन्य शंकायें भी बौद्धों ने उठायी हैं, जिसका समाधान करते हुये नैयायिक कहते हैं कि बौद्धों की शंका उचित नहीं है, क्यों कि परमाणु के प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से, उसके समूह का प्रत्यक्ष नहीं होगा और बौद्ध जो केश का दृष्टान्त देते हैं, वह उचित नहीं क्योंकि केश सूक्ष्म

1- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 36, 37.

होने के कारण दूर से नहीं दिखाई देता, किन्तु पास आने पर तो दिखाई देता है, और उसका समूह तो दूर से ही दिखाई देता है, किन्तु 'परमाणु' का चाहे कितना ही बड़ा समूह क्यों न हो, किन्तु उसका प्रत्यक्ष नही हो सकता, अतः अवयवी को अवयवों से पृथक मानने से ही काम चल सकता है, परमाणुओं के समूहों से नहीं।

इसी प्रकार अन्य युक्तियों तथा तर्कों द्वारा भी नैयायिकों ने अवयवी की अवयवों से पृथक सत्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है।

उपरोक्त तथ्यों से यह आशय निकलता है कि बौद्ध अवयवी को अवयवों का समूहमात्र मानते हैं, जबकि नैयायिक अवयवी को अवयव से पृथक एक नयी वस्तु मानते हैं। अवयवी और अवयव में तादात्म्य नहीं हो सकता है।

परमाणुसिद्धि :

परमाणुओं की सिद्धि तर्कभाषाकार तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार ने की है, जिसका संक्षिप्त विवेचन यहां पर किया जा रहा है - ।

अब यह शंका उठ सकती है कि परमाणुओं की सिद्धि में प्रमाण क्या है? तो इसका समाधान करते हुए आचार्य केशवमिश्र[1] कहते हैं कि सूर्य की किरणों में सूक्ष्मतम जो धूलि के कण उपलब्ध होते हैं, वह त्रसरेणु कहलाते हैं और त्रसरेणु का छठा भाग अणु या परमाणु कहलाता है। यह कार्य द्रव्य होने से स्वरूप परिमाण वाले द्रव्य से बना है, घट के समान । इस अनुमान से उस त्रसरेणु रूप धूलिकण के अवयवरूप द्वयणुक की सिद्धि होती है। यह द्वयणुक भी स्वल्प परिमाण वाले द्रव्य से बना हुआ है, कार्य द्रव्य होने से घट के समान और उस द्वयणुक रूप कार्य द्रव्य का कारण परमाणु ही है, और वह नित्य ही होता है। इस प्रकार परमाणु की सिद्धि होती है।

1- तर्कभाषा - विश्वेश्वर कृत हिन्दी व्याख्या, पृष्ठ 183.
'जालातंगते भानो सूक्ष्मं यद्दृश्यते रजः ।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः प्रकीर्तितः ।।'
तथा महर्षि गौतम ने 'परं वा त्रुटेः'-न्यायसूत्र-4/2/17. इस परिभाषा का तात्पर्य यह है कि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण जिसे तोड़ा न जा सके, वही परमाणु है।

ऊपर अवयवी को अवयवों से पृथक सिद्ध किया गया है, अवयवी के सिद्ध हो जाने से उसकी उत्पत्ति और नाश होने के कारण, वह अनित्य है, यह भी सिद्ध हो जाता है। उनके अवयवधारा को यदि अनन्त माना जाये तो कहीं भी समाप्ति न होने से मेरू पर्वत और सरसों के दाने का परिमाण एक समान ही होगा, जो कि सभी जानते हैं कि एक समान नहीं है, क्योंकि कि सुमेरू पर्वत अधिक परमाणुओं के संयोग से बना है, जबकि सरसों कम परमाणुओं के संयोग से बना है, अतः कहीं न कहीं अन्त अवश्य मानना पड़ेगा, जहां अवयवधारा का अन्त माना जायेगा, उस परमाणु को नित्य ही मानना पड़ेगा, क्योंकि वह निरवयव है।

परमाणु की सिद्धि में एक युक्ति और भी दी गई है कि, जैसे बड़े परिमाण में बड़े और उससे भी बड़े, इस प्रकार महत्परिमाण में बड़े और उससे भी बड़े, इस प्रकार महत्परिमाण तक पहुंचते हैं, जिससे बड़ा कोई परिमाण नही होता, उसी प्रकार छोटे परिमाण में भी छोटा और उससे छोटा, इस प्रकार ऐसे छोटे परिमाण तक पहुंचते हैं, जिससे छोटा कोई परिमाण हो ही नहीं सकता, वह परिमाण जिसमें रहता है, वही 'अणु' है। इस अणु परिमाण को 'विश्वनाथ'[2] ने पारिमाण्डल्य' शब्द से कहा है, यह अणु परिमाण किसी का भी कारण नही हो सकता।

इसी प्रकार और भी अन्य युक्तियों द्वारा 'मुक्तावलिकार' तथा 'तर्कामृतकार' ने परमाणुओं की सत्ता सिद्ध की है।

यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि इस अनित्य पृथिवी के शरीर, इन्द्रिय और विषय रूप से तीन भेद किये गये हैं, अतः अब पार्थिव शरीर पार्थिव इन्द्रिय और पार्थिव विषय का विवेचन किया जा रहा है :-

पार्थिव शरीर :

पार्थिव शरीर का लक्षण' गन्धवत शरीरं पार्थिवशरीरम्' तथा

1- त्रसरेणुः सावयवद्रव्यारब्धः बहिरिन्द्रियवेधद्रव्यत्वात्' बहिरिन्द्रियवेध द्रव्यं यत् तत् सावयवद्रव्यारब्धं यथा घटः' - तर्कामृत ।

2- पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्' - भाषा परिच्छेद ।

'गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत् शरीरं पार्थिवशरीरम्' किया गया है, तात्पर्य यह है कि जो शरीर समवाय सम्बन्ध से गन्ध गुण वाला होता है, वह शरीर, पार्थिव शरीर कहा जाता है।

पार्थिव शरीर के भेद :

इस पार्थिव शरीर के ग्रन्थकारों[1] ने दो भेद किये हैं :- योनिज और अयोनिज

योनिज :- इसके भी दो भेद किये गये हैं :-

जरायुज और अण्डज ।

जरायुज, जैसे :- मनुष्यादि का शरीर और अंडज, जैसे :- सर्पादि का शरीर ।

अयोनिज :- इसके भी दो भेद माने गये हैं :- स्वेदज और उद्भिज्ज । स्वेदज, जैसे :- कृमि, दंश आदि का शरीर और उद्भिज्ज, जैसे :- वृक्ष, गुल्म आदि का शरीर।

नरकवासियों का शरीर भी अयोनिज ही होता है इन शरीर भेदों का विस्तृत निरूपण 'न्याय दर्शन के प्रमेयों' के अन्तर्गत किया गया है।

मनुष्य आदि के शरीरों में पार्थिवत्व का अनुमान :

इस विषय का विस्तृत निरूपण 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में किया गया है। 'मुक्तावलिकार' ने जिस प्रकार मनुष्यादि शरीरों में पार्थिवत्व की सिद्धि की है, उसका संक्षिप्त विवेचन यहां किया जा रहा है :-

यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि मनुष्यादि के शरीरों के पार्थिवत्व के विषय में क्या प्रमाण है ? तब मुक्तावलिकार कहते हैं कि इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि गन्धवत्व होना ही इसका प्रमाण है। किन्तु इस पर पुनः यह शंका हो सकती है कि मनुष्यादि के शरीर में उष्णता और गीलापन पाया जाता है, अतः ये शरीर 'जलीय' आदि है, किन्तु ऐसा मानने पर, जलत्व, पृथिवीत्व आदि जातियों का परस्पर संकर आ पड़ेगा। यदि यह कहा जाये कि मनुष्य आदि के शरीर को पार्थिव न मानकर, जलीय ही माना जाये तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि गीलापन

1- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 37, 38.

अंग नष्ट हो जाने पर भी हम शरीर को पहचान लेते हैं कि अमुक शरीर इसका है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यादि का शरीर पार्थिव ही है, उस शरीर में जलादि निमित्त मात्र ही है, ऐसा समझना चाहिये, किन्तु 'शरीरत्व' जाति नही हैं, क्योंकि यदि 'शरीरत्व' को जाति मानें तो 'संकर' दोष होगा। इसलिये 'शरीरत्व' जाति नहीं, प्रत्युत् उपाधि है । 'शरीरत्व का स्वरूप है, चेष्टा का आश्रय होना' वृक्षादि के शरीरों में भी चेष्टा पायी जाती है, अतः 'शरीरत्व' की वृक्षों में अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वृक्षों में टूटे हुये तथा कटे हुये अंग के पुनः भर जाने से यह सिद्ध हो जाता है कि वृक्षादि में प्राणवायु का सम्बन्ध है, और वृक्षादि का प्राणवायु से सम्बन्ध होना ही वृक्षादि के शरीर होने की पुष्टि करता है ।

इसी प्रकार अन्य शंकायें उठाकर, उनका समाधान करते हुये 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार ने यह सिद्ध किया है कि मनुष्यादि का शरीर पार्थिव है तथा शरीर का 'चेष्टाश्रय' रूप लक्षण सभी दोषों से रहित है।

पार्थिव इन्द्रिय :-

इसका लक्षण **'गन्धवदिन्द्रियम् पार्थिवम्'** तथा **'गन्धसमानाधिकरण द्रव्यत्व साक्षाद्व्याप्यजातिमदिन्द्रियम् पार्थिवेन्द्रियम्** किया गया है। तात्पर्य यह है कि जिस इन्द्रिय में गन्ध गुण समवाय संबंध से रहता है, वह इन्द्रिय पार्थिव है। 'घ्राणेन्द्रिय' पार्थिव है।

अब यह शंका हो सकती है कि घ्राणेन्द्रियके पार्थिवत्व में क्या प्रमाण है?

घ्राणेन्द्रिय के पार्थिवत्व का अनुमान :

घ्राणेन्द्रिय के पार्थिवत्व की सिद्धि 'मुक्तावलीकार' ने इस अनुमान से की है :- घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है, क्योंकि रूपादि में से वह केवल गन्ध की ही अभिव्यञ्जक है, केसर की गन्ध के अभिव्यञ्जक, गाय के घृत के समान।' इस पर यह शंका होती है कि गाय का घृत केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होता है, यह कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि वह अपने रूपादि का भी तो अभिव्यञ्जक होता है। अतः यहाँ जो हेतु दिया गया है कि 'केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होना' यह हेतु का दृष्टान्त न घटने से 'असिद्ध' हेत्वाभास से युक्त है, तो यह उचित नहीं है, तब इसके समाधान

स्वरूप यह कहा गया है कि 'दूसरे के रूपादि का अभिव्यञ्जक न होकर, केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक हो' और गाय का घृत अपने रूपादि का अभिव्यञ्जक होने पर भी दूसरे के रूप आदि का अभिव्यञ्जक नहीं है, अतः कोई दोष नहीं हो सकता ।

किन्तु फिर भी यह शंका हो सकती है कि नये मिट्टी के बर्तन में गन्ध तभी अभिव्यक्त होती है, जब उसमें पानी डाला जाता है। अतः पानी भी गन्ध का अभिव्यञ्जक है, अतः पानी में भी उपरोक्त हेतु का व्यभिचार हो जायेगा। तब 'मुक्तावलीकार' कहते हैं कि ऐसी शंका नही करनी चाहिए, क्योंकि जल सक्तू के रस का भी तो अभिव्यञ्जक होता है, अतः वह 'केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक हो, ऐसी बात नहीं, अतः रूपादि का अभिव्यञ्जक न होकर, केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक हो इतना ही हेतु होना चाहिए, इसमें 'दूसरे' का यह नहीं देना चाहिए। इस स्थल पर वायु के द्वारा उड़ाये गये पुष्पादि के सुगन्धित अंश का दृष्टान्त दिया जा सकता है, क्योंकि वायु में उड़ाये हुये पुष्पादि के सुगन्धित अंश, गन्ध के सिवाय, अपने रूपादि का भी अभिव्यञ्जक नहीं होता। परन्तु फिर भी एक दोष रह जायेगा कि घ्राणेन्द्रिय का जो गन्ध से सन्निकर्ष होता है, वह सन्निकर्ष भी केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होता है, अतः उसमें हेतु के चले जाने से वह भी 'पार्थिव' सिद्ध होगा। परन्तु सन्निकर्ष तो समवाय आदि के रूप में होता है न कि पार्थिव द्रव्य, इसलिये उस स्थान पर व्यभिचार होगा, तब इसके समाधान स्वरूप यह कहा जा सकता है कि 'रूपादि में केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होना' इस हेतु में द्रव्य होने पर 'इतना विशेषण जोड़ देने पर 'घ्राणेन्द्रिय सन्निकर्ष' में व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि सन्निकर्ष द्रव्य नहीं है। इस प्रकार उपरोक्त अनुमान निर्दोष हैं और यह सिद्ध होता है कि 'घ्राणेन्द्रिय पार्थिव ही है ।'

पार्थिव विषय :

इसका लक्षण गन्धवद् विषयः पार्थिव विषयः' किया गया है तात्पर्य यह है कि जो विषय समवाय सम्बन्ध से गन्ध गुण वाला होता है, वह पार्थिव विषय कहा जाता है ग्रन्थकारों[1] ने द्वयणुक से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त सभी को विषय के अन्तर्गत

1- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 38.
'विषयो द्वयणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः '

माना है। 'मुक्तावलीकार' ने उपभोगसाधनं विषयः' कहकर मनुष्यादि के उपभोग के साधन को विषय कहा है।

अब यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि 'पार्थिव विषय' कौन-कौन से हैं ? अतः इस प्रश्न के समाधानस्वरूप ग्रन्थकारों ने पाषाण आदि का पार्थिव विषय कहा है।

जल

दूसरा द्रव्य 'जल' है, अतः अब इसका लक्षण, भेदपूर्वक विवेचन किया जा रहा है :-

लक्षण :

ग्रन्थकारों ने 'जल' द्रव्य का लक्षण दो प्रकार से किया है :- 'शीतस्पर्शवत्य आपः[1]' और 'अप्त्वसामान्यवत्य आपः [2] ।

इनमें से प्रथम लक्षण का अर्थ है कि शीतस्पर्शवाला होना ही 'जल' का लक्षण है। तात्पर्य यह है कि जिस द्रव्य में, शीतस्पर्श समावाय सम्बन्ध से रहता है, वह द्रव्य 'जल' कहा जाता है। समवाय सम्बन्ध से यह शीतस्पर्श केवल जल में ही रहता है, पृथिवी आदि अन्य द्रव्यों में शीतस्पर्श नहीं रहता।

किन्तु यह शंका हो सकती है कि यह लक्षण उचित नही है क्योंकि पुष्प, चन्दन, शिलातल आदि में भी शीतल स्पर्श की प्रतीति होती है, अतः जल के इस लक्षण की पृथिवी विषयों में अतिव्याप्ति होती है, इसी प्रकार मध्यंदिन में जल में उष्णता की प्रतीति होती है, अतः यह लक्षण अव्याप्ति दोष से भी दूषित है।

तब इस शंका का समाधान करते हुये 'मुक्तावलीकार'[3] कहते हैं कि चन्दनादि में जो शीतलता की प्रतीति होती है, वह जल के संयोग के कारण ही होती है,

---

1- तर्कसंग्रह और कारिकावली ।

2- तर्कभाषा और तर्ककौमुदी ।

3- न्याय सिद्धान्त मुक्तावली - कारिका 39, प्रत्यक्ष खण्ड ।

जल के संयोग सम्बन्ध का अभाव होने पर चन्दनादि में शीतलता की प्रतीति नहीं होती, अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है, इसी प्रकार मध्यंदिन के जल में जो उष्णता की प्रतीति होती है, वह भी तेज के संयोग सम्बन्ध के कारण ही होती है, तेज के जो सूक्ष्म अंश हैं, उनसे जल का शीत स्पर्श दब जाता है, जिससे जल में उष्णता की प्रतीति होती है, वास्तव में तो जल का स्पर्श शीत ही होता है। इसी प्रकार 'वैशेषिक सूत्र के उपस्कार टीकाकार'[1] ने भी वर्णन किया है।

इस प्रकार यह लक्षण दोषरहित और उचित ही है।

दूसरे लक्षण का अर्थ है कि 'अप्त्व जाति से युक्त आप्' है, अथवा जिस द्रव्य में समवाय संबंध से जलत्व जाति रहती है, वह द्रव्य 'जल' है। यह जलत्व जाति, जल से भिन्न अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहती ।

किन्तु यह लक्षण तभी ठीक माना जा सकता है, जबकि 'जलत्व जाति' किसी प्रमाण से सिद्ध हो। ऐसी शंका होने पर जलत्व जाति की सिद्धि इस प्रकार की जाती है :-

जलत्व जाति की सिद्धि 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से इस प्रकार होती है - नदी, कूप, समुद्र, इत्यादि में 'इदं जलम्' इस प्रकार की प्रतीति सभी को होती है, अतः जलत्व जाति 'प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। किन्तु परमाणु रूप अतीन्द्रिय जल में तथा रसनेन्द्रिय रूप जल में वह प्रतीति किसी को भी नहीं होती, अतः वहां जलत्व जाति की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नही हो सकती तब ऐसे स्थल पर 'अनुमान प्रमाण' से जलत्व जाति की सिद्धि की जाती है। 'मुक्तावलीकार' ने अनुमान प्रमाण से जलत्व जाति की सिद्धि इस प्रकार की है :- 'स्नेह के समवायिकारण के अवच्छेदक के रूप में जलत्व जाति की सिद्धि होती है।

तात्पर्य यह है कि जल में रहने वाली जो स्नेह गुण की समवायिकारणता है, वह किसी धर्म से अवच्छिन्न होने योग्य है, कारणता होने से, जो भी कारणता होती

---

1 - वैशेषिक सूत्रोपस्कारः - सूत्र 2, अध्याय 2, आह्निक ।

है वह किसी धर्म से अवच्छिन्न ही होती है, कोई भी कारणता निरवच्छिन्न नहीं होती यथा - तन्तु में रहने वाली पट की समवायिकारणता, तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न ही होती है, उसी प्रकार जल में रहने वाली स्नेह गुण की समवायिकारणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य होगी, उस कारणता का अवच्छेदक धर्म जलत्व जाति ही हो सकती है, दूसरा कोई धर्म, उस कारणता का अवच्छेदक नहीं हो सकता ।

इस प्रकार 'स्नेह' गुण की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में जलत्व जाति की सिद्धि होती है।

इस पर यह शंका हो सकती है कि इस अनुमान से द्वयणुकादि रूप 'जन्य जल' में तो जलत्व जाति सिद्ध हो सकती है, किन्तु परमाणु 'रूप नित्य जल' में जलत्व जाति कैसे सिद्ध होगी ?

तब इस शंका के समाधान स्वरूप यह कहा जाता है कि 'द्वयणुकादिरूप जन्य जल में, जन्य स्नेह की समवायिकारणता रहती है' यह कहना उचित है तथा इसमें किसी का भी विवाद नहीं है। अतः पहले 'जन्य स्नेह की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में 'जन्यजलत्व जाति' सिद्ध कर दी गई है, तत्पश्चात् जन्यजलत्व जाति से अवच्छिन्न 'जन्य जल' में रहने वाली समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप में जलत्व जाति की सिद्धि की जाती है।

इस प्रकार जलत्व जाति के सिद्ध हो जाने पर 'जलत्वजातिमत्व' रूप जल का लक्षण घटित हो जाता है। 'प्रशस्तपादभाष्य' में भी जल का लक्षण 'अप्त्वाभिसम्बन्धादापः' किया गया है ।

जल के गुण :

सभी ग्रन्थकारों ने जल के चौदह गुण बताये हैं:- रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरूत्व, द्रवत्य, स्नेह और वेग संस्कार।

तार्किकरक्षाकार ने तो जल के गुण नहीं बताये हैं, किन्तु 'मुक्तावलीकार' ने जल के रूप, रस, तथा स्पर्श का विशद विवेचन किया है, 'मुक्तावली' में जल को

'सांसिद्धिक द्रवत्व' वाला बताया गया है। अब जल के रूप आदि का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है :-

जल का रूप 'अभास्वर शुक्ल' माना गया है,किन्तु इस पर यह शंका होती है कि जल का रूप केवल शुक्ल ही तो नहीं होता क्योंकि उसमें नीलिमा आदि की भी उपलब्धि होती है, यथा - कालिन्दी के जल में नीलिमा रूप की प्रतीति होती है। तब इसके समाधान स्वरूप यह कहा जाता है कि कालिन्दी के जल में जो नीलरूप की प्रतीति होती है, वह जल के आश्रय (पृथिवी) की उपधि के कारण होती है अर्थात् जल को ऊपर उछालने से उस जल से पृथिवी का सम्बन्ध दूर हो जाता है, जिससे उसका अपना निजी रूप श्वेत वर्ण दिखाई देता है। यदि कोई यह शंका करे कि वह श्वेत वर्ण, जो जल में दिखाई दे रहा है, वह तेज का रूप है तो परिपक्व घट आदि का भी रंग तेज का ही 'रूप' क्यों नही मान लेते ।[1] अतः 'श्वेतिमा' जल का स्वाभाविक गुण है।

जल का रस 'मधुर' माना गया है। लेकिन इसमें क्या प्रमाण है ? क्योंकि पीने वाले को 'इस जल में यह रस है, ऐसा अनुभव नहीं होता' अर्थात् जल में किसी भी प्रकार के रस का अनुभव नहीं होता। यह भी नही कहा जा सकता कि नारियल के जल आदि में माधुर्य की प्रतीति होती ही है, क्योंकि वह जल के आश्रय पृथिवी के कारण ही होती है, अन्यथा जम्बीर आदि के रस में खट्टे रस की प्रतीति होने से, खट्टा रस भी जल का मानना चाहिये ।

तब इसका समाधान करते हुये यह कहा जाता है कि, ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि आँवला आदि को खाकर फिर जो पानी पिया जाता है, तो उसमें मधुर रस की उपलब्धि होती है, अतः मधुर रस, जल का स्वाभाविक गुण है, यह कल्पना की जाती है।

यह नहीं कहा जा सकता कि आँवले आदि में ही, जल की गर्मी के संयोग से (अर्थात पाकज) दूसरे रस की उत्पत्ति हो जाती है, क्योंकि उसमें कल्पना-गौरव होगा

1- वैशेषिकसूत्रोपस्कारः - 2/2/9.

खट्टे, तिक्त, लवण आदि रस नही हो सकता, अतः यह सिद्ध होता है कि जल का रस मधुर ही होता है। परन्तु मधुर रस तो शक्कर आदि में भी पाया जाता है, अतः अतिव्याप्ति होगी, किन्तु शक्कर में वस्तुतः पृथिवीत्व जाति रहती है, अतः 'तीखे रस में न रहने वाली और मधुर रस में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षाद्व्याप्य जाति वाला होना' ऐसा कहा गया है। पृथिवीत्वं जाति तिक्त रस में भी रहती है, अतः शक्कर आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

जल में 'स्वाभाविक द्रवत्व' पाया जाता है, किन्तु शंका यह होती है कि तेल, घी, दूध आदि जो पृथिवी भाग हैं, उनमें भी तो स्वाभाविक द्रवत्व की प्राप्ति होती है, फिर जल में ही स्वाभाविक द्रवत्व कैसे माना जाता है ? तब इसका समाधान यह कहकर किया जाता है कि, तेल आदि में जो स्वाभाविक द्रवत्व पाया जाता है, वह तेल आदि में जल का भाग मिश्रित होने से, उस जल का द्रवत्व तेल आदि पृथिवी भागों में परम्परा सम्बन्ध से प्रतीत होता है। अतः जल में ही स्वाभाविक द्रवत्व पाया जाता है, यह सिद्ध होता है ।[1]

जल के भेद :

सभी ग्रन्थकारों ने जल के दो भेद बताये है :- नित्य और अनित्य । परमाणुरूप जल नित्य है तथा द्वयणुकादि कार्यरूप जल अनित्य है। यह अनित्य जल भी तीन प्रकार का होता है :- शरीर, इन्द्रिय और विषय ।

जलीय शरीर :

'शीतस्पर्शवत्य शरीरं जलीयशरीरम्' यह जलीय शरीर का लक्षण है। जलीय शरीर अयोनिज है, तथा वरूण लोक में प्रसिद्ध है।

जलीय इन्द्रिय :

इस लक्षण है 'शीतस्पर्शवदिन्द्रिय जलीयेन्द्रियम्' शीतस्पर्श वाला जलीय इन्द्रिय रसनेन्द्रिय है।

1- वैशेषिकसूत्रोपस्कारः - 2/1/2.

रसनेन्द्रिय में जलीयत्व की सिद्धि :

रसनेन्द्रिय में जलीयत्व की सिद्धि 'अनुमान प्रमाण' द्वारा इस प्रकार होती है:- रसनेन्द्रिय जलीय है, क्योंकि वह गन्ध आदि की व्यंजक न होने पर, रस की व्यंजक है, सत्तू के रस के अभिव्यंजक, जल के समान । इस अनुमान से रसनेन्द्रिय में जलीयत्व की सिद्धि हो जाती है।

जलीय विषय :

इसका लक्षण है 'शीतस्पर्शवद्विषयः जलीय विषयः' । जल के विषय सिन्धु, हिम, करक, नदी, तालाब आदि माने गये हैं, किन्तु करक अर्थात् ओला ठोस होता है, अतः उसमें पृथिवीत्व की शंका की जाती है, जो उचित नहीं क्योंकि गर्मी से पिघल जानेपर हिमकरक अर्थात् बर्फ के ओले का जल होना सिद्ध है।

तेजस्

तीसरा द्रव्य 'तेजस्' है। अतः अब इसका लक्षण, भेदपूर्वक बताया जा रहा है :-

लक्षण :

तैजस् द्रव्य का लक्षण दो प्रकार से किया गया है :- 'ऊष्णस्पर्शवत् तेजः' और 'तेजस्त्वजातिमत् तेजः' अथवा 'तेजस्त्वसामान्यवत् तेजः' ।

इन दोनों लक्षणों में 'प्रथम लक्षण' का अर्थ है' जो द्रव्य समवाय संबंध से उष्ण स्पर्श वाला होता है, वह द्रव्य तेजस् कहलाता है। यह उष्णस्पर्श समवाय सम्बन्ध से केवल तेज में ही रहता है, तेज से भिन्न पृथिवी आदि द्रव्यों में वह उष्णस्पर्श नही रहता, अतः सिद्ध होता है कि तेज का यह लक्षण उचित ही है।

मुक्तावलीकार ने कहा है कि तेजस् के स्पर्श में रहने वाली 'उष्णत्व' एक विशेषजाति है, जो प्रत्यक्ष सिद्ध है, इस प्रकार जन्य उष्ण स्पर्श की समवायिकारण के अवच्छेदक के रूप में तेजस्त्व जाति की सिद्धि होती। इसका अभिप्राय यह है कि उष्णस्पर्श तेज में समवाय सम्बन्ध से रहता है, जो पृथिवी आदि द्रव्यों में समवाय संबंध में न रहने

के कारण, तेजस् को पृथिवी आदि द्रव्यों से पृथक करता है, इस प्रकार उष्णस्पर्श की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में तेजस्त्व जाति की सिद्धि होती है।

किन्तु कुछ लोग इस पर शंका करते हुए कहते हैं कि अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण यह लक्षण उचित नही है, क्योंकि यह जल उष्ण है, यह पृथिवी उष्ण है, इस प्रकार की प्रतीति जल आदि द्रव्यों में भी होती है, अतः उष्णवत्वरूप तेज के लक्षण की जलादि में भी अतिव्याप्ति होती है, तथा चंद्रकिरण, सुवर्ण अदि तैजस् द्रव्यों में लक्षण की अव्याप्ति होगी।

तब इस शंका का समाधान करते हुये 'मुक्तावलीकार' कहते हैं कि - उष्णस्पर्श वाले तेज के संयोग से ही पृथिवी आदि में उष्णता की प्रतीति होती है, अर्थात् तेज का उष्णस्पर्श ही स्वसमवायिसंयोग सम्बन्ध से पृथिवी आदि में प्रतीति होता है, स्वभावतः पृथिवी आदि में उष्णस्पर्श नही है, अतः पृथिवी आदि में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नही हो सकती ।

दूसरी जो यह शंका की गयी है कि चंद्रकिरण, पद्मराग इत्यादि तैजस् पदार्थों में उष्ण स्पर्श विद्यमान ही नही है, अतः चन्द्रकिरण आदि में लक्षण की अव्याप्ति होती है, तो यह कथन उचित नहीं, क्योंकि उनमें भी उष्णता विद्यमान है। किन्तु उसके अन्दर रहने वाले जल के स्पर्श से दब जाने के कारण, उस उष्णता का ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार रत्नकिरण आदि में पार्थिव स्पर्श से दब जाने के कारण तथा चक्षु आदि से अनुद्भूत होने के कारण उष्णस्पर्श का ग्रहण नहीं होता। चन्द्रकिरण, चक्षु इन्द्रिय तथा रत्नकिरण आदि में उष्णस्पर्श स्वाभाविक ही होता है।

इसी प्रकार कुछ अन्य तर्क भी दिये गये हैं जिनमें यह सिद्ध होता है कि तेजस् का यह लक्षण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति आदि दोषों से रहित होने के कारण उचित ही है।

दूसरे लक्षण का अर्थ होता है, कि जो द्रव्य समवाय संबंध से तेजस्त्व जाति वाला होता है, वह द्रव्य 'तेज' कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि तेजस्त्व

जाति समवाय संबंध से केवल तेज में ही रहती है, तेज से भिन्न पृथिवी आदि द्रव्यों में नहीं रहती, अतः यह लक्षण निर्दोष तथा उचित ही है, किन्तु इसे उचित तभी कहा जा सकता है, जब तेजस्त्व जाति किसी प्रमाण से सिद्ध हो, अतः अब तेजस्त्व जाति की सिद्धि की जा रही है -

तेजस्त्व जाति की सिद्धि :

अग्नि, सूर्य, चन्द्र, दीपक, विद्युत आदि पदार्थों में 'इदं तेजः इदं तेजः' इस प्रकार की एकाकार की प्रतीति सभी को होती है, इस एकाकार प्रतीति का विषय तेजस्त्व जाति ही है, अतः तेजस्त्व जाति की सिद्धि में 'इदं तेजः' यह प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

किन्तु जो परमाणु रूप तथा चक्षुरिन्द्रिय रूप अतीन्द्रिय तेज है, उसमें तेजस्त्व जाति की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकती । अतः अनुमान प्रमाण से तेजस्त्व जाति की सिद्धि की जाती है।

वह अनुमान इस प्रकार होगा कि - 'तेजोनिष्ठा या उष्णस्पर्श समवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् तन्तुनिष्ठ कारणतावत् अर्थात तेज में रहने वाली जो उष्णस्पर्श की समवायिकारणता है, वह कारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न होने योग्य है 'कारणता' होने से । जो भी 'कारणता' होती है, वह किसी 'धर्म' से अवच्छिन्न ही होती है, कोई भी कारणता निरवच्छिन्न नहीं होती। यथा-तन्तुओं में रहने वाली पट की समवायिकारणता तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न ही रहती है, वैसे ही तेज में रहने वाली उष्ण स्पर्श की समवायिकारणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य होगी, उस कारणाता के अवच्छेदक रूप में 'तेजस्त्व' जाति ही सिद्ध होती है, अन्य किसी जाति की सिद्धि नही होती।

इसी प्रकार परमाणुरूप 'नित्य तेज' में भी प्रथमतः जन्यउष्णस्पर्श की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में द्वयणुकादि जन्यतेजोवृत्ति 'तेजस्त्व' जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिए, फिर उस 'जन्य तेजस्त्व जाति' से अवच्छिन्न 'जन्य तेज' की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप मे नित्य-अनित्यरूप समस्त तेजोविषयक 'तेजस्त्व जाति' की सिद्ध करनी चाहिये।

इस प्रकार तेजस्त्वजातिमत्त्व रूप तेज का लक्षण है। 'प्रशस्तपादभाष्य' में भी 'तेजस्त्वाभिसम्बन्धात् तेजः' यह लक्षण किया गया है।

तेज के गुण :

'तेज' के एकादश गुण बताये गये हैं :- रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और वेग [संस्कार] ।

मुक्तावलीकार[1] ने 'तेज' का भास्वरशुक्ल रूप माना है। इस पर यह शंका होती है कि अग्नि में लाल तथा कपिल रंग की उपलब्धि होती है तथा मरकत मणि में भी शुक्ल रूप की उपलब्धि नहीं होती, अतः तेज का रूप भास्वर शुक्ल ही होता है, यह असंगत है। तब इसका समाधान करते हुये मुक्तावलीकार ने कहा है कि 'अग्नि तथा मरकत मणि की किरणों में पार्थिवरूप से दब जाने के कारण ही शुक्ल रूप का ग्रहण नहीं होता, किन्तु उनमें शुक्ल रूप तो विद्यमान रहता ही है तथा पार्थिव भाग से संयुक्त होने के कारण ही अग्नि में रक्त तथा कपिल आदि रंगों की प्रतीति होती है। यथा :- श्वेत शंख में भी नेत्रस्थ पित्त कोष से उत्पन्न पीतिमा के कारण , यह शंख पीला है, इस प्रकार का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् शंख का श्वेत आँख में रहने वाले पित्त रूप से दब जाता है, परन्तु शंख की प्रतीति में उस पित्त के पीले रूप से ही हो जाती है, अर्थातः यह शंख पीला है, ऐसा ज्ञान होता है, जबकि शंख का रूप श्वेत ही होता है, उसी प्रकार 'अग्नि' आदि का रूप भी पार्थिव भाग के संयोग से दब जाने के कारण ही शुक्लरूप से भिन्न रूप में प्रतीत होता है।[2]

इस प्रकार तेज का रूप शुक्ल भास्वर ही होता है। अतः तेज का एक लक्षण 'भास्वर रूपम् तेजः'[3] भी किया गया है तेज को 'नैमित्तिक द्रवत्व' वाला माना गया है।

1- न्यायसिद्धान्त मुक्तावली - करिका - 41

2- न्यायसिद्धान्त मुक्तावली पर कृष्ण बल्लभाचार्यकृत किरणावली टीका करिका - 41

3- बल्लभाचार्यकृत 'न्यायलीलावती' ।

तेज के भेद :

तेज द्रव्य के दो भेद किये गये हैं :- नित्य और अनित्य । इनमें से परमाणुरूप तेज 'नित्य' कहा जाता है और द्वयणुकादिरूप तेज 'अनित्य' कहा जाता है और । यह अवयविरूप अनित्य तेज भी तीन प्रकार का होता है:- शरीर, इन्द्रिय और विषय। अब इनका निरूपण किया जा रहा है :-

तैजस शरीर :

तैजस शरीर का लक्षण है 'उष्णस्पर्शवत् शरीरम् तैजसशरीरम्' अर्थात् जो शरीर समवाय सम्बन्ध से उष्णस्पर्श वाला होता है, वह शरीर तैजस् शरीर कहा जाता है। उष्ण स्पर्श वाले तैजस शरीर सूर्यलोक में हैं तथा ये अयोनिज ही होते हैं।

तैजस इन्द्रिय:

इसका लक्षण है 'उष्णस्पर्शवदिन्द्रियमं तैजसेन्द्रियम्' अर्थात जो इन्द्रिय समवाय सम्बन्ध से उष्णस्पर्श वाला होता है, वह इन्द्रिय 'तैजस् इन्द्रिय' कहलाता है। वह उष्ण स्पर्श वाला तैजस् इन्द्रिय 'चक्षु इन्द्रिय' है।

चक्षु इन्द्रिय के तैजस् होने के प्रमाण :

चक्षुरिन्द्रिय के तैजस् होने को प्रमाणित करते हुये 'मुक्तावलीकार' कहते हैं कि चक्षु के तैजस् होने की सिद्धि इस अनुमान से की जाती है - 'चक्षुस्तैजसं परकीयस्पर्शाधव्यज्जकत्वे सति परकीय रूप व्यज्जकत्वात् प्रदीपवत्' अर्थात् चक्षु तैजस् है, क्योंकि वह दूसरे के स्पर्श आदि का व्यंजक न होते हुये, दूसरे के रूप का व्यंजक है दीप के समान । जैसे :- दीपक, घटादि द्रव्यों के स्पर्शादि का अव्यंजक होता हुआ, उन घटादि के रूप का ही व्यंजक होता है, उसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय भी घटादि द्रव्यों के स्पर्शादि की अभिव्यंजक होती हुई, उन घटादि के रूप की व्यंजक है, अतः चक्षुरिन्द्रिय भी तैजस् ही होगा।

इस अनुमान में 'मन' आदि में व्यभिचार दोष को रोकने के लिये 'परकीय स्पर्श' का प्रयोग तथा आकाशादि में व्यभिचार को रोकने के लिये 'परकीय रूप' ऐसा कहा गया है। प्रदीपरूप दृष्टान्त में उक्त हेतु की अव्याप्ति के निवारण के लिये प्रथम

'परकीय' पद का कथन किया गया है, और घटादि में हेतु के व्यभिचार को रोकने के लिये दूसरे 'परकीय' पद का प्रयोग किया गया है।

तैजस विषयः

इसका लक्षण है, 'उष्णस्पर्शवद् विषयः तैजस् विषयः' अर्थात जो विषय समवाय सम्बन्ध से उष्ण स्पर्शवाला है, वह तैजस विषय कहलाता है।

तैजस विषय के भेद :

तर्कामृत, तर्कसंग्रह, तर्ककौमुदी तथा न्यायसिद्धान्त मुक्तावली आदि ग्रन्थों में तैजस विषय के चार भेद बताये गये हैं :- भौम, दिव्य, औदर्य और आकरज । इनका स्वरूप इस प्रकार है :-

भौम :- पार्थिवमात्रेन्धनं तेजः भौमम्' अर्थात काष्ठादि पार्थिव पदार्थ जिसका ईन्धन है, वह भौमम् अर्थात् भूमिगत तेज है। खद्योतगत तेज भी भौम है।

दिव्यम् :- 'अबिन्धनं तेजः दिव्यम्' अर्थात जिसका ईन्धन जलमात्र है, वह तेज दिव्य कहा जाता है, जैसे :- विद्युत, सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि ।

औदर्य :- 'भुक्ताहार परिणाम हेतुर्जठरानलरूपमुदर्यम्' अथवा 'अन्नजलोभयेन्धनं तेजः औदर्यम्' अर्थात अन्न, जल ये दोनों जिसके ईन्धन हैं, ऐसा तेज औदर्य है, जैसे :- उदरस्थ जठराग्नि ।

आकरज :- 'अनुभयेन्धनं तेजः आकरजम्' अर्थात पृथिवी और जल ये दोनों जिसके ईन्धन हैं, वह तेज 'आकरज' है, जैसे :- सुवर्ण, रजत आदि तेज आकरज हैं।

यही विभाजन 'प्रशस्तपादभाष्य' में भी मिलता है।

किन्तु 'तर्कभाषाकार' ने तैजस् विषय का विभाजन इन सबसे कुछ भिन्न प्रकार से किया है। इन्होंने उद्भूतरूपस्पर्श, अनुद्भूतरूपस्पर्श, अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्श और उद्भूतरूपमनुद्भूत स्पर्श, इस प्रकार से तैजस विषय का विभाजन चार प्रकार से किया है:-

उद्भूतरूपस्पर्श :- जिसमें तेज का भास्वरशुक्लरूप और उष्णस्पर्श दोनों उद्भूत होते हैं, जैसे - सूर्य और अग्नि आदि।

अनुद्भूतरूपस्पर्श :- जिसमें तेज का भास्वरशुक्लरूप तथा उष्णस्पर्श दोनों उद्भूत न हों, यथा-चक्षुरिन्द्रिय ।

अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्श :- जिसमें भास्वरशुक्लरूप उद्भूत न हो, किन्तु उष्णस्पर्श उद्भूत हो, यथा-गर्म जल में रहने वाले अग्नि (तेज) के उष्णस्पर्श का तो अनुभव होता है, किन्तु इसका भास्वरशुक्लरूप उसमें नहीं दिखता ।

उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्श :- अर्थात् जिसका भास्वरशुक्ल रूप उद्भूत हो, किन्तु उष्णस्पर्श उद्भूत न हो, जैसे- दीपक का प्रकाश मण्डल । उसका भास्वरशुक्ल रूप तो दिखता, परन्तु उष्णस्पर्श का अनुभव अधिक दूर से नही होता ।

तैजस् विषय का यही विभाजन वैशेषिक सूत्र की शंकरमिश्र कृत 'उपस्कार' टीका में भी मिलता है।

सुवर्ण में तैजसत्व की सिद्धि

तर्कभाषाकार ने सुवर्ण को 'उद्भूताभिभूतरूपस्पर्श' अर्थात् पूर्वोक्त चार भेदों से भिन्न पांचवा भेद माना है, क्योंकि उसमें तेज का भास्वरशुक्लरूप तथा उष्णस्पर्श पीतरूप तथा अनुष्णाशीत स्पर्श से अभिभूत होता है।

किन्तु 'न्यायकन्दलीकार' ने सुवर्ण का 'अनुद्भूतरूपस्पर्श' कहा है।

अब यहां शंका होती है कि 'सुवर्ण के तैजस्' होने में क्या प्रमाण है? तब इस शंका का समाधान करते हुये 'मुक्तावलिकार' ने 'अनुमान प्रमाण' से 'सुवर्ण' में 'तैजस्' की सिद्धि की है । वह अनुमान इस प्रकार है :- 'सुवर्ण तैजसम् असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगेप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात् यन्नैवम्, तन्नैवम् यथा पृथिवीति।'

तात्पर्य यह है कि सुवर्ण तैजस् है, क्योंकि वह प्रतिबन्ध के न होने पर भी अत्यन्त अग्नि का संयोग होने पर भी नष्ट न होने वाले जन्यद्रवत्व वाला होता है, जो ऐसा नही है, वह तैजस् भी नहीं है, जैसे - पृथिवी ।

कुछ लोग सुवर्ण में तैजसत्व की सिद्धि इस अनुमान से करते हैं :- 'अत्यन्ताग्निसंयोगिपीतिम गुरूत्वाश्रयः विजातीय रूप प्रतिबन्धक द्रवद्रव्यसंयुक्तः अत्यन्ताग्नि संयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीय रूपानधिकरणत्वे सति पृथिवीत्वात् जलमध्यस्थपीतपटवत्'

तात्पर्य यह है कि अत्यन्त अग्नि का संयोग होने पर भी सुवर्ण में स्थित पीतरूप के आश्रय का रूपपूर्ववत् ही रहता है, परिवर्तित नहीं होता है, अतः उसके पूर्वरूप को परिवर्तित होने से रोकने वाला कोई प्रतिबन्धक विजातीय तरल द्रव्य कल्पित किया जाता है और वह विजातीय तरल द्रव्य सुवर्ण ही है अर्थात् उस तरल द्रव्य के पृथिवी और जल से भिन्न होने के कारण, सुवर्ण का तेजस् होना सिद्ध होता है। अब सुवर्ण जल, पृथिवी आदि क्यों नहीं हो सकता, यह बताया जा रहा है :-

सुवर्ण 'पृथिवी' नहीं है, क्योंकि अत्यन्तानल संयोग होने पर भी उसके द्रवयत्व का नाश नहीं होता । सुवर्ण 'जल' नहीं है, क्योंकि यह नैमित्तिक द्रवत्व वाला है, जबकि जल सांसिद्धिक द्रवत्व वाला है।

सुवर्ण 'वायु' आदि भी नहीं क्योंकि वह रूपवान है। अतः 'परिशेषानुमान' से सुवर्ण 'तैजस्' ही सिद्ध होता है ।

'मुक्तावली की कृष्णवल्लभाचार्य कृत किरणावली टीका' में कहा गया है कि सुवर्ण के तैजस् होने में 'श्रुतिप्रमाण' भी है, अर्थात 'अग्नेरपत्यं प्रथमम् हिरण्यम्' इत्यादि भी सुवर्ण की तैजसरूपता को ही सिद्ध करती है।

तर्कसंग्रह की शिवनारायणशास्त्रीकृत 'तारोदय' टीका में सुवर्ण को तैजस् मानने के कारणों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :-

1. सुवर्ण रूपवान है, अतः यह वायु आदि रूपरहित छः द्रव्यों से भिन्न है।

2. सुवर्ण अग्नि का संयोग पाकर द्रवित हो जाता है, अतः यह स्वाभाविक द्रवत्व वाले जल के अन्तर्गत भी नहीं आ सकता ।

3. पार्थिव पदार्थ अग्नि से दग्ध होने लगते हैं, जबकि सुवर्ण अग्नि संयोग से जलता नही है, अतः यह पृथिवी भी नहीं हो सकता ।

4. अतः 'परिशेषानुमान' से यह सिद्ध होता है कि यह 'तेजस्' ही हैं। इस प्रकार सुवर्ण में तैजसत्व की सिद्धि की गई है ।

वायु

वैशेषिक में मान्य चौथा द्रव्य 'वायु' है। अतः अब इसका लक्षण, भेदपूर्वक विवेचन किया जा रहा है :-

लक्षण :- ग्रन्थकारों ने 'वायु' नामक द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार से किया है:-

(1) रूपरहितस्पर्शवान् वायुः या नीरूपस्पर्शवान् मरूत् या अरूपः स्पर्शवान् पवनः या स्पर्शवान् वायुः

(2) अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शवान् वायुः ।

(3) वायुत्वसामान्यवान् वायुः अथवा वायुत्वाभिसम्बन्धवान् वायुः ।

'प्रथम लक्षण' का अर्थ है कि रूपगुण से रहित स्पर्शगुण वाला द्रव्य वायु है। यह वायु रूप गुण से रहित है, तथा स्पर्शगुणवाला भी है, अतः रूपरहितस्पर्शवत् रूप वायु का यह लक्षण सम्भव है ।

'दूसरे लक्षण' का अर्थ है कि 'अपाकजडनुष्णाशीत स्पर्श से युक्त द्रव्य वायु है, जो स्पर्श अग्नि आदि तेज के संयोगरूप से पाक से जन्य नहीं हैं, वह स्पर्श अपाकज कहा जाता है और जो स्पर्श उष्णभाव तथा शीतभाव से रहित है, वह अनुष्णाशीत कहा जाता है, ऐसे अपाकज तथा अनुष्णाशीत वायु में ही रहता है, पृथिवी आदि द्रव्यों में नहीं रहता, अतः अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्शवत्वं रूप वायु का लक्षण सम्भव है।

'तीसरे लक्षण' का अर्थ है कि वायुत्व जाति के अभिसम्बन्ध का जो आश्रय रहे, वह वायु है या जो द्रव्य समवाय सम्बन्ध करके वायुत्व जाति वाला हो, वह द्रव्य वायु कहलाता है।

किन्तु वायुत्वजातिमत्त्वरूप वायु का लक्षण तभी सिद्ध हो सकता है, जब किसी प्रमाण से वायुत्वजाति की सिद्धी हो। वायुत्व जाति की सिद्धि के बिना

'वायु' का लक्षण नहीं किया जा सकता। अतः ग्रन्थकारों ने जिस प्रकार वायुत्व जाति सिद्ध की है। उसका विवेचन किया जा रहा है ।[1]

वायुत्व जाति की सिद्धि

रूपरहित वायु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता अर्थात 'अयं वायुः', अयं वायुः' इस प्रकार की मूकाकार प्रत्यक्ष प्रतीति से वायुत्व जाति की सिद्धि नहीं हो सकती अतः अनुमान प्रमाण से वायुत्व जाति की सिद्धि की जाती है। तात्पर्य यह है कि अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में वायुत्व जाति की सिद्धि की जाती है।

इसकी सिद्धि का अनुमान इस प्रकार है :-

'वायुनिष्ठा या अपाकजानुष्णाशीत स्पर्श समवायिकारणता सा किञ्चिद धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् पटनिष्ठ कार्यतानिरूपित तन्तुनिष्ठ कारणतावत्'

अर्थात वायु में रहने वाली जो अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श की समवायिकारणता है, वह कारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न होने योग्य है, कारणता होने से जो-जो कारणता होती है, वह-वह कारणता किसी धर्म में अवच्छिन्न ही होती है, निरवच्छिन्न कोई भी कारणता नहीं होती, यथा :- तन्तु में रहने वाली, पट की समवायिकारणता, तन्तुत्वरूप धर्म से अवच्छिन्न होती है, वैसे ही वायु की समवायिकारणता भी किसी धर्म से अवश्य अवच्छिन्न होगी, उस कारणता का अवच्छेदक धर्म वायुत्व जाति ही हो सकती है, वायुत्व जाति से भिन्न कोई धर्म उस कारणता का अवच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि जो धर्म, जिस कारणता के समानदेश में रहता है, वही धर्म उस कारणता का अवच्छेदक होता है। उस प्रकार के स्पर्श की समवायिकारणता भी वायुमात्र में ही रहती है, अतः उस कारण के समानदेशवृत्ति होने से वायुत्व जाति ही उस

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 42.

तथा

तर्कामृतम् - 'पृथिव्यादित्रयावृत्तिरयं स्पर्शो द्रव्याश्रितो गुणत्वादित्यनुमानेन द्रव्यान्तरबाधात् स्पर्शाश्रयत्वेन वायुः सिध्यति ।'

कारणता की अवच्छेदक होती है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से वायुत्व जाति की सिद्धि की जाती है ।[1]

किन्तु इस पर यह शंका होती है कि परमाणुओं में वायुत्व जाति की सिद्धि इस अनुमान से कैसे होगी ? तब इसके समाधान स्वरूप यह कहा जाता है कि जिस प्रकार जलत्व जाति की सिद्धि की गयी थी, उसी प्रकार उपरोक्त अनुमान से प्रथम जन्य वायु में उस वायुत्व जाति की सिद्धि करनी चाहिये, फिर जन्यवायुत्वावच्छिन्न जन्य वायु की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में नित्य-अनित्य रूप सर्व वायु में उस वायुत्व जाति की सिद्धि करनी चाहिये ।

इस प्रकार अनुमान प्रमाण से वायुत्व जाति की सिद्धि हो जाने पर वायुत्व जाति घटित 'वायुत्वमिसम्बन्धवान् वायुः' तथा 'वायुत्वजातिमान् वायुः' यह वायु का लक्षण सम्भव है।

वायु के गुण :- वायु के नौ गुण बताये गये हैं :- स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग नामक संस्कार ।

वायु के भेद :- पृथिवी, जल आदि के भांति ही वायु के भी दो भेद माने गये हैं:- नित्य और अनित्य । परमाणु रूप वायु को नित्य वायु और द्वयणुकादि कार्यरूप वायु को अनित्य वायु कहते हैं। यह अनित्य वायु ही अवयवी कही जाती है तथा अवयवी रूप अनित्य वायु भी शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार की होती है :-

वायवीय शरीर :- इसका लक्षण है 'रूपरहित स्पर्शवत् शरीरम् वायवीय शरीरम्' अथवा 'अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शवत् शरीरम् वायवीय शरीरम्' । ऐसा वायवीय शरीर पिशाच आदि का होता है तथा अयोनिज होता है। [2]

---

1. वैशेषिक सूत्रोपास्कर: 2/1/9

2. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 43.

वायवीय इन्द्रिय :- वायवीय इन्द्रिय 'त्वक्' है, जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। त्वगिन्द्रिय का वायवीय होना अनुमान प्रमाण से सिद्ध होती है :- 'त्वक् इन्द्रिय वायवीय होने योग्य है, क्योंकि वह रूप आदि किसी विशेष गुण की व्यञ्जक न होकर केवल स्पर्शमात्र की ही व्यञ्जक है, अतः वह वायवीय है, क्योंकि वायु ही शरीर के पसीने की शीतलता की व्यञ्जक होती है, अतः जो वस्तु केवल स्पर्श की व्यञ्जक हो, वह वायवीय होगी ।

वायवीय इन्द्रिय का लक्षण है :- 'रूपरहित स्पर्शवदिन्द्रियम् वायवीय इन्द्रियम और 'अपाकजाडनुष्णाशीत स्पर्शवदिन्द्रियम् वायवीयेन्द्रियम' ।

वायवीय विषय :- इसका लक्षण है 'रूपरहितस्पर्शवद् विषयः' और 'अपाकजोड-नुष्णाशीतस्पर्शवद् विषयः वायवीय विषयः' अर्थात् रूप से रहित, स्पर्शगुण वाला विषय, वायवीय विषय है, अथवा अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श वाला विषय वायवीय विषय कहलाता है।

प्राणादि से लेकर महावायु तक के विषय को वायु का विषय माना जाता है।[1]

कुछ ग्रन्थकारों ने अनित्य वायु चार प्रकार का माना है।[2] उसका चौथा प्रकार 'प्राणादि' है, किन्तु फिर भी संक्षेप में विभिन्न ग्रन्थों में इसके तीन ही प्रकार माने गये हैं, क्योंकि प्राणादि विषय के अन्तर्गत ही आ सकते हैं। किन्तु फिर भी प्राणादि को महावायु आदि विषयों से पृथक माना गया है। यह प्राणवायु एक ही, किन्तु फिर भी हृदय आदि अनेक स्थानों में रहने के कारण तथा मुख से निकलने आदि अनेक क्रियाओं के कारण प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान, इन पांच नामों

---

1. प्राणादिस्तु महावायु पर्यन्तो विषयोमतः - करिकावली, करिका 44.

2-क तंत्रकार्यलक्षणश्चतुर्विधः शरीरम्, इन्द्रियम, विषय, प्राण इति-प्रशस्तपादभाष्य

2-ख अनित्यश्चतुर्विध-शरीरेन्द्रिय विषयप्राण भेदात् - तर्ककौमुदी

से जाना जाता है।[1] प्राण वायु का लक्षण है - 'शरीरान्तःसञ्चारी वायुः प्राणः' अर्थात् शरीर के अन्दर विचरण करने वाली वायु 'प्राणवायु' है ।

यह चार प्रकार या तीन प्रकार या दो प्रकार के वायु का विभाग तभी सिद्ध हो सकता है, जब किसी प्रमाण से वायु की सिद्धि हो सके। अतः 'न्यायसिद्धान्त मुक्तावलीकार' ने वायु की सिद्धि इस प्रकार की है :-

वायु की सिद्धि

वायु को कुछ लोगों ने स्पर्श के कारण प्रत्यक्ष माना है, किन्तु न्याय-वैशेषिक में केवल रूप वाले द्रव्य का ही प्रत्यक्ष माना जाता है, अतः रूपरहित होने से वायु का प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। वायु का अस्तित्व केवल अनुमान से ही सिद्ध हो सकता है। उसको सिद्ध करने के लिये 'मुक्तावलीकार' ने चार हेतु दिये हैं :-

पहला हेतु 'स्पर्श' है। रूप वाले द्रव्य में न बहने वाला स्पर्श, जिसका हमें त्वचा से अनुभव होता है, किसी द्रव्य में ही आश्रित हो सकता है, पृथिवी आदि के स्पर्श के समान' । वह स्पर्श, पृथिवी, जल और तेज इन रूप वाले द्रव्यों में नहीं हो सकता, अतः किसी रूपरहित द्रव्य में ही होगा, वह रूपरहित द्रव्य वायु ही है, वायु के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य रूपरहित नहीं है, इस प्रकार 'स्पर्श' हेतु से वायु द्रव्य की सिद्धि होती है।

इस प्रकार 'शब्द' हेतु से भी वायु द्रव्य का अनुमान किया जाता है, पत्र-पुष्प आदि में जो शब्द सुनाई पड़ता है, वह किसी रूप वाले द्रव्य के अभिघात के बिना भी होता है। अतः उसका कारण कोई रूपरहित ऐसा द्रव्य होना चाहिये, जो स्पर्श और वेगवाला हो, वह द्रव्य 'वायु' ही हो सकता है, क्योंकि यह रूपरहित और स्पर्शवाला है। इस प्रकार 'शब्द' से वायु द्रव्य का अनुमान होता है।

1-क हृदि प्राणो, गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ।" - अमर कोष

1-ख प्रशस्तपादभाष्य - पृष्ठ 19.

तीसरा हेतु 'धृति' है। इससे भी वायु का अनुमान किया जाता है। आकाश में तिनके आदि धारण किये हुये दिखायी देते हैं, अतः उनका धारण करने वाला कोई होना चाहिये, उनका धारण करने वाला, कोई रूपवान द्रव्य तो दिखायी नही देता, अतः सिद्ध होता है कि उन्हें धारण करने वाला कोई रूपरहित तथा स्पर्शवाला और वेग वाला द्रव्य होगा, वह द्रव्य 'वायु' ही सिद्ध होता है। इस प्रकार 'धृति' से वायु का अनुमान किया जाता है।

वायु की सिद्धि का चौथा हेतु 'कम्पन' है। बिना किसी रूप वाले द्रव्य के अभिघात से तृण, शाखा आदि में जो कम्पन रूप क्रिया होती है, वह भी किसी रूपरहित स्पर्शवाला और वेग वाले द्रव्य के अभिघात से उत्पन्न होती है, अतः रूपरहित, स्पर्शवाला और वेगवाला 'वायु' 'द्रव्य', 'कम्पन' हेतु से सिद्ध होता है।

वैशेषिक सूत्र 2/1/9 और प्रशस्तपादभाष्य |पृष्ठ 27 में भी वायु की सिद्धि के लिये इन्हीं चार हेतुओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

वायु की सिद्धि 'आगम प्रमाण' से भी होती है - यथा 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता आदि श्रुतियाँ भी वायु को पृथक द्रव्य सिद्ध करती हैं।[2]

किन्तु वायु की सिद्धि के विषय में प्राचीन नैयायिक तथा नवीन नैयायिकों में मतभेद हैं ।[3]

प्राचीन नैयायिक :- ये मानते हैं कि जिस द्रव्य में रूप रहता है और स्पर्श भी रहता है, उसी का प्रत्यक्ष होता है, वायु रूप रहित स्पर्शवाला है, अतः उसका प्रत्यक्ष नही होता। ये बहिरिन्द्रिय से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'उद्भूतरूप' को कारण मानते हैं, अतः वायु को अनुमेय कहते हैं, तथा स्पर्श शब्द, धृति और कम्प को हेतु मानते हैं। इनका कहना है कि वायु के स्पर्श कातो प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता ।

---

1. वायुर्हि स्पर्शशब्द धृतिकम्पैरनुमीयते विजातीयस्पर्शेन, विलक्षण शब्देन, तृणादीनां धृत्या शाखादीनां कम्पेन च वायोरनुमानात् । - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ।
2. वैशेषिक सूत्र 2/1/17 'तस्मादागमिकम्' ।
3. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - करिका - 56

नवीन नैयायिक :- ये बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष के प्रति रूप को कारण नही मानते, बल्कि स्पार्शन प्रत्यक्ष में 'स्पर्श' को कारण मानते हैं, इनका कहना है कि यदि रूप के न होने से वायु का प्रत्यक्ष न माना जाये तो स्पर्श के न होने से प्रभा का भी प्रत्यक्ष नहीं मानना चाहिये, किन्तु प्रभा का प्रत्यक्ष तो सभी मानते हैं, अत: रूपरहित वायु का भी प्रत्यक्ष मानना चाहिये, क्योंकि वायु तथा प्रभा दोनों में ही संख्या का ग्रहण होता है।[1]

किन्तु वैशेषिक सूत्र की 'उपस्कार' टीका में भी वायु का प्रत्यक्ष स्वीकार नही किया गया है,[2] अतः 'मुक्तावलीकार' ने भी वायु का प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं किया है।

स्पर्श, शब्द, धृति और कम्प जो वायु के 'लिंग' हैं वे वायु के अप्रत्यक्ष लिंग है। इसी अप्रत्यक्ष व्याप्तिज्ञान वाले स्पर्शादि लिंग से वायु की सिद्धि होती है।

वायु को द्रव्य इसलिये भी माना जाता है क्योंकि वह क्रिया तथा गुण का आधार है। इस प्रकार 'वायु' द्रव्य की सिद्धि हो जाने पर उसके विभाग आदि की स्वतः सिद्धि हो जाती है।

स्थल भूतों की उत्पत्ति का क्रम :- पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्यों के विवेचन के बाद, अब उनके उत्पत्ति और विनाश का क्रम बताया जा रहा है -

'तर्कामृतकार' तथा 'तर्कभाषाकार' 'केशवमिश्र' ने इनके 'उत्पत्ति का क्रम' इस प्रकार बताया है :-

न्याय और वैशेषिक के मत में सबसे सूक्ष्म और नित्य प्राकृतिक तत्व परमाणु है। इन परमाणुओं से ही इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है, अतः इन परमाणुओं से स्थूल जगत की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, यह बताया जा रहा है:-

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पर 'किरणावली टीका' - 56 वी कारिका ।
2. वैशेषिक सूत्रोपस्कारः- 2/1/9, 'वायुर्नप्रत्यक्षः नीरूपपबहिर्द्रव्यत्वात् गमनवदित्यनुमानादतीन्द्रियत्वस्यैव सिद्धेः' ।

दो परमाणुओं में परमात्मा के संकल्प और प्राणियों के अदृष्ट के कारण होने वाली क्रिया से संयोग होने पर दो परमाणुओं से मिलकर 'द्वयणुक' उत्पन्न होता है, दोनों परमाणु, द्वयणुक के समवायिकारण तथा उनका संयोग असमवायिकारण तथा अदृष्टादि निमित्त कारण होते हैं। उसके बाद तीन द्वयणुकों से त्रयणुक की उत्पत्ति होती है, फिर चार त्रयणुकों से चतुरणुक तथा चतुरणकों से अन्य स्थूलतर और स्थूलतर से स्थूलतम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार स्थूल पृथिवी, स्थूल जल, स्थूल तेज और स्थूल (महान) वायु उत्पन्न होता है। 'कार्य पृथिवी आदि में रहने वाले 'रूप' आदि गुण अपने रूपादि के आश्रयभूत द्वयणुकादि के समवायिकारण परमाणु आदि में रहने वाले रूपादि गुणों से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' यह नियम है।

कार्य द्रव्यों का विनाश-क्रम :- कार्य का विनाश दो प्रकार से होता है - समवायिकारण के नाश से और असमवायिकारण के नाश से ।[1]

उत्पन्न हुये रूपादियुक्त कार्यद्रव्य घटादि के अवयवरूप जो कपालादि हैं, उनमें नोदन अथवा अभिघात से क्रिया उत्पन्न होती है, उससे संयुक्त कापालादि अवयवों में विभाग उत्पन्न होता है, उस विभाग से अवयवी घटादि के असमवायिकारण जो संयोग है, उसका नाश होता है, उससे कार्यद्रव्य घटादि का नाश होता है। इस उदाहरण में घटादि के असमावयिकारण के नाश से, द्रव्य का नाश होता है, यह बताया गया है।

कहीं-कहीं समवायिकारण के नाश होने से भी द्रव्य का नाश होता है, जैसे पृथिवी आदि के नाश में ही नाश की इच्छा करने वाले परमात्मा में संहार की इच्छा उत्पन्न होती है, उसके द्वयणुकों को उत्पन्न करने वाले परमाणुओं में क्रिया होती है, उसमें विभाग होता है, उसके बाद उन दोनों परमाणुओं के संयोग का नाश हो जाने पर द्वयणुकों का नाश हो जाता है, द्वयणुकों का नाश होने पर, त्रयणुकों

---

1. तर्कामृतम् तथा तर्कभाषा ।

का नाश होता है, त्र्यणुकों के नाश से चतुरणुकों का नाश होता है, इस प्रकार क्रम से स्थूल पृथिवी, जल, तेज और वायु का नाश होता है।

फिर उन त्र्यणुकादि में रहने वाले रूपादि गुणों का, अपने समवायिकारण के नाश से ही नाश होता है।

इस प्रकार संक्षेप में न्याय-वैशेषिक की सृष्टि-प्रक्रिया और संहार-प्रक्रिया का विवेचन किया गया है।

आकाश

पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार कार्यद्रव्यों के विवेचन के पश्चात् अब पांचवे द्रव्य 'आकाश' का लक्षण, भेदपूर्वक विवेचन किया जा रहा है:-

लक्षण :- तर्कभाषाकार तथा तर्कसंग्रहकार ने 'आकाश' का लक्षण 'शब्दगुणम् आकाशम्' तथा तार्किकरक्षाकार, तर्ककौमुदीकार तथा न्यायसिद्धान्त मुक्तावलीकार ने 'आकाश' का लक्षंण क्रमशः 'नभःशब्दगुणम् आकाशम्', 'शब्दसमवायिकारणम् आकाशः' तथा 'शब्दाश्रयत्वं आकाशत्वं' किया है।

यदि उपरोक्त लक्षणों का गहन अध्ययन किया जाये तो यह ज्ञात होगा कि सभी ग्रन्थकारों नें आकाश का लक्षण भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है, किन्तु सभी लक्षणों का तात्पर्य एक ही है कि शब्द गुण जिस द्रव्य का समवायिकारण है, वह द्रव्य 'आकाश' कहलाता है।

किन्तु 'सर्वदर्शनसंग्रहकार'[1] ने इन लक्षणों से भिन्न शब्दों में आकाश का लक्षण किया है 'संयोगाजन्यजन्यविशेषगुणासमानाधिकरण विशेषाधिकरणम्' अर्थात आकाश एक विशेष गुण का आश्रय है, वह गुण जन्य है, किन्तु संयोगजन्य नहीं। इस लक्षण की यदि व्याख्या करें तो अन्ततः यही निष्कर्ष निकलता है। कि 'आकाश शब्द गुण वाला है' इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आकाश के लक्षण के विषय में ग्रन्थकारों में कोई भी मतभेद नहीं है।

---

1. सर्वदर्शन संग्रह-पृष्ठ 219.

किन्तु एक समस्या यह उत्पन्न होती है कि 'आकाश' का यह लक्षण तभी घटित हो सकता है, जब शब्द गुण की आकाश में ही सिद्धि की जाये, इसका तात्पर्य यह है कि जब तक यह सिद्ध न हो जाये कि शब्द, आकाश का ही गुण है, आकाश के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य का गुण शब्द नहीं है, तब तक यह लक्षण घटित होना सम्भव नही है, तथा शब्द को भी आकाश का गुण तभी सिद्ध किया जा सकता है, जबकि शब्द का गुणत्व सिद्ध हो। दूसरी बात यह भी है कि ग्रन्थकारों ने शब्द को विशेष गुण को माना है, अतः इसके विशेष गुणत्व की सिद्धि करना अनिवार्य है।

ग्रन्थकारों ने शब्द के गुणत्व की सिद्धि 'अनुमान प्रमाण' से की है। वह अनुमान इस प्रकार है :- 'शब्द विशेष गुण है, क्योंकि चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य और बाह्येन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य जाति वाला है, इस प्रकार की जाति वाला विशेष गुण ही हो सकता है, यथा - 'गन्ध तथा स्पर्श आदि भी चक्षु से ग्रहण करने अयोग्य तथा बाह्येन्द्रिय से ग्रहण होने से गन्धत्व तथा स्पर्शत्व जाति वाले हैं और विशेषगुण भी है, शब्द भी उसी प्रकार चक्षु के ग्रहण करने के अयोग्य तथा बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य होने से शब्दत्व जाति वाला है, अतः सिद्ध होता है कि, वह विशेष गुण है।[1]

इस प्रकार शब्द के गुणत्व का सिद्धि हो जाने पर विभिन्न ग्रन्थकारों ने 'शब्द गुण की आकाश से सिद्धि' 'परिशेषानुमान' से इस प्रकार की है :-

'पृथिवी, जल, तेजस्, वायु का गुण शब्द नहीं हो सकता, क्योंकि जो पाकज न हो, फिर भी जो अकारणगुण-पूर्वक हो, तथा जिसका प्रत्यक्ष भी सिद्ध होता हो, वह विशेष गुण (शब्द) पृथिवी आदि स्पर्श गुणवाले द्रव्यों का नही हो सकता, क्योंकि पृथिवी आदि स्पर्श गुण वाले द्रव्य या तो पाकज होते हैं, या कारणगुणपूर्वक होते

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-कारिका-44 तथा 'तर्कसंग्रह' पर न्यायबोधिनी टीका अत्र गुणादम् आकाश, शब्द एवं विशेषगुणः' तथा 'शब्दगुणकम् इत्यत्र शब्दवद् इति वक्तव्ये तथा कथनम्' आकाशे शब्द एवं विशेषगुणः इतिसूचनाय' - तर्कसंग्रह पर नीलकण्ठ दीक्षित की 'प्रकाश' टीका ।

हैं तथा उनका प्रत्यक्ष भी नही होता। अतः यह शब्द गुण पृथिवी आदि चार द्रव्यों का नही हो सकता । दिक्, काल और मन का भी नही हो सकता, क्योंकि शब्द विशेष गुण है और दिक् आदि में कोई विशेष गुण नहीं रहता। शब्द, आत्मा का भी गुण नहीं हो सकता, क्योंकि वह बाह्येन्द्रिय अर्थात श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य है।

अतः परिशेषानुमान से शब्द का आश्रय आठो द्रव्यों के न हो सकने के कारण शेष बचा हुआ अर्थात् 'आकाश' ही सिद्ध होता है।

किन्तु फिर भी एक शंका यह हो सकती है कि यदि शब्द को कारणगुणपूर्वक मान लिया जाये तथा यह कल्पना की जाये कि सूक्ष्मशब्द, वायु के अवयवों में उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् उन अवयवों में रहने वाला शब्दगुण स्थूल वायु में आता है, अतः शब्द कारण गुणपूर्वक होता है तथा वह वायु का गुण है, अतः उपरोक्त अनुमान दोषयुक्त है, तो यह कथन उचित नहीं हैं, क्योंकि इसका समाधान करते हुये 'मुक्तावलीकार'[1] ने कहा है कि, वायु के गुण 'यावद्द्रव्यभावी' अर्थात सम्पूर्ण द्रव्यों में रहने वाले होते हैं, जबकि 'शब्द' गुण 'अयावद्द्रव्यभावी' अर्थात एक ही द्रव्य में रहने वाला होता है, अतः वह वायु का गुण नहीं हो सकता। इस प्रकार यह सिद्ध होता है शब्द, आकाश का ही गुण है, और उसी में समवाय सम्बन्ध से रहता है वैशेषिक-सूत्रकार[2] ने भी परिशेषानुमान से ही शब्द की आकाश में सिद्धि की है।

इस प्रकार शब्द गुण की आकाश में सिद्धि हो जाने पर ग्रन्थकारों द्वारा किया गया, आकाश का लक्षण भी घटित हो जाता है।

आकाश की सिद्धि :- किसी भी वस्तु की सिद्धि, लक्षण तथा प्रमाण द्वारा होती है, आकाश का लक्षण तो किया जा चुका है, अब आकाश की सिद्धि प्रमाण द्वारा की जा रही है -

आकाश की सिद्धि किस प्रमाण से होगी, यह शंका उठना स्वाभाविक ही है, तो इसके समाधान स्वरूप ग्रन्थकारों, 'अनुमान प्रमाण' से आकाश की सिद्धि की है ।

1: न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका - 44 ।

2. 'परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य' - वैशेषिक सूत्र - 2/1/27

आकाश की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें उद्भूत रूप और उद्भूत स्पर्श नहीं होता, अतः इसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से की जाती है। वह अनुमान इस प्रकार है :- **'शब्दः पृथिव्याद्यष्ट द्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः** अदृष्टद्रव्या- नाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्वात् यन्नेव तन्नेव यथारूपम्' अर्थात शब्द गुण, पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न, किसी द्रव्य में आश्रित होने योग्य है और वह द्रव्य आकाश ही है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से आकाश की सत्ता सिद्ध होती है।

वैशेषिक सूत्र[1] में 'निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाश लिंगमिति' इस सूत्र द्वारा निष्क्रमण और प्रवेशन को आकाश की सत्ता में साधक हेतु माना है, किन्तु यह सांख्य का मत है, सूत्रकार ने तो 'तदलिंगमेकद्रव्यत्वात् कर्मणाः' इस सूत्र द्वारा खण्डन किया है। उनके मत मे भी शब्द गुण के आश्रय के रूप में आकाश द्रव्य की सिद्धि होती है। आकाश में सामान्य तथा विशेष दोनों के गुण रहते हैं, अतः आकाश में द्रव्यत्व जाति सिद्ध होती है, किन्तु पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में भिन्न आकाश द्रव्य भी केवल उसके शब्द नामक विशेष गुण से सिद्ध होता है अतः शब्द ही आकाश का लिंग है।

आकाश के गुण :- 'शब्द' तो आकाश का विशेष गुण है, किन्तु आकाश में कुछ समान्य गुण भी रहते हैं, जो इस प्रकार हैं:- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग। इन सामान्य गुणों में से संख्या, परिमाण और पृथक्त्व ये तीन नित्य है, तथा संयोग और विभाग ये अनित्य हैं, इस प्रकार आकाश में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग और शब्द ये 6 गुण रहते हैं।

आकाश एक, नित्य और विभु है :- आकाश-पृथिवी, जलादि द्रव्यों के समान नाना रूप वाला नही है, किन्तु वह 'एक' ही है। उसके अनेकत्व के विषय में कोई प्रमाण नहीं है और आकाश मे घटाकाश, मठाकाश इस प्रकार के जो आकाश के भेदों की प्रतीति होती है, वह औपाधिक है और घट और मठ रूप उपाधि के कारण ही होती

---

1. वैशेषिक सूत्र - 2/1/20

है । वास्तव में तो आकाश 'एक' ही है। आकाश के एक होने से, आकाश का जो 'आकाशत्व' है, वह जाति नहीं है, क्योंकि 'उदयनाचार्य'[1] ने एक में रहने वाली को 'जाति' नहीं माना है। अतः यह शंका होती है कि 'आकाशत्व' जाति नहीं तो फिर इसे क्या माना जाये ? तब इसके समाधानस्वरूप कहा जाता है कि 'शब्द गुण का आश्रय होना ही 'आकाशत्व' है।

आकाश को सर्वव्यापक होने के कारण 'विभु' माना गया है और विभु होने के कारण ही वह 'नित्य' भी है। आकाश के विभुत्व और नित्यत्व के विषय में 'श्रुति प्रमाण' भी है, यथा 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' यह श्रुति कहती है कि आत्मा, आकाश के समान ही सभी मूर्त द्रव्यों से युक्त और नित्य है।

<u>आकाश इन्द्रिय</u> :- न्यायसिद्धान्त मुक्तावली तथा तर्कभाषा आदि ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि पृथिवी आदि द्रव्यों के भांति, आकाश के शरीर और विषय नहीं है, किन्तु 'इन्द्रिय' है, और वह इन्द्रिय 'श्रोत्रेन्द्रिय' है।[1] श्रोत्रेन्द्रिय को ही आकाश का इन्द्रिय इसलिये माना गया है, क्योंकि 'शब्द' आकाश का गुण है और शब्द का ग्रहण चक्षु आदि अन्य इन्द्रियों से नही हो सकता, उसका ग्रहण तो एक मात्र 'श्रोत्र' के द्वारा ही होता है, जो लोक में प्रत्यक्ष सिद्ध भी है, अर्थात सभी जानते हैं कि हम शब्द को कान से ही सुनते हैं, अन्य इन्द्रियों से नहीं, अतः श्रोत्रेन्द्रिय ही आकाश की इन्द्रिय मानी गयी है।

काल

वैशेषिक दर्शन की द्रव्य-गणना में 'काल' षष्ठ द्रव्य है अतः आकाश द्रव्य के बाद, क्रम प्राप्त 'काल' द्रव्य का विवेचन किया जा रहा है :-

<u>लक्षण</u> :- किसी भी पदार्थ की सिद्धि, उसके लक्षण तथा प्रमाण के बिना नहीं हो सकती, अतः सर्वप्रथम 'काल' द्रव्य का 'लक्षण' किया जा रहा है। विभिन्न ग्रन्थकारों ने इसका लक्षण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है :-

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 45. 'इन्द्रियं तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः'

'तर्ककौमुदीकार' ने 'ज्येष्ठत्व कनिष्ठत्व ज्ञानाधीन परत्वा परत्वानुमेयः कालः' 'तर्कसंग्रहकार' ने 'अतीतादि व्यवहार हेतुः कालः 'तर्कभाषाकार' ने 'कालोऽपि दिग् विपरीत परत्वापरत्वानुमेयः', 'तार्किकरक्षाकार' ने 'कालश्चिरादि व्यवहारकृत', 'मुक्तावलीकार' ने भी 'परत्वापरत्व धी हेतुः' इस प्रकार का काल का लक्षण है।

उपरोक्त लक्षणों से यह स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकारों ने काल का लक्षण दो प्रकार से किया है :-

'अतीत आदि व्यवहार का हेतु काल कहलाता है, 'तथा ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व ज्ञान के अधीन दिग्विपरीत परत्व और अपरत्व आदि के असमवायिकारण के संयोग का आश्रयरूप काल है।

अब शंका यह होती है कि अतीत, भविष्यत् और वर्तमान इस प्रकार के व्यवहार का हेतु 'काल' कहलाता है, इसमें जो हेतु शब्द है, उससे समवायिकारण, असमवायिकारण, अथवा निमित्त कारण में से किस कारण का ग्रहण करना चाहिये, 'यदि समवायिकारण का ग्रहण किया जाये तो 'शब्द' का नाम व्यवहार है' इस पक्ष में शब्द के समवायिकारण रूप आकाश में काल के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।[1] इसी प्रकार यदि असमवायिकारण का ग्रहण करें तो 'शब्द का नाम व्यवहार है' इस पक्ष में कंठ, तालु आदि के साथ जो आकाश का संयोग है, वही संयोग का असमवायिकारण है, अतः उस संयोग के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। इसी प्रकार यदि निमित्तकारण का ग्रहण करें, जिस प्रकार काल, अतीत आदि व्यवहार का निमित्तकारण है, अतः ईश्वर अदृष्ट आदि भी उस व्यवहार के निमित्तकारण है, अतः ईश्वर आदि में भी लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । इस अतिव्याप्ति के निवारण के लिये ही टीकाकारों ने हेतु शब्द से असाधारण निमित्तकारण का ग्रहण किया है।

---

1. तर्कसंग्रह - न्यायबोधिनी टीका:- 'ननु इदम् लक्षणमाकाशे अतिव्याप्तं, व्यवहारस्य शब्दात्मकत्वादिति चेत् । न अत्र हेतुपदेन निमित्तहेतोर्विवक्षितत्वात् । न चैव कण्ठताल्वाद्यभिघाते इति व्याप्तिरिति वाच्यम्।'

उन अतीत आदि व्यवहारों का असाधारण निमित्तकारण केवल काल ही है, अन्य पदार्थ नहीं, अतः 'अतीतादि व्यवहार हेतुः कालः' यह लक्षण उचित ही है।

विश्वनाथ ने काल का लक्षण भिन्न प्रकार से किया है, वह यह है कि:-

'जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रतो मतः ।

परत्वापरत्व धी हेतुः क्षणादि स्यादुपाधितः ।'[1]

इसे संक्षेप में इस रूप में भी कहा जा सकता है कि 'परापर व्यतिकर, यौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्यय कारणम् द्रव्यं कालः' अर्थात जिसके द्वारा पर, अपर, अथवा यौगपद्य अथवा चिर और क्षिप्रता का ज्ञान होता है, वह द्रव्य काल कहा जाता है।[2] किन्तु परत्व और अपरत्व से दिशा का भी अनुमान किया जाता है, अतः उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, इसलिये 'तर्कभाषाकार' ने 'दिग् विपरीत परत्वा परत्वानुमेयः' ऐसा कहा है।

काल की सिद्धि :- लक्षण से काल की सिद्धि होने के पश्चात अब प्रमाण द्वारा काल की सिद्धि ग्रन्थों में जिस प्रकार की गई है, उसका विवेचन अब किया जा रहा है। काल की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकती, क्योंकि काल में उद्भूत रूप तथा उद्भूत स्पर्श का अभाव है, अतः मुक्तावलीकार तथा तर्कामृतकार आदि ने इसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण द्वारा की है :- यथा कनिष्ठ भ्राता की अपेक्षा ज्येष्ठ भ्राता में 'अयं परः' इस प्रकार की परत्व बुद्धि होती है, तथा ज्येष्ठ भ्राता की अपेक्षा कनिष्ठ भ्राता में 'अयं अपरः' इस प्रकार की अपरत्व बुद्धि होती है, वह परत्व, अपरत्व बुद्धि यथाक्रम से ज्येष्ठ और कनिष्ठ से सम्बन्धित कालिक परत्व और अपरत्व को ही ग्रहण करती है। अतः 'अयं परः, अयं अपरः' इस प्रकार की प्रत्यक्ष प्रतीति के बल से कालिक परत्व और अपरत्व को स्वीकार किया जाता है, अतः इस अनुमान से काल की सत्ता सिद्ध होती है।

---

1. तर्क संग्रह - किरणावली टीका - 'कालःलक्ष्यः विभुत्वेसति अतीतादि व्यवहारा । असाधारण निमित्त हेतुत्वमिति लक्षणम्। ईश्वरवारणाय असाधारणेति ।।'
2. भाषा परिच्छेद - कारिका 45, 46.

इसके अतिरिक्त मुक्तावलिकार, तर्कामृतकार, वैशेषिक सूत्र के उपस्कार टीकाकार ने काल की सिद्धि इस प्रकार से की है :- 'सूर्य की बहुत क्रियाओं के विशिष्ट पिण्ड के ज्ञान से कालिक अपरत्व और उत्पत्ति होती है और सूर्य की अल्पक्रियाओं के विशिष्ट पिण्ड के ज्ञान से कालिक अपरत्व की उत्पत्ति होती है, तात्पर्य यह है कि यह पिण्ड, इस पिण्ड की अपेक्षा अधिक सूर्य की गति वाला है, इस प्रकार के विशिष्ट ज्ञान से पिण्ड में कालिक परत्व की उत्पत्ति होती है और यह पिण्ड, इस पिण्ड की अपेक्षा सूर्य की अल्प क्रियाओं वाला है, इस विशिष्ट ज्ञान से पिण्ड में कालिक अपरत्व की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार उपरोक्त अनुमान से काल की सिद्धि होती है।

'तर्कामृतकार' ने इस अनुमान का स्वरूप इस प्रकार बताया है:-

'तद्विशिष्टज्ञानं विशेषण विशेष्योभयसम्बन्ध घटक सापेक्षं साक्षात्सम्बन्धाभावे सति विशिष्टज्ञानात्वात् लोहितस्फटिक इति प्रत्ययवत्'

कुछ टीकाकारों ने काल की सिद्धि में 'श्रुति प्रमाण' भी बताया है, यथा 'कलनात्सर्वभूतानां स कालः परिकीर्त्तितः' इस 'श्रुति' तथा 'कालः' कलयतामहम्' इस स्मृति से भी काल की सत्ता सिद्ध होती है।

काल के गुण :- काल के पाँच गुण बताये गये हैं :- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ।

काल एक, विभु और नित्य है :- पांच गुण वाला काल नामक द्रव्य, आकाश के ही भांति एक, विभु और नित्य है। काल को अनेक मानने में गौरव दोष की प्राप्ति होती है, अतः लाघव की दृष्टि से काल को एक ही माना जाता है, दूसरी बात यह भी है कि काल के अनेक प्रकारत्व में कोई प्रमाण भी नहीं है। किन्तु शंका यह होती है कि काल को एक किस प्रकार माना जाये, क्योंकि क्षण, दिन, अतीत, वर्तमान आदि का व्यवहार होता है ? तब इसके समाधान में यह कहा जाता है कि क्षणादि व्यवहार उपाधि के कारण ही होता है, वास्तव मे तोकाल 'एक' ही है।

जैसे :- वास्तव में भेद से रहित एक ही पुरूष पाक, पाठ इत्यादि क्रियारूप उपाधि के भेद से पाचक, पाठक इत्यादि विभिन्न संज्ञाओं को प्राप्त करता है, उसी प्रकार भेद से रहित एक ही काल, उपाधि के भेद से अतीतादि रूप विभिन्न संज्ञाओं को प्राप्त होता है।[1] इस स्थल पर उपाधि के विषय में प्राचीन नैयायिक तथा नवीन नैयायिक में मतभेद है :- प्राचीन नैयायिक सूर्यादि की क्रियाओं को ही काल की उपाधि मानते हैं, जबकि नवीन नैयायिक जन्यवस्तुमात्र को ही उस काल की उपाधि मानते हैं, यही 'मुक्तावलीकार' का मत है।

काल को विभु इसलिये मानते हैं कि काल का कार्यरूप जो कालिक परत्व और अपरत्व है, उस परत्व और अपरत्व रूप कार्य की सर्वत्र प्रतीति होती है और कार्य की उत्पत्ति कारण के बिना नहीं हो सकती, यह न्याय का सिद्धान्त है, अतः जहाँ-जहाँ परत्व-अपरत्व की प्रतीति होगी, वहां वहां हमें काल का संयोग स्वीकार करना पड़ेगा, यह सर्वत्र संयोग काल को 'विभु' माने बिना संभव नही है, अतः काल को 'विभु' माना गया है।

इस प्रकार काल के विभुत्व की सिद्धि हो जाने पर उसका 'नित्यत्व' भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि जो द्रव्य विभु होता है, वह नित्य अवश्य ही होता है, यथा :- विभु होने से आत्मा नित्य है, उसी प्रकार विभु होने से काल भी नित्य है।

काल जगत के आधार है :- विश्व[2] नाथ[3] में अपनी कारिकावली तथा मुक्तावली में काल को सम्पूर्ण जगत का आश्रय बताया है। काल के जगत् की आधारता के विषय में प्रमाण इस प्रकार हैं :- 'इदानीं घंटः' यह प्रतीति सूर्य की गति आदि को विषय बनाती है, यह स्पष्ट होता है। वह सम्बन्ध संयोग आदि नही हो सकता, अतः 'काल' को उस सम्बन्ध को बताने वाला माना गया है। तात्पर्य यह है कि 'काल' जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों का आश्रय है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध में यह ज्ञान होता है कि वह 'इस काल में है' यह 'इदानीं घटो' इस दृष्टान्त से स्पष्ट ही है, इस प्रकार काल की जगत आधारता सिद्ध होती है।

---

1. तर्कभाषा प्रकाशिका - चिन्नमभट्ट कृत, पृष्ठ 227
2. कारिकावली - कारिका 45,
3. कारिकावली - कारिका 45,

काल के उपाधिरूप जो अतीत, वर्तमान और भविष्यत्काल, भेद बताये गये हैं, उनका लक्षण 'तर्ककौमुदीकार' ने अपने ग्रन्थ 'तर्क कौमुदी' में इस प्रकार बताया है :-

'तद्व्यक्तिध्वंसविशिष्टः कालस्तद्व्यक्तेरतीतकालः । तद्व्यक्ति प्रागभाव विशिष्टः कालस्तद्व्यक्तेरनागतकाल ! तद्व्यक्तिध्वंस प्रागभावानवच्छिन्नः कालस्तद्व्यक्तेर्वर्तमान कालः'

दिशा

वैशेषिक दर्शन की द्रव्य गणना में 'दिक्' अर्थात् दिशा 'सातवाँ' द्रव्य है। अतः 'काल' द्रव्य के पश्चात् अब क्रम प्राप्त 'दिक्' द्रव्य का विवेचन किया जा रहा है :-

लक्षण :- 'तर्ककौमुदीकार' ने इसका लक्षण 'दूरत्वसन्निहितत्व ज्ञानाधीनपरत्वानुमेया दिक्', 'तार्किकरक्षाकार' ने 'दिशापूर्वादि धी हेतुः', 'तर्कसंग्रहकार' ने 'प्राच्यादि व्यवहार हेतु दिक', 'तर्कभाषाकार' ने 'कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक्' तथा 'कारिकावलिकार' ने 'दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते' ऐसा लक्षण किया है।

इस प्रकार उपरोक्त लक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'दिक्' कालक्षण तीन प्रकार से किया गया है :-

'प्राच्यादिव्यवहार हेतुः दिक्, दूरान्तिकादि धी हेतु दिक्, तथा काल विपरीत परत्वापरत्वानुमेया दिक्'

इन लक्षणों का अभिप्राय यह है कि यह प्राची है, यह अवाची है, यह प्रतीची है, यह उदीची है, इस प्रकार का शब्दरूप व्यवहार तथा ज्ञानरूप व्यवहार सभी लोकों को होता है, इन सभी व्यवहारों का जो हेतु होता है, वह दिशा कही जाती है।

इसी प्रकार दूरत्व और अन्तिकत्व को विषय करने वाली यह दूर है और यह समीप है, इस प्रकार की जो बुद्धि है, उस बुद्धि का जो द्रव्य असाधारण निमित्तकारण

है, वह द्रव्य 'दिशा' है, तथा काल विपरीत परत्व तथा अपरत्व से जिसका अनुमान किया जाता है, वह 'दिशा' है ।

दिशा के गुण :- काल की भांति, दिशा में भी पांच गुण रहते हैं :- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ।

दिशा एक, विभु और नित्य है :- यह दिशा पूर्वोक्त आकाश और काल के समान ही एक, विभु और नित्य है। इस दिशा को यदि अनेक माना जाये तो गौरवदोष की प्राप्ति होती है, और इस दिशा की अनेकता के विषय में कोई प्रमाण भी नही है, अतः दिशा 'एक' ही है।

यह मूर्तद्रव्य दूर है, यह मूर्तद्रव्य पास है, इस प्रकार की प्रतीति सभी देशों में स्थित प्राणियों को होती है, यह प्रतीति उन मूर्तद्रव्यों में स्थित दैशिक परत्व और अपरत्व को ही विषय करती है। अतः इस प्रतीति के बल से सभी देशों में स्थित सभी मूर्त द्रव्यों के विषय में वह परत्व-अपरत्व स्वीकार करना चाहिये और कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, यह नियम है, अतः जिस-जिस मूर्तद्रव्य के विषय में यह परत्व-अपरत्व प्रतीत होता है उस-उस मूर्तद्रव्य के साथ, उस दिशा का संयोग संबंध अवश्य स्वीकार करना चाहिये। उस दिशा का संयोग ही उस परत्व, अपरत्व का असमवायिकारण है और उन सभी मूर्तद्रव्यों के साथ उस एक दिशा का संयोग संबंध तभी संभव है, जब सर्वत्र उस दिशा का उन सभी मूर्त द्रव्यों के साथ संयोग संभव नही, अतः उस दिशाको सर्वत्र व्यापक अर्थात ' विभु ' माना जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त युक्ति से 'दिशा' का 'विभु' होना सिद्ध होता है और जो-जो द्रव्य 'विभु' होता है, वह नित्य ही होता है, अतः विभु होने से दिशा 'नित्य' भी है।

इस प्रकार दिशा एक, विभु और नित्य है, यह सिद्ध हुआ ।

इसके अतिरिक्त 'काल' की भांति ही, 'दिशा' भी 'सर्वजगत् का आधार है' क्योंकि 'दिक्' निखिलपदार्थवती' इस प्रकार की प्रतीति सभी लोकों को होती है, यही दिशा की सर्वाधारता के विषय में प्रमाण है। इसके साथ ही साथ दिशा, कार्यमात्र के प्रति निमित्तकारण भी है।

आत्मा

वैशेषिक दर्शन की द्रव्यगणना में 'आत्मा' आठवाँ द्रव्य है। इसका लक्षण 'आत्मत्वसामान्यवान् आत्मा' किया गया है। इसके संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार, ये चौदह गुण माने गये हैं। इसके दो भेद बताये गये हैं - जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा, प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न और बन्धन तथा मोक्ष क योग्य है और परमात्मा ही ईश्वर है।

आत्मा का विस्तृत निरूपण, पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है।

मन

वैशेषिक दर्शन मे मान्य नवम् द्रव्य 'मन' है, अतः अब इसका विवेचन किया जा रहा है :-

<u>लक्षण</u> :- 'मन्यते अनेन इति मनः' । विभिन्न ग्रन्थों तथा उनकी टीकाओं का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि इन ग्रन्थकारों ने 'मन' का लक्षण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है :-

(1)	'सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियम् मनः -	तर्कसंग्रह, तार्किकरक्षा तथा कारिकावली।
(2)	'स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत् मनः -	तर्कसंग्रह की दीपिका टीका
(3)	'मनस्त्वजातिमत् मनः' या 'मनस्त्व - सामान्यवान् मनः' या 'मनस्त्वाभि-सम्बन्धवन्मनः' -	तर्ककौमुदी, तर्कभाषा ।

अब इन लक्षणों का अर्थ बताया जा रहा है। 'प्रथम लक्षण' का अर्थ है कि 'अहम् सुखी, अहम् दुःखी' इस प्रकार का जो सुख दुःखादि का साक्षात्कार है, उस साक्षात्कार रूप उपलब्धि का जो कारण तथा इन्द्रिय है, उसे 'मन' कहते हैं। सुख, दुःखादि का बोध नहीं होता, अतः मन का यह लक्षण उचित ही है।

'मन' के 'दूसरे लक्षण' का अर्थ है कि स्पर्श से रहित तथा क्रिया वाला द्रव्य 'मन' कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'मनस्त्व जाति' जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहती है, वह द्रव्य 'मन' कहलाता है।

किन्तु मन के ये लक्षण तभी घटित हो सकते हैं, जब मन के करणत्व, इन्द्रियत्व तथा 'मनस् जाति' की सिद्धि की जाये।

मन के करणत्व तथा इन्द्रियत्व की सिद्धि :- विश्वनाथ पंचानन ने अपनी कारिकावली में भी सुखादि के साक्षात्कार के करण को 'मन' कहा है।[1] अतः यह आवश्यक है कि पहले मन का करणत्व सिद्ध किया जाये। मन का करणत्व 'मुक्तावलिकार' ने इस प्रकार सिद्ध किया है :-

'सुख का प्रत्यक्ष किसी करण से ही होता है, क्योंकि सुख साक्षात्कार, जन्य साक्षात्कार है, चाक्षुष प्रत्यक्ष के समान।[2] इस अनुमान से मन के करणत्व अर्थात् इन्द्रियत्व की सिद्धि होती है।

किन्तु इस पर शंका यह होती है कि इसी प्रकार दुःख के प्रत्यक्ष के लिये भी किसी अन्य करण की कल्पना की जायेगी ? इसका समाधान यह है कि जब मन को करण मान लिया गया है तो मन को करण मान लेने पर वह मन आत्मा के सम्पूर्ण प्रत्यक्ष का करण सिद्ध हो जाता है, अतः एक करण मान लेने पर लाघव होने के कारण अनेक करण मानना उचित नही है।

मन का करणत्व सिद्ध हो जाने पर ऊपर दिये गये लक्षण भी स्वतः सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु गौतम, कणाद आदि ने मन को स्पष्टतः इन्द्रिय स्वीकार नहीं किया है ।[3]

1:- साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते - कारिकावली, कारिका 850

2. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 85.
'सुखः साक्षात्कारः सकरणकः जन्यसाक्षात्कारत्वात्, चाक्षुष-साक्षात्कारवदित्य-नुमानेन मनसः करणत्वसिद्धिः ।'

मनस्त्व जाति की सिद्धि :- 'मन' का 'मनस्त्वजातिमत् मनः' यह लक्षण तभी घटित हो सकता है, जब 'मनस्त्व जाति' सिद्ध हो, अतः अब मनस्त्व जाति की सिद्धि की जा रही है :-

मनस्त्व जाति की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकती, अतः ग्रन्थकारों ने इसकी सिद्धि 'अनुमान प्रमाण' से की है, वह अनुमान इस प्रकार है :-

मनोनिष्ठा या मानसप्रत्यक्ष करणता सा किन्चद्-धर्मावच्छिन्ना करणतात्वात् चक्षुर्निष्ठकरणतावत्'

अर्थात मन में रहने वाली जो मानस प्रत्यक्ष की करणता है, वह करणता किसी धर्म से अवच्छिन्न होने योग्य है, करणता होने से, जो-जो करणता होती है, वह-वह करणता किसी धर्म से अवच्छिन्न ही होती है, यथा - चक्षु में रहने वाली चाक्षुष प्रत्यक्ष की जो करणता है, वह करणता चक्षुत्व धर्म से अवच्छिन्न ही है। उसी प्रकार मन मे रहने वाली करणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य होनी चाहिये, अतः उस करणता का अवच्छेदक धर्म मनस्त्वजाति ही है, इस प्रकार अनुमान प्रमाण से मनस्त्व जाति के सिद्ध हो जाने पर, मनस्त्व जाति रूप मन का लक्षण भी घटित हो जाता है।

मन की सिद्धि में प्रमाण :- मन की सिद्धि 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से नहीं हो सकती, क्योंकि मन को नित्य तथा अणु परिमाण वाला माना गया है, तथा वह एक रूपरहित द्रव्य है, अतः उसकी सिद्धि 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से नहीं हो सकती। उसकी सिद्धि तो 'अनुमान प्रमाण'[1] से ही हो सकती है। ग्रन्थकारों ने अनुमान से सिद्धि इस प्रकार की है :- 'यद् वस्तु यदविनैव उत्पद्यते यत् तदतिरिक्तकरणसाध्यम्' यह व्याप्ति है अर्थात जो वस्तु जिसके बिना उत्पन्न होती है, वह उससे भिन्न अन्य किसी करण से उत्पन्न हुआ करती है, इस व्याप्ति द्वारा 'मन' की सत्ता का अनुमान इस प्रकार किया जा

---

1. 'तर्कामृतम्' - 'सुखादि प्रत्यक्षमिन्द्रियजन्यंजन्यप्रत्यक्षत्वात् घट-प्रत्यक्षवत् तथा चेन्द्रियान्तरबाधे मनसः सिद्धिः '

सकता है, - 'सुखादिसाक्षात्कारः करण साध्यः जन्यसाक्षात्कारत्वात् चाक्षुषसाक्षात्कारवत्'[1] अर्थात् 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इस प्रकार से सुखादि को जो साक्षात्कार होता है, वह किसी 'करण' से ही साध्य होता है, क्योंकि किसी करण के बिना जन्यसाक्षात्कार नहीं होता, यथा - 'अयं घटः, अयं घटः' यह चाक्षुष साक्षात्कार, जन्य साक्षात्कार होने से, चक्षु करण से होता है, उसी प्रकार सुखादि साक्षात्कार भी 'जन्य साक्षात्कार' होने से किसी करण से ही होगा ।

इस पर शंका होती है कि वह करण कौन हो सकता है ? नेत्र आदि इन्द्रियों को हम सुखादि साक्षात्कार के प्रति करण नहीं कह सकते, क्योंकि अन्धे तथा बहरे व्यक्ति को भी सुखादि का भी अनुभव होता है। अतः चक्षु आदि के करण न होने के कारण सुखादि के साक्षात्कार के प्रति 'परिशेषानुमान' से मन को ही करण माना जाता है। इस प्रकार 'अनुमान प्रमाण' के द्वारा मन के अस्तित्व की सिद्धि की जाती है।

मन के अस्तित्व की सिद्धि 'आगम प्रमाण'[1] से भी होती है, यथा-'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः, मन षष्ठानि इन्द्रियाणि' इत्यादि श्रुतियाँ मन की सत्ता सिद्ध करती हैं।

किन्तु कणाद द्वारा तथा गौतम द्वारा, मन की सिद्धि के लिये जो प्रमाण दिये गये हैं, वे अधिक विश्वस्त हैं। 'कणाद' ने कहा है कि 'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे भावोऽभावश्च मनसोलिंगम्' अर्थात् आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने पर भी कभी पदार्थ का ज्ञान होता है, तथा कभी नही होता, इससे सिद्ध होता है कि आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रहने पर भी पदार्थ का ज्ञान कोई इन्द्रिय कराती है, जब वह इन्द्रिय नहीं कराती तो ज्ञान नहीं होता वह इन्द्रिय 'मन' ही है।

'गौतम' ने अपने 'न्यायसूत्र' में कहा है कि बहुत से ज्ञान, एक साथ नहीं हो सकते, बल्कि क्रम से होते हैं। अतः 'युगपत्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्' अर्थात् एक

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - 85वी कारिका ।

साथ ज्ञान की उत्पत्ति न होना ही मन की सत्ता को सिद्ध करता है।

मन का नानात्व :- न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित ग्रन्थों, यथा :- तर्ककौमुदी, तर्कसंग्रह, तर्कामृत इत्यादि ग्रन्थों में मन का नानात्व माना गया है। मन प्रत्येक जीवात्मा के साथ रहता है, अतः वह असंख्य है, जैसे - जीवात्मा अनन्त है, उसी प्रकार यह मन भी अनन्त है, तथा जिस प्रकार एक शरीर में एक ही आत्मा रहती है, उसी प्रकार शरीर में एक ही मन रहता है। एक शरीर में अनेकों मन नहीं रहते, यह मन उत्पत्ति विनाश से रहित होने के कारण नित्य है।

मन के गुण :- मन के आठ गुण बताये गये हैं :- संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग नामक संस्कार। मन में परमाणु के समान परम अणुत्व परिमाण रहता है, क्योंकि न्याय-वैशेषिक में मन को अणु परिमाण वाला माना गया है।

मन में परम अणुत्व परिमाण की सिद्धि

न्याय-वैशेषिक दर्शन में मन को परमाणुरूप माना गया है, किन्तु मन को परमाणु रूप तभी माना जा सकता है, जब मन की परमाणुरूपता किसी प्रमाण से सिद्ध हो, अतः 'मुक्तावलीकार'[1] ने मन की परमाणुरूपता की सिद्धि में यह प्रमाण दिया है कि :-

'चाक्षुष, रासन, घ्राणज, स्पार्शन आदि प्रत्यक्षात्मक ज्ञानों की एक काल में उत्पत्ति न होने से, मन को परमाणुरूप माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि चाक्षुष आदि ज्ञानों की एक काल में उत्पत्ति नहीं होती, यह अनुभव सिद्ध ही है, अर्थात् एक काल में अनेक इन्द्रियों से ग्राह्य विषयों का सन्निधान करने पर भी, जिसके सम्बन्ध से एक इन्द्रिय के विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है, और जिसके सम्बन्ध न रहने पर अन्य इन्द्रियों के विषय का ज्ञान नहीं होता, वह इन्द्रियों से सम्बद्ध होने

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका 85

वाला 'मन' ही है, तात्पर्य यह है कि जिस समय मन का जिस इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है, उसी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होता है, अन्य इन्द्रियों के विषय का ज्ञान नहीं होता, अतः एक काल में, एक ज्ञान की उत्पत्ति होने से मन को 'परमाणुरूप' कहा गया है। न्यायसूत्रकार [1] तथा वैशेषिकसूत्रकार [2] ने भी इसी बात को बताया है।

किन्तु मीमांसक मन को विभु मानते हैं और इसमें 'मनः विभु स्पर्शरहित द्रव्यत्वात् आकाशादिवत्' के समान अनेकों अनुमान देते हैं। किन्तु मन को 'विभु' नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि मन को विभु माना जाये तो सदा सब इन्द्रियों से असन्निधान नहीं बनेगा और तब एक ही काल में अनेक इन्द्रियों से अनेक ज्ञान होने लगेंगे, किन्तु यह अनुभव विरूद्ध होगा क्योंकि हमारा अनुभव यही है कि हमें एक काल में एक ज्ञान ही होता, अनेक ज्ञान नहीं। अतः मन को 'विभु' नहीं माना जा सकता।

किन्तु इस पर यह शंका होती है कि यदि हम मन को अणुरूप मानते हैं तो दीघ्रशुष्कली के भोजन करते समय अथवा शतावधानी पुरूषों को एक काल में अनेक इन्द्रियों से जन्य ज्ञान कैसे होता है ? तो इसके समाधान स्वरूप यही कहा जा सकता है कि एक ही काल में अनेक इन्द्रियों से जन्य विभिन्न ज्ञान उत्पन्न नही होते, किन्तु एक-एक क्षण के पश्चात् ही वे ज्ञान उत्पन्न होते हैं, अर्थात वह मन अत्यन्त वेग वाला है। इसी कारण एक इन्द्रिय के साथ संबंध को प्राप्त करके, शीघ्र ही द्वितीय इन्द्रिय के साथ संबंध को प्राप्त होता है, इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ पंचम इन्द्रिय के साथ भी शीघ्र ही सम्बन्ध को प्राप्त होता है, और जिस क्रम से इन्द्रिय के साथ, मन का संयोग होता जाता है, उसी क्रम से उस-उस इन्द्रिय जन्य ज्ञान उत्पन्न होते जाते हैं। इन्द्रिय के साथ मन के सम्बन्ध से जिस-जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसके अधिकरणभूत वे क्षण रूप काल अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अतः उन क्षणरूप कालों के भेद का ज्ञान नहीं होता, अतः भ्रान्ति होती है कि हमें एक ही काल में चक्षु आदि अनेक ज्ञान उत्पन्न हुये हैं, यथा - कमल के शतपत्र को नीचे ऊपर रखकर

---

1. न्यायसूत्र - 1/1/

कोई पुरूष एक शतपत्र को तीक्ष्ण सुई से भेदन करके यह कहे कि हमने एक ही काल में इन शतपत्रों को सूई से भेदन किया है, किन्तु उसका यह अनुभव भ्रान्तिरूप ही है, उसी प्रकार हमें भी यह भ्रम होता है कि हमें एक ही काल में अनेक इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान हुआ है। वह भी केवल भ्रम मात्र ही है।

इस पर दूसरी शंका यह उत्पन्न हो सकती है कि यदि मन को संकोच, विकासशील मान लिया जाये और यह कहा जाये कि जब मन संकुचित रहता है, तब एक इन्द्रिय से सम्बद्ध होने के कारण एक ही ज्ञान उत्पन्न करता है, और जब विकासशील होता है, तब अनेक ज्ञान उत्पन्न करता है। इस प्रकार एक ज्ञान और अनेक ज्ञान दोनों पक्षों की सिद्धि हो जाती है, तब इसका समाधान करते हुये 'मुक्तावलीकार' ने कहा है कि, ऐसी शंका करना उचित नही है, क्योंकि यदि मन को संकोच और विकासशील माना जाये, तो उसे अवयवयुक्त मानना पड़ेगा और संकोच में अवयवों का नाश तथा विकास में अवयवों की वृद्धि माननी पड़ेगी, जिसमें गौरव होगा, अतः लाघव की दृष्टि से मन को अणुरूप मानना ही उचित है।

मन को अणुरूप मानने पर, उसकी नित्यता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि जो पदार्थ परमाणुरूप होता है, वह नित्य भी अवश्य होता है।

तमस् द्रव्य

<u>'तमस्' द्रव्य की अतिरिक्त पदार्थता</u> :- कुछ मीमांसक 'तमस्' को नौ द्रव्यों से भिन्न दसवां द्रव्य मानते हैं। उनका कहना है कि 'द्रव्य' का लक्षण है, जिसमें गुण और क्रिया हो, वह द्रव्य है' और 'तमस् में नीलगुण विद्यमान है और तमस् चलता है, ऐसी प्रतीति भी होती है, अतः गुण और क्रिया वाला होने से 'तमस्' द्रव्य है। वह नौ द्रव्यों में नही आता, क्योंकि गन्ध न होने से पृथिवी नही है, नीलरूप होने के कारण, वह जलादि शेष द्रव्य भी नही है, क्योंकि जल और तेज का रूप 'श्वेत' होता है तथा अन्य द्रव्यों का कोई रूप ही नही होता तथा दूसरी बात यह है कि अन्य रूप वाले द्रव्यों का प्रत्यक्ष, प्रकाश की सहायता से होता है, किन्तु तमस् का प्रत्यक्ष, बिना

प्रकाश की सहायता के ही होता है, अतः 'तमस्' द्रव्य, अन्य नौ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य है ।

'तमस्' की अतिरिक्त पदार्थता का खण्डन :- तब इसका खण्डन करते हुये 'मुक्तावलीकार'[1] कहते हैं कि 'तमस्' अतिरिक्त द्रव्य नहीं है, प्रत्युत 'तेज के अभाव' का नाम ही 'तम' है। तेज को मानने पर, उसका अभाव भी मानना आवश्यक है, अतः तेज को अभावरूप मानने से ही जब काम चल जाता है तो उसे अलग द्रव्य मानना उचित नहीं। तमस् के रूपेवाला होने की जो प्रतीति होती है, वह भ्रान्तिमात्र ही है। तमस् के चलने की जो प्रतीति होती है, वह भी प्रकाश के हटने के कारण ही होती है, तात्पर्य यह है कि प्रकाश एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है, इसी कारण प्रकाश के चलने से अंधकार भी चलता हुआ सा प्रतीत होता है, अतः अंधकार के चलने की जो प्रतीति होती है, वह भ्रान्तिमात्र ही है।

इसके अतिरिक्त यदि 'तमस्' को अलग द्रव्य माना जाये तो उसके अनन्त अवयव आदि मानने पड़ेगें और अनेकों कल्पनायें करनी पडेगीं, इन अधिक कल्पनाओं की अपेक्षा यदि 'तमस्' को 'तेजोऽभाव' रूप माना जाये तो यह अधिक उचित है। अतः तमस् एक अतिरिक्त द्रव्य नही है, बल्कि 'तेज का अभाव होना ही तमस्' है।

[ख] गुण निरूपण

वैशेषिक दर्शन में मान्य सात पदार्थों में द्वितीय पदार्थ 'गुण' है, अतः अब गुण पदार्थ का लक्षण तथा भेदपूर्वक विवेचन किया जा रहा है :-

गुण - लक्षण :- प्राच्य पदार्थशास्त्रियों ने गुण का लक्षण, इस प्रकार बताया है :- 'जो द्रव्यों से एवं कर्मों से भिन्न होता हुआ, जाति नामक पदार्थ का आश्रय हो, वही गुण है। उनका अभिप्राय यह है कि जाति नामक पदार्थ द्रव्य गुण, कर्म इन तीन

---

1. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली - करिका 3

तथा

पदार्थों में ही रहता है। अतः द्रव्य और कर्म से भिन्न होता हुआ, जो जातिमान् होगा, वह गुण ही होगा, क्योंकि अपने में अपना भेद नही रहने के कारण द्रव्य और कर्म, से भिन्न नहीं हो सकते। सामान्य आदि पदार्थों में जाति नहीं रहती, फलतः ऐसा पदार्थ गुण ही होगा ।

कणाद[1] ने गुण की परिभाषा इस प्रकार बतायी है - द्रव्यों में आश्रित, गुण रहित और संयोग एवं विभाग का निरपेक्ष कारण न होने वाला, अपितु सापेक्ष कारण होने वाला पदार्थ 'गुण' है। वैशेषिक सूत्र के उपस्कार टीकाकार ने 'कर्म से भिन्न, सामान्य युक्त एवं गुण शून्य पदार्थ गुण है' ऐसा लक्षण किया है। कर्म तथा गुण, द्रव्य में रहते हैं, इसलिये गुण में कोई क्रिया या कोई गुण नहीं रहता, यह सदेव द्रव्य में ही उपलब्ध होता है, अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं ।[2]

वरदराज ने 'तार्किकरक्षा' में 'गुण' का लक्षण 'कर्मणो व्यतिरिक्तत्वे जातिमात्राश्रयो गुणः' किया है जबकि 'तर्कभाषाकार' ने सामान्यवान् असमवायिकरण स्पन्दात्मा गुणः' किया है, कारिकावलीकार' ने 'द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रियाः गुणाः यह गुण का लक्षण किया है, इसी प्रकार 'लौगाक्षिभास्कर' ने भी 'तर्ककोमुदी' में गुण का लक्षण 'गुणत्वसामान्यवान् द्रव्यकर्मभिन्नः सामान्यवान्वा गुणः किया है' 'तर्कसंग्रहकार' तथा तर्कामृतकार' ने 'गुण' पदार्थ का लक्षण नहीं किया है, किन्तु उसके भेदों का लक्षण पूर्वक विवेचन किया है।

उपरोक्त लक्षणों के निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि सामान्यवान् असमवायिकारण, कर्मभिन्न, द्रव्याश्रित, निर्गुण तथा निष्क्रिय और गुणत्व जाति जिसमें रहती है, वह पदार्थ गुण है।

किन्तु 'गुणत्वजातिमत्व' रूप गुण का लक्षण तभी घटित हो सकता है, जब गुणत्व किसी प्रमाण से सिद्ध हो, अतः 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिकार' ने कारिका 86 में गुणत्व की सिद्धि करते हैं :-

---

1. वै0 सू0 - 1/1/16
2. पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ 227.

यह प्रश्न उठता है कि गुणत्व है क्या ? यदि कहा जाये कि यह जाति है, तब प्रश्न उठता है कि 'गुणत्व जाति' में क्या प्रमाण है ? यदि स्व समवेत समवाय सम्बन्ध से गुणत्व में प्रत्यक्ष प्रमाण ही माना जो तो यह उचित नहीं क्योंकि अतिन्द्रिय रूपादि में गुणत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अतः अनुमान प्रमाण से गुणत्व की सिद्धि की जाती है, वह अनुमान का आकार इस प्रकार है :- 'द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता, सा किन्चिद् धर्मावच्छिन्ना, घटनिष्ठ कार्यतानिरूपित दण्ड निष्ठ कारणतावत्' अर्थात द्रव्य और कर्म से भिन्न जातियुक्त पदार्थ में जो कारणता है, वह किसी धर्म से युक्त है क्योंकि कोई भी कारणता निरवच्छिन्न नहीं होती, रूपत्व आदि अथवा सत्ता अवच्छेदक नहीं हो सकती, क्योंकि रूपत्व आदि धर्म न्यून देश में रहने वाले हैं और सत्ता, अधिकदेश में रहने वाला है, अतः चौबीस गुणों में रहने वाला कोई अनुगत धर्म होना चाहिये, जो धर्म अनुगत रूप में मान्य होगा, वह 'गुणत्व' ही है।

गुण भेद :- इस 'गुण' पदार्थ के सभी ग्रन्थकारों ने चौबीस भेद माने हैं :- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरूत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म, और शब्द ।

इन चौबीस गुणों का 'तर्कामृतकार' ने पुनः दो प्रकार से विभाजन किया है:- सामान्यगुण और विशेषगुण ।

गुणों का अन्य वर्गीकरण और गुणों का साधर्म्य :- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना, ये षोडश 'विशेष गुण' हैं तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, गुरूत्व, नैमित्तिक द्रवत्व, वेग, स्थितिस्थापक ये आठ गुण 'सामान्य गुण' कहे जाते हैं। 'न्यायमुक्तावलीकार' ने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग ये नौ गुणों को 'मूर्तगुण' कहा है, तथा धर्म, अधर्म, भावना, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न को 'अमूर्त गुण' कहा है एवं संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग को मूर्त और अमूर्त दोनों में रहने वाले 'उभय गुण' माना है। संयोग, विभाग, द्वित्व आदि संख्याओं में इसी प्रकार द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व आदि को 'अनेकाश्रित गुण' माना है और अन्य

गुणों को 'एकाश्रित' बताया है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग, ये दो इन्द्रियों से ग्राह्य गुण हैं तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द ये एक-एक बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य गुण है। गुरूत्व, अदृष्ट (धर्म, अधर्म) भावना अतीन्द्रिय गुण है। अब 'मुक्तावलीकार' बताते हैं कि विभु आकाशादि मे जो विशेष गुण है, उसमें कारण गुणों से उत्पत्ति न होना 'साधर्म्य है, इसी प्रकार अपाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और अपाकज द्रवत्व, एकत्व, स्नेह, वेग, गुरूत्व, एक पृथक्त्व, परिमाण और स्थितिस्थापक गुणों में 'कारणगुणों से जन्य होना' साधर्म्य है। संयोग, विभाग, और वेग में 'कर्मजन्यत्व' रूप साधर्म्य है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, स्पर्शत्व एकत्व एकपृथकत्व, स्नेह, और शब्दों में 'असमवायित्व' साधर्म्य है तथा उष्णस्पर्श, गुरूत्व, वेग, द्रवत्व, संयोग, विभाग में 'असमवायिकारणत्व' और निमित्तकारणत्व' रूप साधर्म्य है। आकाश और आत्मा में रहने वाले शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भावना, धर्म, और अधर्म तथा संयोग और विभाग 'प्रादेशिकत्व' रूप साधर्म्य हैं। इस प्रकार 'कारिकावलीकार' ने गुणों का विभाजन तथा उनके साधर्म्य का निरूपण किया है।

अन्य दर्शनों में गुण का स्वरूप :- अब सभी आस्तिक दर्शनों के आधार पर गुण के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है। गुण-विचार का प्राचुर्य ही, गुण-सिद्धान्त की महत्ता को बताता है। गुण के सम्बन्ध में विभिन्न मतभेद है। सांख्य दर्शन में सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों को स्वीकार किया गया है। 'गीता' में भी 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः' - गीता, ऐसा माना गया है। योगियों के अनुसार शम-दम-तितिक्षादयो गुणा इति योगिनः' । वेदांती, ज्ञान, आनन्द आदि को गुण मानते हैं। वैयाकरण आदि विद्वान वस्तु के धर्म को गुण मानते हैं। आलंकारिक लोग माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों को मानते हैं ।

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमिति में विशेषण-विशेष्य भाव सन्निकर्ष को ही गुण बताया गया है, अनुमिति में परामर्श को गुण माना गया है, उपमिति में सादृश्य ज्ञान ही गुण है और शाब्द बोध में योग्यता ज्ञान अथवा तात्पर्य ज्ञान ही गुण स्वीकार किया गया है ।[1]

वैशेषिक दर्शन में जैसा कि पूर्व ही बताया जा चुका है, चौबीस प्रकार के गुणों की गणना की गयी है, किन्तु गुणों के अन्दर चौबीस संख्या का व्यवहार औपचारिक है। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गुण के विषय में यह स्पष्ट होता है कि गुण के विषय में सभी का मतैक्य नहीं है।

अब गुणों में प्रथम 'रूप' गुण का विवेचन किया जा रहा है:-

रूप

गुणों में प्रथम 'रूप' गुण है, अतः अब इसका विवेचन किया जा रहा है। जहां तक रूप गुण के स्वरूप का प्रश्न है तो लक्षण इस प्रकार किया गया है:-

'तर्कसंग्रहकार अन्नम्भट्ट' ने इसका लक्षण 'चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्' किया है, तार्किकरक्षाकार ने भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है, तर्ककौमुदीकार ने भी कुछ इसी प्रकार का लक्षण किया है - 'चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमान्गुणो रूपम्' किया है, न्याय सिद्धान्त मुक्तावलीकार ने भी 'चक्षुर्ग्राह्यंभवेदरूपं' इस प्रकार का लक्षण किया है, किन्तु 'तर्कभाषाकार' ने अतिव्याप्ति दोष के निवारणार्थ उपरोक्त लक्षण में विशेष पद जोड़ दिया है :- चक्षुर्मात्रग्राह्यो, विशेषगुणो रूपम्' ऐसा लक्षण किया है, कहने का अभिप्राय यह है कि केवल चक्षुमात्र से ग्रहण किये जाने वाला जो विशेष गुण है, वही 'रूप' है। इसका लक्षण इस प्रकार भी किया जा सकता है कि त्वक् इन्द्रिय से अग्राह्य तथा चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य, जो गुण विभाजक उपाधि है, वह गुण विभाजक उपाधि, जिस गुण में समवाय सम्बन्ध से रहती है, वह गुण रूप कहा जाता है।

यह रूप, गुण, नेत्र, द्रव्य, द्रव्यत्व, द्रव्याभाव आदि के प्रत्यक्ष में सहकारी कारण होता है।

उपरोक्त स्वरूप वाले इस रूप के सभी ग्रन्थकारों ने सात भेद स्वीकार किये हैं:-

शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्ररूप । इन शुक्लादि सप्तरूपों

---

1. वाक्यवृत्तिकार - वाक्यवृत्तिरूप प्रकरण ।

यथाक्रम से रहने वाले जो शुक्लत्व, नीलत्व, पीतत्व, रक्तत्व, हरितत्व, कपिशत्व और चित्रत्व से सप्त धर्म हैं, ये सप्त धर्म जातिरूप ही है क्योंकि उन सप्त प्रकार के रूपों में रहने वाली रूपत्व जाति 'इदंरूपम्' 'इदंरूपम्' इस प्रकार के प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है, उसी प्रकार ये शुक्लत्व, नीलत्व आदि सप्त जातियां भी 'अयं शुक्लः, अयं नीलः इस प्रकार की प्रत्यक्ष, प्रतीति का विषय है।

<u>चित्ररूप के विषय में शंका समाधान</u> :- अब रूप का जो चित्ररूप भेद माना गया है, उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि इसको पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है, इसे विभिन्न रंगों का संयोग क्यों न माना जाये ? तब इस प्रश्न का समाधान 'मुक्तावलीकार'[1] तथा अन्य टीकाकारों ने भी किया है :- नैयायिकों के अनुसार संयोग आदि गुण तो 'अव्याप्यवृत्ति' अर्थात् वे किसी द्रव्य के एक अंश में रह सकते है, किन्तु 'रूप' गुण अव्याप्यवृत्ति न होकर 'व्याप्यवृत्ति' गुण है तात्पर्य यह है कि वह सम्पूर्ण द्रव्य में अनिवार्य रूप से एक ही रहेगा। इसे, इस दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है, जैसे :- अव्याप्यवृत्ति संयोग, वृक्ष (द्रव्य) के केवल एक ही भाग में रहता है, अतः कपि और वृक्ष का संयोग शाखा में ही माना जायेगा, वृक्ष मूल में नहीं, किन्तु रंग की यह स्थिति नही है और प्रत्यक्ष रूप को तो व्याप्यवृत्ति अर्थात् द्रव्य के सम्पूर्ण अंश में रहना चाहिये, जबकि चित्र द्रव्य में नीला, पीला आदि वर्ण व्यापक रूप से कोई भी नही है, अतः 'चित्ररूप' को स्वतन्त्र रूप पृथक माना जाता है।

नैयायिकों के मतानुसार 'चित्ररूप' में 'नीला' आदि रूप विद्यमान है, किन्तु वे व्याप्यवृत्ति नही है, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, यदि उनका प्रत्यक्ष माना जाये तो वह किस सम्बन्ध से होगा ? प्रत्यक्ष के लिये स्वीकृत 6 सन्निकर्षों से तो हो नही सकता, अतः सातवां सन्निकर्ष मानना होगा, जिसमें गौरव होगा, अतः 'चित्ररूप' मे भी नीलरूप की अव्याप्यवृत्ति धर्म रूप में कल्पना नही की जा सकती है।

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि - कारिका 100
2. न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि - कारिका 100

किन्तु नवीन नैयायिक, संयोग आदि के समान ही 'रूप' को भी 'अव्याप्यवृत्ति' मानते हैं, उनका कथन है कि अव्याप्यवृत्ति नील आदि भी रूप नहीं है, इसे मानने के लिये किसी कारण की कल्पना करनी होगी, जिसमें की गौरव होगा। इस सन्दर्भ में वे 'नीलवृष' का शास्त्रीय लक्षण बताते हैं ।[1]

जो वृष वर्ण से लाल, मुख और पूँछ से पाण्डुर, तथा खुर से और सींग से श्वेत हो, ऐसे वृष को 'नीलवृष' कहते हैं।[2]

यदि चित्ररूप अलग माना जाये तो अव्यवरूपों की प्रतीति नहीं बनेगी, जैसा कि लक्षण में है ।-

इसी प्रकार नवीन नैयायिक चित्रस्पर्श आदि को भी स्वीकार नहीं करते।

अब यह शंका होती है कि उपरोक्त भेदों एवं स्वरूप वाला यह 'रूप' गुण किन-किन द्रव्यों में रहता है ? अतः ग्रन्थकारों ने इसका विवेचन किया है कि 'रूप' किन-किन द्रव्यों में रहता है - यह रूप, गुण, पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों में रहता है, पृथिवी में शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र ये सप्त प्रकार के रूप रहते हैं, और जल तथा तेज इन दो द्रव्यों में 'शुक्लरूप' ही रहता है, अन्तर मात्र इतना है कि जल तथा पृथिवी में अभास्वरशुक्ल रूप ही रहता है, जब कि तेज में भास्वरशुक्लरूप रहता है। यह गुण 'उद्भूत' और 'अनुद्भूत' इस भेद से पुनः दो प्रकार का होता है ।

रस

रस :- 'रूप' गुण के विवेचन के पश्चात्, अब क्रम प्राप्त 'रस' गुण का विवेचन किया जा रहा है :-

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि - कारिका 100
2. लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुर :
   श्वेतः खुरविषाणाभ्यां सैं नीलो वृष उच्यते।" मुक्तावली, 100वी कारिका ।

अब जहां तक इसके स्वरूप का प्रश्न है तो इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है :- 'रसनाग्राह्यो गुणो रसः'[1] अथवा 'रसनामात्रग्राह्यजातिमान्रसः'[2] अभिप्राय यह है कि 'रसनेन्द्रिय से ग्राह्य गुण रस है अथवा रसनेन्द्रिय से ग्राह्य जाति से युक्त गुण रस है। प्रथम लक्षण में 'रसत्व' में अतिव्याप्ति निवारण के लिये ही 'गुण' पद का प्रयोग किया गया है। द्वितीय लक्षण का तात्पर्य यह है कि रसनेन्द्रिय मात्र से उत्पन्न प्रत्यक्ष का विषय, रसत्व जाति है, उस जाति का आधार होना ही 'रस' गुण का 'रसत्व' है। मुक्तावलीकार का कथन है कि रासन प्रत्यक्ष में 'रस' सहकारी अर्थात कारण है।[3] वैशेषिक सूत्र के उपस्कार टीकाकार का भी यही मत है।[4]

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रसनेन्द्रिय से ग्राह्य तथा रसत्व जाति से युक्त गुण 'रस' है।

अब यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि उपरोक्त लक्षण वाला यह रस कितने प्रकार का होता है अतः सभी ग्रन्थकारों ने इसके एक मत से 6 भेद स्वीकार किये हैं :- मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, और कषाय । इनके भी पुनः नित्य और अनित्य ये दो भेद स्वीकार किये जाते हैं, जल परमाणु में रस 'नित्य' तथा पृथिवी परमाणु में 'अनित्य' रहता है।

अब यह जानना भी आवश्यक है कि ये 6 प्रकार का रस किन-किन द्रव्यों में रहता है ? तो यह रस गुण, पृथिवी और जल इन दो द्रव्यों में ही रहता है, तेजादि द्रव्यों में रस गुण नहीं रहता। अब जहां तक पृथिवी में रस के रहने का प्रश्न है तो पृथिवी द्रव्य में 6 प्रकार के रस पाये जाते हैं, किन्तु जल द्रव्य में 'मधुर रस' ही रहता है, जल में मधुर रस की सिद्धि 'जल' द्रव्य के निरूपण के प्रसंग में की जा चुकी है।

---

1. तर्कभाषा, तर्कसंग्रह, मुक्तावली, तार्किकरक्षा, प्रशस्तपादभाष्य ।
2. तर्ककौमुदी और वैशेषिक सूत्र
3. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली - कारिका 102, 'सहकारी रसज्ञाया'
4. वैशेषिक सूत्रोपस्कार :- 7/1/6, पृष्ठ 370

अब जहां तक "चित्ररस" का प्रश्न है तो नैयायिकों ने "चित्ररूप" के भांति 'अनेक रसों के मिश्रण' को 'चित्ररस' स्वीकार नही किया है, इसका कारण यह है कि चक्षु किसी वस्तु के विस्तृत भाग के रूप को एक साथ ग्रहण कर सकती है, अतः उस भाग में अनेक रंगों की सत्ता, एक साथ देखी जा सकती है, अतः व्याप्यवृत्ति रंग के रूप में उन्होंने 'चित्ररूप' को तो स्वीकार किया है, किन्तु रसना किसी द्रव्य के विस्तृत भाग का साक्षात्कार नही कर सकती, उसके द्वारा तो एक ही अंश का ग्रहण हो सकता है अतः किसी द्रव्य के अनेक भागों में स्थित रसों का साक्षात्कार एक साथ सम्भव नही है, अतः उन्हें चित्र रस मानने की आवश्यकता नहीं हुई ।

गन्ध

गन्ध :- 'रस' गुण के पश्चात अब 'गन्ध' गुण का निरूपण किया जा रहा है:- जहाँ तक 'गन्ध' गुण के लक्षण का प्रश्न है तो सभी ग्रन्थकारों ने 'गन्ध' का लक्षण एक ही प्रकार से किया है कि 'घ्राणग्राह्यो विशेष गुणो गन्धः' अथवा घ्राणमात्रग्राह्यजातिमान्गन्धः' तात्पर्य यह है कि घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाला विशेष गुण तथा घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य वस्तु में रहने वाली जो गुणत्वजाति की व्याप्यजाति है, उस जाति वाला गुण 'गन्ध' कहा जाता है। यह गुण घ्राणज प्रत्यक्ष में घ्राणेन्द्रिय का उपकारक हैं। [1]

उपरोक्त लक्षण वाले इस गन्ध गुण के ग्रन्थकारों ने दो भेद किये हैं:- सौरभ और असौरभ, जिस गन्ध से लोगों को सुख की अनुभूति होती है, वह 'सुरभि' कहलाता है और जिस गन्ध से दुःख की अनुभूति होती है, वह 'असुरभि' कहलाता है, यथा - 'घूमादि की गन्ध' ।

अब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि उपरोक्त स्वरूप एवं भेदों वाला यह 'गन्ध' गुण किन-किन द्रव्यों में रहता है, अतः ग्रन्थकारों ने 'गन्ध' गुण को मात्र 'पृथिवी' द्रव्य में रहने वाला बताया है।

---

(1) न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 102
'घ्राणग्राह्यो भवेद्गन्धो घ्राणस्यैवोपकारकः'

किन्तु फिर भी कुछ लोगों का मत है कि जल तथा वायु में भी ये दोनों प्रकार की गन्ध की प्रतीति होती है। किन्तु यह कथन उचित नही है क्योंकि जल तथा वायु में पृथिवी के दो सूक्ष्म अवयव है, उन पृथिवी के सूक्ष्म अवयवों के ही सुरभि और असुरभि गन्ध, जल तथा वायु में प्रतीत होते हैं, वास्तव में तो यह गन्ध गुण मात्र पृथिवी में ही रहता है।

स्पर्श

स्पर्श :- 'गन्ध' गुण के पश्चात् अब क्रम प्राप्त 'स्पर्श गुण' का विवेचन किया जा रहा है, स्पर्श गुण का लक्षण 'त्वमिन्द्रयग्राह्यों विशेष गुणः स्पर्शः तथा 'त्वङ्.मात्रग्राह्य-जातिमान्स्पर्शः किया गया है, तात्पर्य यह है कि त्वक् इन्द्रिय से ग्रहण किया जाने वाला गुण 'स्पर्श' है अथवा त्वक्इन्द्रिय मात्र से ग्राह्य जाति वाला गुण 'स्पर्श' कहा जाता है।

उपरोक्त स्वरूप वाले इस स्पर्श के तीन भेद स्वीकार किये गये हैं:- शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत ।

नव्य नैयायिक कठिन और सुकुमार स्पर्श को भी स्पर्श का भेद मानते हैं। प्राचीन नैयायिकों का कथन है कि कठिन और सुकुमार स्पर्श 'संयोग' का ही प्रकार है, स्पर्श का भेद नहीं, किन्तु नव्य नैयायिकों का कथन है कि चूंकि संयोग चक्षुरिन्द्रिय-ग्राह्य है, जबकि कठिनता और सुकुमारता चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, अतः इन्हें संयोग नहीं माना जा सकता ।[1]

किन्तु न्याय तथा वैशेषिक के सम्मिश्रित ग्रन्थों में सुकुमार और कठिन स्पर्श के भेदों का उल्लेख नहीं मिलता ।

यह स्पर्श पृथिवी, जल तेज और वायु इन चार द्रव्यों में ही मिलता है अन्य द्रव्यों में नहीं। इनमें से जल में शीत स्पर्श, तेज में उष्ण स्पर्श तथा वायु और पृथिवी में अनुष्णाशीत स्पर्श विद्यमान रहता है।

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 103, 104.

पाकज गुण :- पृथिवी के रूप, रस गन्ध और स्पर्श पाकज तथा अनित्य है, एवं पृथिवी से भिन्न जल, तेज और वायु में अपाकज है। साथ ही नित्य द्रव्य परमाणु में रूपादि नित्य तथा अनित्य कार्यद्रव्यों में अनित्य है। यह कहा गया है कि पृथिवी में रूपादि गुण पाकज होते हैं, किन्तु पाक जोत्पत्ति प्रकार के विषय में नैयायिकों तथा वैशेषिकों में मतभेद है, इसका विवेचन 'पृथिवी द्रव्य' के निरूपण में किया जा चुका है।

कुछ लोग 'चित्र स्पर्श' भी मानते हैं ।[1] परन्तु 'सप्तपदार्थी'[2] तथा उसकी व्याख्याओं में चित्रस्पर्श नहीं माना गया है। प्रशस्तपाद में तो चित्रस्पर्श का उल्लेख ही नही किया गया है।

संख्या

संख्या :- गुणों की गणना में पांचवां गुण 'संख्या' है। इसका लक्षण 'गणनाव्यवहार साधारणं कारणं संख्या', 'एकत्वादि व्यवहार हेतुः सामान्य गुणः संख्या' किया गया है, मुक्तावलीकार ने भी इसका लक्षण है 'गणनाव्यवहारे तु हेतुः संख्याभिधीयते' किया है। उपरोक्त लक्षणों का आशय यह है कि जिस गुण के आधार पर एक, दो आदि व्यवहार होते हैं, वहीं गुण संख्या हैं, अथवा एक दो आदि की गणना का जो असाधारण कारण है, वह संख्या कहलाता है।

यह 'नौ' द्रव्यों में होती है तथा एक से लेकर परार्ध पर्यन्त होती है। एकत्व, नित्य और अनित्य दो प्रकार का होता है :- नित्यगत नित्य और अनित्यगत अनित्य । द्वित्वादि तो सर्वत्र अनित्य ही होता है, द्वित्व केवल 'अपेक्षा बुद्धि' जन्य होता है। 'अपेक्षाबुद्धि' का निरूपण आगे किया जायेगा।

तर्कभाषाकार ने द्वित्व की उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया अत्यन्त संक्षेप में बतायी है। मुक्तावलीकार ने भी इसका विवेचन किया है। यह प्रक्रिया वैशेषिक

---

1. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली - करिका 100
2. सप्तपदार्थी - पृष्ठ 57

दर्शन का एक मुख्य सिद्धान्त है और प्रशस्तपादभाष्य आदि में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है, इस द्वित्व ज्ञान को वैशेषिक दर्शन के ज्ञान की कसौटी माना जाता है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में भी कहा गया है कि :-

> द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।
> यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ।।

प्रशस्तपाद में वर्णित द्वित्वोत्पत्ति की प्रक्रिया में सात क्षण और उसके नाश में नौ क्षण लगते हैं। द्वित्व की उत्पत्ति अपेक्षाबुद्धि से होती है और ये द्वित्वादि 'पर्याप्ति' नामक स्वरूप सम्बन्ध से अनेक आश्रयों में रहते हैं[1] और अपेक्षाबुद्धि के नाश से 'द्वित्व' आदि का नाश होता है।

द्वित्वोत्पत्ति प्रक्रिया संक्षेप में इस प्रकार है :-

प्रथम क्षण में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होता है, द्वितीय क्षण में दोनों (घटों) में रहने वाले 'एकत्व सामान्य' का ज्ञान होता है, तृतीय क्षण में उन दोनों को ग्रहण करने वाली 'अपेक्षा बुद्धि' उत्पन्न होती है, चतुर्थ क्षण में इस अपेक्षा बुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होती है। पंचम में उस द्वित्व में रहने वाली 'द्वित्वत्व' जाति का ग्रहण होता है। छठें क्षण मे द्वित्व का ज्ञान होता है और सातवें क्षण में द्वित्व में विशिष्ट 'द्वे द्रव्ये' इस प्रकार का द्रव्य ज्ञान होता है। इस प्रकार द्वित्व की उत्पत्ति प्रक्रिया में अर्थात 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पत्ति में सात क्षण लगते हैं।

द्वित्व नाश प्रक्रिया :- इसी प्रकार द्वित्व के नाश की प्रक्रिया में नौ क्षण लगते हैं। द्वित्व के नाश का एक कारण तो 'अपेक्षा बुद्धि' का नाश है और दूसरा कारण 'आश्रय द्रव्य का नाश' भी है। अब अपेक्षा बुद्धि के नाश से, द्रव्य नाश किस प्रकार होता है, उसका संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है :-

प्रथम क्षण - इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होता है।

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 108

द्वितीय क्षण - 'एकत्व सामान्य ज्ञान' उत्पन्न होता है।

तृतीय क्षण - 'अपेक्षा बुद्धि' उत्पन्न होती है।

चतुर्थ श्रेणी - द्वित्वोत्पत्ति, एकत्वसामान्य ज्ञान का नाश तथा द्वित्व सामान्य ज्ञान की उत्पाद्यमानता यह तीनों एक साथ होती है।

पंचम श्रेणी - द्वित्व सामान्य ज्ञान की उत्पत्ति. अपेक्षाबुद्धि की विवश्यमानता, द्वित्व बुद्धि की उत्पाद्यमानता ये तीनों बातें एक साथ होती है।

षष्ठ क्षण - द्वित्व गुण बुद्धि की उत्पत्ति, अपेक्षा बुद्धि का नाश, 'द्वे द्रव्ये' ज्ञान की उत्पाद्यमानता, ये तीनों बातें होती हैं।

सप्तम क्षण - 'द्वे द्रव्ये' ज्ञान की उत्पत्ति द्वित्व का विनाश द्वित्व गुण बुद्धि की विवश्यमानता, ये तीनों बातें होती है।

अष्टम क्षण - संस्कार की उत्पत्ति. द्वित्वगुण बुद्धि का विनाश, 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की विनश्यमानता, ये तीनों बातें एक साथ होती हैं।

नवम क्षण - 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान का संस्कार से विनाश हो जाता है।

इस प्रकार अपेक्षा बुद्धि के नाश से, द्वित्व का नाश नौ क्षणों में होता है। कहीं आश्रयनाश से भी द्वित्व का नाश होता है।

अब यह बताया जा रहा है कि दो वस्तुओं से बने हुये द्वित्व मे 'दो वस्तु' समवायिकारण है, 'समवायिकारणमर्त एकत्व' असमवायिकारण, तथा 'अपेक्षाबुद्धि निमित्त कारण है।

<u>न्याय कन्दलीकार का मत</u> :- जिस स्थल पर वे अपेक्षाबुद्धि नियम से दो एकत्वों को तथा तीन आदि एकत्वों को विषय करती है, वहां तो द्वित्व, त्रित्व आदि संख्या उत्पन्न होती है, किन्तु जहां नियम से अनेक एकत्वों को विषय करने वाली अपेक्षा बुद्धि नहीं होती, यथा :- सेना, वनादि में नियम के बिना ही उन अनेक एकत्वों को विषय करने वाली अपेक्षा बुद्धि होती है, उस स्थल पर कौन संख्या उत्पन्न होगी, ऐसी शंका होने पर 'कन्दलीकार' कहते हैं कि उन स्थलों पर त्रित्व, पंचत्व आदि

नियम संख्या उत्पन्न नहीं होती, अपितु त्रित्वादि संख्या से भिन्न 'बहुत्व' संख्या उत्पन्न होती है।[1]

उदयानाचार्य तो 'त्रित्व' को ही 'बहुत्व' मानते हैं।[2]

अपेक्षा बुद्धि निरूपण

अब यह शंका होती है कि अपेक्षा बुद्धि का स्वरूप क्या है ? अतः अपेक्षाबुद्धि का लक्षण 'विश्वनाथन्यापन्चानन' ने यह बतलाया है कि 'अनेकैत्व बुद्धिर्या सापेक्षाबुद्धिरिष्यते'

- भाषा परिच्छेद

अर्थात अनेकों में एकत्व की अलग-अलग जो बुद्धि अथवा अनेक एकत्वो को विषय करने वाली जो बुद्धि, उसे अपेक्षा बुद्धि कहते हैं, जैसे - 'अयमेक: अयमेक:' अथवा 'अयमेक: अयमेक: अयमेक:' यह अपेक्षा बुद्धि तीन एकत्वों को विषय करने वाली है, अतः इस अपेक्षा बुद्धि में त्रित्व संख्या की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार चतुष्टत्व, आदि प्रथम क्षण में दो एकत्वों को विषय करने वाली अपेक्षा बुद्धि उत्पन्न होती है, दूसरे क्षण में उन दोनों घटों में द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है, उस द्वित्व संख्या के वे दोनों घट समवायिकारण हैं और उन दोनों घटों ने विद्यमान दो ऐकत्वसंख्या असमवायिकारण होती है, अपेक्षाबुद्धि स्वयं निमित्तकारण होती है। तृतीय क्षण में विशिष्ट बुद्धि के कारणीभूत विशेषज्ञान 'द्वित्वे द्वित्वत्वे' इस प्रकार का प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हो जाता है, इसी को निर्विकल्पक प्रत्यक्षात्मक भी कहा जाता है। चतुर्थ क्षण में उस निर्विकल्पक प्रत्याक्षात्मक ज्ञान स्वरूप विशेषण ज्ञान के द्वारा द्वित्वत्वधर्म विशिष्ट द्वित्व का 'इदं द्वित्वम्' इस प्रकार का सविकल्पक प्रत्याक्षात्मक विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होताहे, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान में, विशेषणज्ञान कारण होता है। उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से अपेक्षा बुद्धि का नाश भी उसी क्षण मे होता है।

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 108
2. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 108

पंचम क्षण में 'इमो द्वौ, द्वौ घटौ' इस प्रकार का विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश हो जाता है, इसी कारण अपेक्षाबुद्धि को तीन क्षण स्थायी माना जाता है। अतः अपेक्षाबुद्धि ही द्वित्व की उत्पादक भी है और नाशक भी। अतः जिस व्यक्ति की अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व और त्रित्व संख्या उत्पन्न होगी उस द्वित्व और त्रित्व संख्या का प्रत्यक्ष भी वही व्यक्ति कर सकता है। अन्य व्यक्ति नहीं ।[1]

अब यह शंका हो सकती है कि जगत के उत्पत्ति के कारण जो परमाणु आदि है, उनके अतीन्द्रिय होने से, उनमें अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति संभव नही हो सकती, अतः उनमें द्वित्व की उत्पत्ति कैसे होगी, तब इसका समाधान करते हुये 'विश्वनाथ पन्चानन'[2] कहते हैं कि 'अतीन्द्रिय पदार्थों में योगी लोगों की अपेक्षा बुद्धि के आधार पर ही द्वित्व संख्या की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के आदिकालीन परमाणुओं में ईश्वरी अपेक्षाबुद्धि अथवा ब्रम्हाण्डान्तर में रहने वाले योगियों की अपेक्षा बुद्धि को ही द्वित्वोत्पत्ति का कारण माना जाता है।

इस विषय में 'कन्दलीकार' का मत है कि जहां पर एकत्व संख्या का ज्ञान नियत रूप से होता है, वहां पर तो द्वित्व, त्रित्व, चतुष्टत्व आदि संख्याओं से भिन्न 'बहुत्व' संख्या ही उत्पन्न होती है। जैसे कि सेना अथवा वन आदि में, देखने में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह बहुत बड़ा वन है अथवा यह बहुत बड़ी सेना है, इस प्रकार वहां पर 'बहुत्व' संख्या का ही व्यवहार होता है।[3]

---

1. 'अतएवं तत्पुरुषीयाऽपेक्षाबुद्धिजन्य द्वित्वादिकं तेनैव गृह्यते इति कल्प्यते' - भाषा परिच्छेद ।
2. भाषा परिच्छेद - कारिका ।08
3. भाषा परिच्छेद - कारिका ।08

तथा

'तथा च बहुत्व संख्या न त्रित्वादिपरार्धन्तान्यतम त्वान्तान्यतम भिन्नाकिन्तु तदात्मिकं वेतिभावः - विलासिनी टीका मुक्तावलीपर ।

इस विषय में 'उदयानाचार्य' का भी मत है कि जिस बहुत्व संख्या को 'कन्दलीकार' ने त्रित्वा आदि संख्याओं से भिन्न माना है, वह बहुत्व संख्या, वास्तव में त्रित्व आदि संख्याओं से भिन्न नही है।[1] अपितु अभिन्न है।

परिमाण

परिमाण :- इसका लक्षण 'परिमाण भवेन्मानव्यवहारस्य कारणम्', 'मानव्यवहार कारणम् परिमाणम्, अथवा 'मानव व्यवहारासाधारणं कारणम् परिमाणम्' किया गया है। तात्पर्य यह है कि 'मानव व्यवहार के असाधारण कारण को 'परिमाण' कहते हैं।

यह 'परिमाण गुण पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहता है। वह नित्य द्रव्यों मे नित्य या अनित्य द्रव्यों में अनित्य होता है। इस परिमाण के सभी ग्रन्थकारों ने चार भेद स्वीकार किये हैं :- अणु, हृस्व, महत् और दीर्घ । अणु और हृस्व परिमाण परमाणु और द्वयणुकों का होता है। महत् और दीर्घ परिमाण त्रयणुक और चतुरणुकादि का होता है। ये चारों परिमाणों के भी नित्य और अनित्य ये दो भेद माने जाते हैं। अनित्य परिमाण भी तीन प्रकार का होता है:-

संख्याजन्य, परिमाणजन्य और प्रचयजन्य ।[2]

द्वयणुक का अणु परिमाण ईश्वर की अपेक्षा - बुद्धि से जन्य परमाणुगत द्वित्व संख्या में जन्य होने के कारण 'संख्या जन्य' है और त्रयणुक का परिमाण अपने आश्रय के समवायिकारणगत बहुत्व संख्या होने से 'संख्याजन्य' है। चतुरणुक आदि का परिमाण तो अपने परिमाण के आश्रय है। चतुरणुकादि के समवायिकारण तो अपने परिमाण के आश्रय चतुरणुकादि के समवायिकारण त्रयणुक आदि के परिमाण से उत्पन्न होता है, अतः चतुरणुकदि का परिमाण, 'परिमाण जन्य' है। रूई के पिण्ड का परिमाण तो अपने आश्रय तूल पिण्ड के समवायिकारण रूप अवयवों के प्रशिथिल संयोग से जन्य है,अतः वह रूई के पिण्ड का परिमाण 'प्रचय जन्य' है। 'प्रचय' का अर्थ शिथिल अवयव संयोग है।

1.
2. सड.ख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते-भाषा परिच्छेद, करिका ।।0, ।।।.

परिमाण-नाश निरूपण :- 'मुक्तावलीकार'[1] ने 'आश्रय के नाश से परिमाण का नाश बताया है, अर्थात नित्य परिमाण तो सर्व्था अविनाशी होता है, किन्तु परिमाण का विनाश, आश्रय के नाश से ही होता है।

इस विषय का विस्तृत विवेचन 'विश्वनाथ पन्चानन' ने 'मुक्तावली' में मीमांसकों के मत का खण्डन करके किया है -

मीमांसकों का मत है कि अवयवी के नाश से परिमाण का नाश नही माना जा सकता, क्योंकि अवयवी के बने रहने पर तथा तीन, चार परमाणुओं के घट या बढ़ जाने पर भी द्रव्य की प्रतीति होती है कि यह वही घट है और परिमाण का घटना या बढ़ना प्रत्यक्षसिद्ध है।

किन्तु मीमांसकों का यह मत उचित नही क्योंकि परमाणु के निकल जाने से द्वयणुक का नाश अवश्य मानना चाहिये और द्वयणुक के नाश हो जाने पर, त्रसरेणु का भी नाश मानना पड़ता है, अतः अवयवी का नाश आवश्यक भी है।[2]

इसी प्रकार अन्य युक्तियों द्वारा भी विश्वनाथ पन्चानन ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आश्रय के नाश से ही परिमाण का नाश होता है।

पृथक्त्व

पृथक्त्व :- जहां तक इसके स्वरूप का प्रश्न है, तो, इसका लक्षण 'पृथकव्यवहारासाधारणं कारणम् पृथक्त्वम्' तथा 'पृथक्प्रत्यय कारण पृथक्त्वं किया गया है, तात्पर्य यह है कि 'अयमस्मात् पृथक्' अर्थात् "घटः पटात् पृथक" यह इससे अलग हैं, इस व्यवहार का असाधारण कारण 'पृथक्त्व' नामक गुण कहा जाता है। यह पृथक्त्व गुण सभी

---

1. नाशस्त्वाश्रयनाशतः' - कारिका ।।3, भाषापरिच्छेद ।
2. 'शरीरादावयवोयचयेऽसमवायिकारणनाशस्यावश्यकत्वादवयविनाश आवश्यकः- मुक्तावली, कारिका ।।2, ।।3.

नौ द्रव्यों में रहता है, संख्या के भांति ही यह भी 'एक पृथक्त्व, द्विपृथक्त्व' इस भेद से अनेक प्रकार का होता है। घट एक पृथक्त्व संख्या के भांति ही नित्य पदार्थों में नित्य तथा अनित्य पदार्थों में अनित्य होता है। यह पृथक्त्व गुण अपने आश्रय के द्वितीय पक्ष में उत्पन्न होता है और आश्रय के नाश से नष्ट होते हैं जिस प्रकार द्वित्वादि संख्यायें अपेक्षाबुद्धि से जन्य है और अपेक्षाबुद्धि के नाश से नष्ट होती हैं, उसी प्रकार द्विपृथक्त्व आदि भी 'अपेक्षाबुद्धि' से जन्य है और उस अपेक्षा बुद्धि के नाश से अथवा आश्रय के नाश से नष्ट होते हैं ।[1]

अब यह शंका हो सकती है कि 'पृथक्त्व' गुण की सत्ता में प्रमाण क्या है ? तो इसके समाधान स्वरूप यही कहा जा सकता है कि 'अयमस्मात् पृथक्' यह प्रत्यक्ष प्रतीति ही 'पृथक्त्व' की सत्ता में प्रमाण है।

'पृथक्त्व' गुण के विषय में यह शंका उठना स्वाभाविक ही है कि 'पृथक्त्व' गुण को अलग मानने की क्या आवश्यकता है, उसका 'अन्योन्याभाव' में, ही अन्तर्भाव क्यों न कर लिया जाये ऐसा नवीन नैयायिकों का मत है। तब उपरोक्त शंका का समाधान करते हुये विश्वनाथ पन्चानन[2] कहते हैं कि अन्योन्याभाव में 'पृथक्त्व' गुण गतार्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'घटः पटोन' और घटः पटात्पृथक' इन दोनों प्रतीतियों में विलक्षणता है. दूसरी बात यह भी है कि अन्योन्याभाव के प्रतियोगी तथा अनुयोगी से प्रथमा विभक्ति होती है, जबकि पृथक्त्व के प्रतियोगी से पन्चमी विभक्ति होती है। [3]

इस प्रकार 'पृथक्त्व' पृथक गुण है, यह सिद्ध होता है।

---

1. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली - कारिका ।।3
2. भाषा परिच्छेक - कारिका ।।4
3. मुक्तावली, कारिका ।।4 उपस्कार - 7/2/2
   न्यायलीलावती - पृष्ठ 368 - 372 तथा मुक्तावली पर विलासिनी टीका
   तथाचाडन्योन्याभावपृथक्त्वयोरैक्ये घटो नैत्यत्र जन्वाम्यापत्या पृथकत्वं गुणान्तरमेव'

संयोग

संयोग :- 'पृथक्त्व' गुण के पश्चात् अब क्रम प्राप्त गुण 'संयोग' है, जहां तक इसके लक्षण का प्रश्न है तो, इसका लक्षण 'संयुक्त व्यवहार हेतु गुण:' अथवा संयुक्त व्यवहारा साधारणं कारणं संयोग:' अथवा 'अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः' किया गया है, अभिप्राय यह है कि 'यह इससे संयुक्त है' इस प्रकार के संयुक्त व्यवहार का असाधारण कारण अथवा हेतु भूत गुण 'संयोग' कहा जाता है। अन्य शब्दों में इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'वे दो पदार्थ जो कभी अलग-अलग थे, उनका साथ-साथ मिल जाना संयोग है।

यह संयोग गुण नौ द्रव्यों में रहता है और अव्याप्यवृत्ति (अर्थात एक देश में रहने वाला) होता है, तथा अनित्य होता है। अब जहां तक इसके भेदों का प्रश्न है, तो इसके वर्गीकरण में ग्रन्थकारों में मतभेद हैं :- विश्वनाथ पन्चानन, केशव मिश्र जगदीश तर्कालिंकार ने इसके तीन भेद बताये हैं :- अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज, और संयोगज । किन्तु लौगाक्षिभास्कर ने संयोग का वर्गीकरण कुछ भिन्न प्रकार से किया है, इन्होंने संयोग के प्रथमतः दो भेद किये हैं :- कर्मज और संयोगज, तथा पुनः कर्मज के भी दो भेद बताये हैं :- अन्यतरकर्मज और उभयकर्मज तथा इन तीनों का विवेचन किया है। अब संयोग के तीनों भेदों का विवेचन किया जा रहा है :-

अन्यतरकर्मज :- जहां दो द्रव्यों में से, किसी एक द्रव्य में क्रिया होने से संयोग की उत्पत्ति होती है उसे 'अन्यतरकर्मज' संयोग कहा जाता है, जैसे :- श्येन और शैल का संयोग । श्येन क्रियावान् है, जबकि शैल निष्क्रिय है, अतः केवल श्येन की ही क्रिया से श्येन और शैल का संयोग होता है, अतः यह 'अन्यतर कर्मज' संयोग हुआ ।

उभयकर्मज संयोग :- जो संयोग दोनों द्रव्यों में उत्पन्न हुई क्रिया से जन्य होता है, उसे 'उभयकर्मज संयोग' कहते हैं, यथा दो भेड़ों का अथवा दो पहलवानों का संयोग अर्थात जब दो भेड़े या दो पहलवान लड़ते हैं, तो वहां दोनों में ही क्रिया उत्पन्न होती है और संयोग होता है, अतः इसे 'उभयकर्मज संयोग' कहते हैं ।

संयोगज संयोग :- कारण और अकारण इन दोनों के संयोग से जो कार्य और अकार्य इन दोनों का संयोग होता है, वह कार्य और अकार्य का संयोग - कारण और अकारण के संयोग से जन्य होने के कारण 'संयोगज संयोग' कहलाता है, यथा- 'हस्त और तरू के संयोग से, कार्य और तरू का संयोग 'अभिप्राय यह है कि हाथ में क्रिया होने पर हाथ और वृक्ष का संयोग होता है, [redacted] उस समय शरीर में भी संयुक्त व्यवहार होता है, तात्पर्य यह है कि शरीर में भी संयुक्त व्यवहार उस समय होता है अर्थात् शरीर में भी वृक्ष के संयोग का व्यवहार होता है, अतः हाथ और वृक्ष के संयोग के बाद, शरीर और वृक्ष का भी संयोग होता है, अतः 'संयोग से उत्पन्न संयोग' के कारण इसे 'संयोगज संयोग' कहते हैं ।

संयोग के इन तीन भेदों में आदिकर्मज भेद, भी दो प्रकार का होता है अभिघात और नोदन संयोग। जिस संयोग से शब्द हो, उसे 'अभिघात' कहते हैं और जिस संयोग से शब्द न उत्पन्न हो, उसे 'नोदन' संयोग कहते हैं ।

अब जहां तक नित्य और विभु पदार्थों में संयोग का प्रश्न है तो 'वैशेषिक शास्त्र' नित्य और विभु पदार्थों में संयोग मानता ही नहीं, क्योंकि 'संयोग', 'युक्तिसिद्ध' पृथक-पृथक पदार्थों का ही होता है और नित्य तथा विभु पदार्थों में से किसी में भी पृथग्गतिमत्व नही रहता, अतः उनमें संयोग नही होता।[1]

विभाग

विभाग :- संयोग के पश्चात् अब क्रम प्राप्त 'विभाग' गुण का निरूपण किया जा रहा है।

अब जहां तक 'विभाग' के स्वरूप का प्रश्न है तो 'अन्नम्भट्ट' ने इसका लक्षण 'संयोगनाशको गुणो विभागः' किया है, तर्कभाषाकार तथा मुक्तावलीकार ने 'विभक्त प्रत्यायासाधारणं कारणं विभागम् तथा विभक्त प्रत्यय हेतुः विभागः' किया

---

1. प्रशस्तपादभाष्य, संयोग प्रकरण ।

है, लौगाक्षिभास्कर ने भी इसी प्रकार का लक्ष्य किया है, अर्थात् संयोग का नाश करने वाला गुण विभाग है, अभिप्राय यह है कि प्रथम क्षण में परमाणु में क्रिया उत्पन्न होती है, और द्वितीय क्षण विभाग उत्पन्न होता है, फिर तृतीय क्षण में पूर्व संयोग का नाश होता है, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विभाग ही संयोग का नाशक है, अथवा 'विभक्त प्रतीति' का जो असाधारण कारण है उसे 'विभाग' कहा जाता है।

उपरोक्त स्वरूप वाला यह विभाग भी पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहता है और सर्वथा अनित्य ही होता है, संयोग के भांति ही इसके भी सभी ग्रन्थकारों ने तीन भेद बताये हैं - अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और विभागज विभाग, किन्तु लौगाक्षिभास्कर ने इसके प्रथमतः दो भेद किये हैं :- कर्मज और विभागज, कर्मज के भी दो भेद हैं:- 'अन्यतर कर्मज और उभयकर्मज । अब इन तीनों भेदों का निरूपण किया जा रहा है:-

अन्यतर कर्मज :- जो विभाग दो द्रव्यों में से एक द्रव्य में क्रिया होने से उत्पन्न होता है, उसे 'अन्यतृरकर्मज' विभाग कहते हैं, जैसे :- श्येन की क्रिया और शैल का विभाग ।

उभयकर्मज :- जो विभाग, दोनों द्रव्यों में होने वाली क्रिया से जन्य होता है, उसे उभयकर्मज विभाग करते हैं, जैसे :- दो भेड़ों में क्रिया होने से उन दोनों में विभाग अथवा दोनों पहलवानों में क्रिया होने से, उन दोनों का विभाग ।

विभागज विभाग :- विभाग से ही उत्पन्न होने वाला विभाग 'विभागजन्य विभाग' कहलाता है। इसके भी विश्वनाथ पन्चानन ने दो भेद बताये हैं :-

[1] हेतुमात्र विभाग अर्थात् कारण मात्र के विभाग से जन्य और [2] हेत्वहेतु विभाग अर्थात् कारण, अकारण विभाग से जन्य ।

इनमें से प्रथम, जैसे :- परस्पर संयोग वाले दो कपालों में से एक कपाल में क्रिया उत्पन्न होने से, उन दोनों कपालों का विभाग हो जाता है, इसके बाद विभाग से घट के आरम्भक संयोग का नाश होता है, इसके पश्चात् उस कपाल संयोग रूप

असमवायिकारण के नाश से घट का नाश हो जाता है, इसके बाद उन दो कपालों का विभाग, उस क्रिया वाले कपाल का आकाश आदि रूप, पूर्व प्रदेश के साथ विभाग को उत्पन्न करता है, फिर आकाश का जो कपाल के साथ संयोग हुआ था, उसका नाश हो जाता है, फिर कपाल का उत्तर प्रदेश के साथ संयोग होता है, उसके बाद कर्म का भी नाश हो जाता है। जहां उस घट के समवायिकारण दोनों कपालों में से किसी एक कपाल में उत्पन्न हुई क्रिया से उन दोनों कपालों का विभाग होता है, उन दोनों कपालों का विभाग उस घट के कारणस्वरूप दोनों कपालों में वृत्ति होने के कारण ही 'कारणमात्र विभाग' कहलाता है।

<u>कारण, अकारण विभागज विभाग</u> :- कारण और अकारण इन दोनों के विभाग से उत्पन्न होने वाला जो कार्य और अकार्य का विभाग है, वह विभाग कारणाकारक 'विभागजन्य विभाग' कहलाता है। जैसे:- हाथ की क्रिया से हाथ और तरू का विभाग होता है, फिर शरीर, वृक्ष से विभक्त होता है, यहां पर शरीर और वृक्ष के विभाग में हाथ की क्रिया कारण नहीं होती, क्योंकि अवयवी के जितने भी कर्म हैं, सब अवयवों के कर्म पर नियत है, अतः कारण और अकारण के विभाग से कार्य और अकार्य का विभाग उत्पन्न होता है, इसीलिये 'विभाग' को एक गुण माना जाता है और शरीर मे विभक्त प्रतीति होती है ।[1] हाथ शरीर का कारण है और वृक्ष का अकारण ।

नित्य और विभु द्रव्यों का विभाग नहीं हो सकता क्योंकि विभाग, संयोगपूर्वक ही होता है, और नित्य तथा विभु द्रव्यों से संयोग नहीं हो सकता, यह पूर्व ही कहा जा चुका है, अतः उनमें विभाग भी नही हो सकता।

परत्व, अपरत्व

<u>परत्व, अपरत्व</u> :- अब क्रम प्राप्त परत्व तथा अपरत्व गुणों का निरूपण किया जा रहा है :-

परत्व और अपरत्व का लक्षण क्रमशः 'परव्यवहारा साधारणं कारणं परत्वम्' और 'अपरव्यवहारा साधारणं कारणं अपरत्वम्' किया गया है, अर्थात् पर व्यवहार

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका ।20

के असाधारण कारण को 'परत्व' तथा अपर व्यवहार के असाधारण कारण को 'अपरत्व' कहते हैं ।

ये दोनों परत्व और अपरत्व अनित्य ही होते हैं, और पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में रहते हैं। इन दोनों 'परत्व और अपरत्व' के दो भेद माने गये हैं :- 'कालिक परत्व, कालिक अपरत्व तथा दैशिक परत्व और दैशिक अपरत्व' किसी देश में स्थित दो वस्तुओं में एक व्यक्ति को किसी निकट में स्थित वस्तु की अपेक्षा 'यह दूर है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान के अनुसार किसी दिशा विशेष से संयोग को आधार मानकर 'परत्व' की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार किसी एक आधार की अपेक्षा 'यह निकट है' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञान के अनुसार किसी दिशा विशेष से संयोग को आधार मानकर 'अपरत्व' बुद्धि उत्पन्न होती है, इस परत्व और अपरत्व का आधार, दिशा विशेष है, अतः इसे 'दिक्कृत परत्व और दिक्कृत अपरत्व' कहा जाता है।

कालिक परत्व, अपरत्व :- जब वर्तमान काल को आधार मानकर भिन्न-भिन्न समय में उत्पन्न दो वस्तुओं या दो व्यक्तियों में वर्तमान काल से एक की अपेक्षा अधिक दूर अर्थात पूर्व में उत्पन्न वस्तु आदि को 'पर' तथा उसकी अपेक्षा पश्चात् उत्पन्न वस्तु को 'अपर' कहा जाताहै। इस परत्व और अपरत्व का आधार कालविशेष हैं, अतः इस परत्व और और अपरत्व को 'कालिक परत्व, अपरत्व' कहा जाता है।

इस परत्व और अपरत्व गुणों का विवेचन 'काल' और 'दिशा' द्रव्य के प्रसंग में भी किया जा चुका है।

इस दैशिक परत्व और अपरत्व के आश्रय में 'दिक्संयोग' दैशिक परत्व और अपरत्व का असमवायिकारण होता है कालिक परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति में काल और देह पिण्ड का संयोग 'असमवायिकारण' होता है।

जहाँ तक इन परत्व और अपरत्व के नाश का प्रश्न है तो विश्वनाथ पन्चानन ने 'अपेक्षाबुद्धि' के नाश से, इनका नाश बताया है :- 'अपेक्षाबुद्धि नाशेन नाशस्तेषां निरूपितः' [1]

---

1. भाषा परिच्छेद - कारिका 125

किन्तु प्रशस्तपाद ने परत्वं और अपरत्व के नाश के सात कारणों का विस्तृत विवेचन किया है :-

(1) अपेक्षाबुद्धि के नाश से (2) संयोग के नाश से (3) द्रव्य के नाश से (4) द्रव्य और अपेक्षाबुद्धि के युगपद् विनाश से (5) द्रव्य और संयोग के नाश से (6) संयोग और अपेक्षाबुद्धि के नाश से और (7) अपेक्षाबुद्धि, संयोग और आश्रय द्रव्य इन तीनों के नाश से। परत्व और अपरत्व के नाश के यही कारण 'कणादरहस्यकार'[1] ने भी बताये हैं ।

बुद्धि :- इसका लक्षण 'अर्थप्रकाशो बुद्धिः' किया गया है तथा इसके नित्य और अनित्य दो विभाग किये गये हैं, ईश्वर की बुद्धि नित्य और अन्य की बुद्धि अनित्य है। बुद्धि का एक जन्य विभाजन भी ग्रन्थकारों ने किया है :- स्मृति और अनुभव । इसका विस्तृत विवेचन 'प्रमाण निरूपण' के प्रसंग में किया जा चुका है। बुद्धि को ज्ञान की ही पर्यायवाची माना जाता है। यह बुद्धि गुण 'आत्मा' द्रव्य में ही रहता है।

सुख :- अब क्रम प्राप्त 'सुख' गुण का विवेचन किया जा रहा है :- जहाँ तक 'सुख' के लक्षण का प्रश्न है तो, इसका लक्षण 'प्रीतिः सुखम्, अधर्मप्रभवं सुखम्, सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम् तथा सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जायेत' आदि किया गया है, तात्पर्य यह है कि अनुकूल प्रतीत होने वाला, स्वभावतः आनन्ददायक, धर्म से उत्पन्न तथा जगत् के अभिलाषा का विषय 'सुख' गुण है। प्रशस्तपाद के अनुसार 'अनुग्रहलक्षणं सुखम्' अर्थात् अनुकूल अनुभूति ही सुख है। अन्नम्भट्ट ने 'तर्कदीपिका' में सुख का लक्षण 'सुख्यहमित्याद्यनुव्यवसाय गम्यं सुखत्वादिकमेवलक्षणम्' किया गया है। यह सुख गुण 'आत्मा' में ही रहता है।

दुःख

दुःख :- इसका लक्षण 'सर्वेषां प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्', 'पीड़ा दुःखम्', 'अधर्म प्रभवं दुःखम्' किया गया है। विश्वनाथ ने 'कारिकावली' में 'दुःख' का लक्षण 'अधर्मजन्य दुःख स्यात्प्रतिकूलं सचेतसाम्' किया है, अर्थात् समस्त प्राणियों को प्रतिकूल लगने

---

1. कणाद रहस्य - पृष्ठ 88

वाला दुःख है, यह दुःख अधर्मजन्य है। यह दुःखत्व प्रकारक ज्ञान होने से ही सबके स्वाभाविक द्वेष का विषय है, इसीलिये सबके लिये प्रतिकूल है। संक्षेप में 'दुःख' पीड़ा का ही नाम है, जैसाकि केशवमिश्र का मत है। यह भी 'आत्मा' का ही गुण है, अर्थात् आत्मा में ही रहता है।

इच्छा

इच्छा :- इसके 'तर्ककौमुदी' में इच्छात्वसामान्यवतीच्छा' 'तर्कसंग्रह' में 'इच्छा कामः' 'तर्कभाषा' में 'राग इच्छा' इत्यादि लक्षण किये गये हैं, 'तार्किकरक्षा' में भी 'इच्छानुरागौ' ऐसा लक्षण किया गया है, तात्पर्य यह है कि 'न प्राप्त की हुई वस्तु की अभिलाषा ही इच्छा है 'काम, अभिलाषा राग, अनुराग आदि इच्छा के भेद हैं। यह इच्छा 'आत्मा' का गुण है। यह इच्छा प्रयत्न का असाधारण कारण होती है।

इस इच्छा के दो भेद माने गये हैं :-

फलविषयिणी और साधनविषयिणी। सुख और दुःख का अभाव फल है, इस इच्छा के प्रति तो फल का ज्ञान मात्र ही कारण है और साधन इच्छा के प्रति तो फल का साधनता ज्ञान ही कारण है। 'कृतिसाध्यविषयिणी' इच्छा को 'चिकीर्षा' कहते हैं।[1] चिकीर्षा के प्रति कृतिसाध्यताज्ञान तथा इष्ट साधनताज्ञान होता है, जैसे 'इदं मदिष्ट साधनम्' 'बलवत् द्विष्टसाधनत्व ज्ञान' चिकीर्षा में प्रतिबन्धक है, अतः मधु और विष से सम्पृक्त अन्न और भोजन में किसी की भी चिकीर्षा नहीं होती।[2]

द्वेष :- इसका लक्षण 'द्वेषत्वसामान्यवान्प्रज्वलनात्मको वा द्वेषः', 'द्वेषः' स्यादसहिष्णुत्वलक्षणः 'क्रोधो द्वेषः', दिष्टसाधताबुद्धिभविद्द्वेषस्य कारणम्' इत्यादि किये गये हैं तात्पर्य है कि जिस गुण की उत्पत्ति होने पर जीवात्मा अपने को प्रज्जवलित सा सोचने लगता है, उसी का नाम 'द्वेष' है।[3] दुःख सहकृत आत्म मनः संयोग से इसकी उत्पत्ति आत्मा

---

1. भाषा - परिच्छेद - कारिका 147
2. भाषा परिच्छेद - कारिका 147
3. प्रशस्तपादभाष्य

में होती है। यह द्वेष दो प्रकार का होता है :- दु:ख विषयक और दु:खोपाय विषयक। प्रथम दु:ख के प्रति तथा द्वितीय दु:ख के कारण से द्वेष है। दूसरे के प्रति बलवद्द्विष्ट साधनता ज्ञान कारण है तथा बलवदिष्ट साधनताज्ञान प्रतिबन्धक होता है। [1]

प्रयत्न

प्रयत्न :- 'प्रयत्न' का लक्षण 'ग्रन्थकारों' द्वारा उत्साहोप्रयत्न:, 'कृति:प्रयत्न:' 'प्रयत्वत्व सामान्यवानुत्साहरूपश्च प्रयत्न:' आदि किया गया है, तात्पर्य यह है कि यत्न अथवा प्रयत्न उस गुण को कहते है जो इच्छा या द्वेष से उत्पन्न और चेष्टा का उत्पादक होता है। हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के अनुकूल शारीरिक क्रिया का नाम 'चेष्टा' है।

यह प्रयत्न गुण समवाय सम्बन्ध से 'आत्मा' में ही रहता है, यह भी बुद्धि आदि के समान 'नित्य' और अनित्य दो प्रकार का होता है, ईश्वर का प्रयत्न 'नित्य' तथा 'जीवात्मा' का प्रयत्न 'अनित्य' माना जाता है। इस अनित्य प्रयत्न के सभी ग्रन्थकारों ने तीन भेद स्वीकार किये हैं :- प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवनयोनि: । जीवनयोनि प्रयत्न को अतीन्द्रिय माना गया है।

'प्रवृत्ति' रूप प्रयत्न का लक्षण 'रागजन्यो गुण: प्रवृत्ति:' किया गया है, अर्थात् उत्कट इच्छारूप राग से उत्पन्न जो गुण है, उसे 'प्रवृत्ति' कहते हैं, जिस वस्तु में राग होता है, उसकी वस्तु को ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है, राग के बिना प्रवृत्ति नहीं होती, अत: प्रवृत्ति राग से जन्य होती है।

इसी प्रकार 'निवृत्ति' रूप प्रयत्न का लक्षण 'द्वेषजन्यो द्वेषाऽविषयक: गुण: निवृत्ति' किया जा सकता है, तात्पर्य यह है कि द्वेष से जन्य और द्वेष को विषय न करने वाला गुण 'निवृत्ति' है, जिस पदार्थ में द्वेष रहता है, उस पदार्थ को त्यागने (निवृत्ति) की इच्छा होती है। द्वेष के बिना निवृत्ति नहीं होती, अत: निवृत्ति, द्वेष से जन्य होती है।

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 149

तृतीय भेद 'जीवनयोनि' का लक्षण - 'जीवनादृष्टजन्यो गुणः जीवनयोनिः' है अर्थात् जीवन के कारणभूत पाप और पुण्य रूप अदृष्ट से जन्य गुण को 'जीवनयोनि प्रयत्न' कहते हैं, यह जीवनयोनि प्रयत्न शरीर में श्वासउच्छ्वास रूप प्राण संचार में कारण होता है। प्राणी का जब तक जीवन-काल रहता है, तब तक यह प्रयत्न भी रहता है।

उपरोक्त तीनों प्रयत्नों में से प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप प्रयत्नों का जिस प्रकार मानस प्रत्यक्ष होता है, वैसे जीवनयोनि प्रयत्न का नहीं होता ।

प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवनयोनि, इन तीन भेदों में से 'प्रवृत्ति' नामक प्रयत्न के 'विश्वनाथ'[1] ने चार कारण बताये हैं :- चिकीर्षा, कृतिसाध्यताज्ञान, इष्टसाधनताज्ञान और उपादान का प्रत्यक्ष। विश्वनाथ ने भाषा - परिच्छेद की टीका 'मुक्तावली' में इनका बहुत ही विस्तृत विवेचन किया है। अब इनका संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है :-

यथा - कुलाल जब यह सोचता है कि "मै अपनी प्रयत्न रूप कृति से घट का निर्माण करूँ" अर्थात 'घट कृत्या साधयामि' इस प्रकार की 'कृतिसाध्यत्व प्रकारक इच्छारूप चिकीर्षा' जब उसे होती है, तथा यह 'घट' मेरे प्रयत्नरूप कृत से निर्मित होने योग्य है, अर्थात 'अयं घटः मत्कृतिसाध्यः' इस प्रकार का 'कृतिसाध्यताज्ञान' उसे होता है, तथा यह घट मेरे इष्ट का साधन है अर्थात् 'अयं घटः मदिष्टसाधनम्' इस प्रकार 'इष्टसाधनता का ज्ञान' जब उसे होता है तथा यह घट, मिट्टी से उत्पन्न होगा, अर्थात् 'अयं घटः मृतिकया निर्मितो भवेत्' इस प्रकार से 'घट' के समवायिकारण रूप 'उपादान (मिट्टी) का ज्ञान होता है, तभी वह कुलाल, घट के निर्माण में प्रवृत्त होता है। इन चिकीर्षा आदि चारों कारणों के बिना उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसी प्रकार अन्य चेतन प्राणियों की प्रवृत्ति भी इन्हीं चार कारणों से हुआ करती है। अतः प्रवृत्ति के लिये इन चारों कारणों का होना आवश्यक है।

इस विषय का विश्वनाथ ने अपनी मुक्तावली में विभिन्न शंकायें एवं उनका समाधान करके, विस्तृत विवेचन किया है।

---

1. सप्तपदार्थी - 'प्रयत्नोऽपि विहित प्रतिषिद्धो दासीन विषयः

प्रयत्न के भेदों के विषय में कुछ मतभेद भी हैं, 'नवीन नैयायिक' प्रवृत्ति और निवृत्ति, ये दो प्रकार के ही प्रयत्न मानते है, ये 'जीवनयोनि' रूप प्रयत्न को नहीं मानते । शिवादित्य ने भी प्रयत्न का वर्गीकरण कुछ भिन्न प्रकार किया है।[1] - ये प्रयत्न के निम्नलिखित तीन भेद मानते हैं :-

विहितविषयक, प्रतिषिद्ध विषयक तथा उदासीन विषयक प्रयत्न ।

गुरूत्व :- गुरूत्व गुण कारण गुण प्रक्रिया से जन्य माना गया है। सभी ग्रन्थकारों ने 'आद्य पतन के असमवायिकारण को 'गुरूत्व' गुण कहा है। यह गुण पृथिवी और जल इन दो द्रव्यों में रहता है, नित्य पृथिवी और जल में नित्य एवं अनित्य पृथिवी और जल में अनित्य होता है। यह 'गुरूत्व' गुण अतीन्द्रिय माना गया है। वैशेषिक सूत्रकार ने कहा है कि संयोग, वेग और प्रयत्न ये तीनों पतन के प्रतिबन्धक है, अत: इनके अभाव में 'गुरूत्व' के कारण पतन होता है।

द्रवत्व

द्रवत्व :- 'आद्य स्यन्दन के [प्रथम बहने के] असमवायिकारण को 'द्रवत्व' कहते है। यह पृथिवी, जल और तेज में रहता है। यह 'द्रवत्व' गुण दो प्रकार का होता है :- नैमित्तिक और सांसिद्धिक । 'सांसिद्धिक द्रवत्व' जल में रहता है, तथा 'नैमित्तिक द्रवत्व' पृथिवी और तेज में रहता है। पार्थिव घृतादि तथा तैजस सुवर्ण आदि में अग्निसंयोग से उत्पन्न होने वाला नैमित्तिक द्रवत्व रहता है।

स्नेह

स्नेह :- 'स्नेह' गुण चिकनेपन को कहते हैं, अथवा चूर्णादि को मिला देने वाले गुण को 'स्नेह' गुण कहा जाता है। यह 'कारणगुणपूर्वक' होता है। स्नेह गुण मात्र 'जल' द्रव्य में ही रहता है। यह नित्य और अनित्य दो प्रकार का होता है, नित्य जलीय परमाणु में नित्य, तथा अनित्य द्वयणुकादि अवयवी जल में 'अनित्य' होता है।

---

1. सप्तपदार्थी - 'प्रयत्नोऽपि विहित प्रतिषिद्धो दासीन विषय:'

'स्नेह' गुण मात्र जल में ही रहता है, इस पर शंका होती है कि तेल तो पृथिवी ही है, उसमें भी स्नेह गुण देखा जाता है, अतः स्नेह जलीय नहीं हो सकता, यदि जलीय होता तो अग्नि के प्रतिकूल होता, तब इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि तेल मे जो स्नेह गुण की प्रतीति होती है, वह भी जलीय ही होती है, तेल में स्नेह की अधिकता के कारण ही, तेल का स्नेह अग्नि के अनुकूल होता है, क्योंकि अपकृष्ट स्नेह वाला जल ही अग्नि का नाशक होता है।[1] अतः स्नेह जल का ही गुण है।

संस्कार

संस्कार :- जहां तक 'संस्कारः', के स्वरूप का प्रश्न है, तो इसकी व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है 'संस्करोति इति संस्कारः', वैसे 'संस्कार' का लक्षण इस प्रकार किया गया है:- 'संस्कारत्वजातिर्मान् संस्कारः', 'संस्कारव्यवहाराऽसाधारणं कारणं संस्कारः' आदि किया गया है, तात्पर्य यह है कि संस्कारत्व जाति जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहती है तथा जो संस्कार व्यवहार का असाधारण कारण है, वह गुण 'संस्कार' कहा जाता है। यह संस्कार गुण - पृथिवी, जल, तेज, वायु, आत्मा और मन इन छः द्रव्यों में रहता है।

सभी ग्रन्थकारों ने संस्कार के तीन भेद स्वीकार किये हैं :- वेग, भावना और स्थितिस्थापक ।

वेग :- 'वेगत्वजातिमान् वेगः' अर्थात् वेगत्व जाति से युक्त 'वेग' संस्कार कहा जाता है । यह केवल मूर्तद्रव्यों अथवा पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पांच द्रव्यों में ही रहता है। यह दो प्रकार का होता है :- कर्मज और विभागज ।

शरीद में नोदन के बाद एक कर्म उत्पन्न होता है, उससे वेग उत्पन्न होता है। वेगत्व जाति प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस वेग से वेगजनक पूर्वकर्म का नाश होता है और उसके बाद अगला कर्म होता है, इसी प्रकार आगे भी पूर्व वेग का नाश तथा

---

1. भाषा परिच्छेद - करिका 157

अन्य वेग की उत्पत्ति होती है, जिस वेगयुक्त कपाल से उत्पन्न घट में वेग उत्पन्न होता है, वह 'वेगज वेग' कहा जाता है।[1]

भावना :- 'तर्ककौमुदी' में लौगाक्षिभास्कर ने 'पूर्वानुभवजन्यः स्मृतिहेतुः संस्कारो भावना' इस प्रकार 'भावना' का लक्षण बताया है, तात्पर्य यह है कि पूर्वानुभव से जन्य, स्मृति का हेतु, 'भावना' नामक संस्कार होता है, यह आत्मा में ही रहने वाले, अनुभव जन्य अतीन्द्रिय और स्मृति का हेत होता है, तर्कभाषाकार ने कहा है कि यह उद्बुध होकर ही स्मृति को उत्पन्न करता है, 'उद्बोध' का अर्थ है 'सहकारिका प्राप्त होना' संस्कार के सहकारी 'सदृश दर्शन' आदि होते हैं।[2] जैसा कि कहा भी गया है कि 'सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' अर्थात सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता आदि स्मृति के बीज (संस्कार) के उद्बोधक हैं।

स्थितिस्थापक :- 'लौगाक्षिभास्कर' ने इसका 'आश्रयपूर्णावस्थापादकः संस्कारः स्थिति स्थापकः' ऐसा लक्षण किया है, तात्पर्य यह है कि आश्रय की पूर्वावस्था को प्राप्त कराने वाला संस्कार 'स्थितिस्थापक' कहा जाता है, जैसा कि इसकी व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट होता है' (पूर्व) स्थितौ स्थापयति स्थिति स्थापकः' ।

यह संस्कार स्पर्शयुक्त द्रव्य विशेषों में रहने वाला होता है, तथा उस द्रव्य को पुनः पूर्व अवस्था में पहुंचा देता है।[3] यह - 'भावना' आत्मा का विशेष गुण होता है।

यह स्थितिस्थापक संस्कार पृथिवी, जल, तेज, तथा वायु में रहता है, ऐसा प्रशस्तपादादि का मत है। परन्तु विश्वनाथ आदि केवल पृथिवी में ही स्थितिस्थापक मानते हैं, अन्य द्रव्यों में नहीं ।[4]

---

1. भाषा परिच्छेक - कारिका 158
2. केशवमिश्र कृत तर्कभाषा - विश्वेश्वर टीका - पृष्ठ - 212
3. तर्कसंग्रह
4. तर्ककिरणावली, पृष्ठ 26

धर्म

धर्म :- जहाँ तक 'धर्म' शब्द के अर्थ का प्रश्न है तो भारतीय न्यायशास्त्र में 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है. किसी भी पदार्थ विद्यमान वह तत्व, जिसके कारण उसे अन्य पदार्थ के सदृश अथवा उससे भिन्न कहा जाता है, उसे भी 'धर्म' कहते हैं, यथा पृथिवी में विद्यमान पृथिवीत्व उसका धर्म कहा जाता है। [1] कणाद ने जिसके द्वारा तत्वज्ञान तथा आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति हो, उसे धर्म कहा है।[2] जैमिनी क्रिया में प्रवृत्त कराने वाले वचनों से लक्षित होने वाले तथा उन वचनों से प्रेरित, पुरूष को निःश्रेयस् देने वाले अर्थ को 'धर्म' कहा है।[3] मनुस्मृति में वेद स्मृति, सदाचार आदि साक्षात् धर्म तथा धैर्य, क्षमा, दमन, चोरी का त्याग आदि दस प्रकार के धर्म बताये गये हैं।[4] इस प्रकार धर्म के विषय में विद्वानों में मतैक्य नही है ।

किन्तु प्रस्तुत स्थल पर 'धर्म' शब्द उपरोक्त अर्थों से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, प्रशस्तपाद के अनुसार यह धर्म आत्मा का अतीन्द्रिय गुण है, कर्म का सामर्थ्य नहीं । वैसे 'धर्म' शब्द का सामान्य अर्थ है - 'धारयते इति धर्मः' अर्थात जिसे धारण किया जाये वह धर्म है। न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में 'धर्म' का लक्षण इस प्रकार बताया गया है - 'विहितकर्मजन्यो धर्मः', 'विहितक्रियासाध्यो धर्मः' तथा 'सुखासाधारणकारणो धर्मः' अर्थात विहित कर्मो से उत्पन्न धर्म है तथा सुख का असाधारण कारण धर्म है। यह प्रत्यक्षगम्य न होने पर भी अनुमान और आगम से गम्य है। 'जगदीश तर्कालंकार' ने उपरोक्त लक्षण में 'श्रुति' शब्द जोड़कर धर्म का लक्षण 'श्रुतिविहितकर्मजन्यो धर्मः' किया है। विश्वनाथ ने 'स्वर्ग आदि के साधन को धर्म' कहा है। इसमें प्रमाण यह है कि योग, होम, दान, गंगा-स्नान आदि क्रियाओं के द्वारा भविष्य में धर्म की कल्पना की जाती है और यह धर्म भोग से ही नष्ट होता है, काल से नहीं, ऐसा

---

1. तर्ककिरणावली, पृष्ठ 26
5. वैशेषिक सूत्र - 1/1/2 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'
3. मीमांसा सूत्र - 1/1/2 तथा शाबरभाष्य
4. मनुस्मृति - 2/12, 6/92

ही उदयनाचार्य ने भी 'कुसुमांजलि' में कहा है कि 'चिरध्वस्तंफलायालं न कर्मातिशय बिना' अर्थात चिरकाल से ध्वस्त यागादि कर्म अतिशय [अपूर्व नामक अवान्तर व्यापार] के बिना स्वर्ग आदि फल देने में समर्थ नहीं हो सकता, अतः धर्म को ही अवान्तरव्यापार माना जाता है।

अधर्म

अधर्म :- धर्म के समान 'अधर्म' भी आत्मा का गुण है, इसकी उत्पत्ति वेद विरोधी कर्मों अर्थात् हिंसा आदि के द्वारा होती है। धर्म के समान ही अधर्म का नाश भी भोग के द्वारा ही होता है। विश्वनाथ ने अधर्म का नाश प्रायश्चित द्वारा भी बताया है।[1]

अब जहां तक 'अधर्म' का प्रश्न है तो नरकादीनां हेतुर्निन्दितकर्मजः अधर्मो', 'दुःखासाधारणकारण अधर्मः' तथा 'श्रुतिविरूद्धाचरणजन्यः अधर्मः', निहित क्रियासाध्यो अधर्मः' तथा 'निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः' आदि इसके लक्षण किये गये हैं' तात्पर्य यह है कि निषिद्ध एवं निन्दित कर्मों से जन्य नरक आदि साधन 'अधर्म' हैं।

ये दोनों धर्म और अधर्म 'अदृष्ट' के ही दो भेद माने गये हैं और ये दोनों वासना से जन्य है, और ज्ञान से नष्ट होते है। चूंकि धर्म और अधर्म वासना से जन्य है, अतः ज्ञानियों द्वारा किये गये शुभ अथवा अशुभ कार्य से धर्म अथवा अधर्म की उत्पत्ति नही होती ।

शब्द

शब्द :- अब गुणों में अन्तिम 'शब्द' गुण का विवेचन किया जा रहा है :- 'शब्द' का लक्षण 'श्रोत्रग्राह्यो गुणोशब्दः' किया गया है तात्पर्य यह है कि जिस गुण का ग्रहण 'श्रोत्रेन्द्रिय' द्वारा होता है, वह गुण शब्द कहा जाता है। यह 'शब्द' आकाश का विशेष गुण माना जाता है। कारिकावलीकार तथा तर्कसंग्रहकार ने शब्द के दो भेद बताये हैं। ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक किन्तु लौगाक्षिभास्कर ने 'तर्ककौमुदी में प्रथमतः इसके तीन भेद बताये हैं :- संयोग, विभागज और शब्दज ।

---

1. भाषा परिच्छेद - कारिका ।63

'भेरी आदि से उत्पन्न शब्द 'ध्वन्यात्मक' तथा संस्कृतभाषादिरूप शब्द 'वर्णात्मक' होता है। लोगाक्षिभास्कर ने भेरी आदि से उत्पन्न शब्द को 'संयोगज' कहा है, बांस के फाड़ने से जो चट-चट शब्द उत्पन्न होता है, उसे 'विभागज' कहते हैं और 'वीचीतरंगन्याय' तथा 'कदम्बगोलक न्याय' से जो द्वितीय आदि शब्द उत्पन्न होते हैं, वे 'शाब्दज - है। लौगाक्षिभास्कर ने इसके पुनः दो भेद किये हैं :- वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक । इन्होंने 'ताल्वादिव्यापार प्रभवो वर्णात्मकः' तथा मृदंगादिप्रभवों ध्वनि' इस प्रकार वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक का लक्षण किया है।

अब यह शंका होती है कि 'शब्द' का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा कैसे होता है ? तो 'न्याय' शब्द की गति या उत्पत्ति दो प्रकार से मानता है - वीचीतरंगन्याय और कदम्बमुकुल न्याय से । दोनों में अन्तर मात्र इतना ही है कि 'वीचीतरंगन्याय' में चारों दिशाओं में फैलने वाली शब्द की एक लहर सी होती है और 'कदम्बमुकुल न्याय' में चारों दिशाओं में उत्पन्न होने वाले शब्द अलग-अलग से होते हैं। इन दोनों प्रकार से होने वाले शब्द ग्रहण का विस्तृत निरूपण केशवमिश्र ने 'तर्कभाषा' में किया है। शब्द को मीमांसक नित्य मानते हैं, अतः उसका खण्डन करते हुये, विश्वनाथ कहते हैं कि 'उत्पन्नः को विनष्टःक इति बुद्धेरनित्यता' अर्थात् यह उत्पन्न ककार है और यह विनष्ट ककार है, इस प्रकार शब्दों की उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति होने से शब्दों को अनित्य मानना चाहिये। किन्तु इस पर यदि शंका की जाये कि 'सोडयं ककारः' प्रतीति के आधार पर शब्दों को नित्य ही माना जा सकता है और उत्पन्न तथा विनाश बुद्धि भ्रमरूप ही है, तो विश्वनाथ कहते हैं कि यह मत उचित नहीं है, क्योंकि 'सोडयं ककारः' यह बुद्धि सजातीयता के आधार पर होती है।[1] इस पर शंका होती है कि सजातीय में भी प्रत्यभिज्ञा क्या दृष्ट है, क्योंकि 'यह वही ओषध है' यहां सजातीय में प्रत्यभिज्ञा स्पष्ट है।

केशवमिश्र का कहना है कि शब्द का अनित्यत्व अनुमान से सिद्ध होता है और वह अनुमान इस प्रकार है :- 'शब्द अनित्य है, सामान्यवान होते हुये अस्मदादि

---

1. भाषा परिच्छेद - कारिका 167

की बाह्येन्द्रियों से ग्राह्य होने से घट के समान । जैसे - घट, घटत्व सामान्य रहने के कारण सामान्यवान ' है और अस्मदादि की ग्राह्येन्द्रियों से ग्राह्य है तथा अनित्य है, उसी प्रकार शब्द भी सामान्यवान् तथा अस्मदादि की बाह्येन्द्रिय श्रोत से ग्रहण होने के कारण अनित्य ही होगा, यह अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है।

इस प्रकार नैयायिक तथा वैशेषिक 'शब्द' को अनित्य ही मानते हैं ।

सप्तम अध्याय

(क) "कर्म से अभाव" तक के पदार्थों का निरूपण

(ख) शक्ति और सादृश्य की अतिरिक्त पदार्थता का खण्डन

(ग) सातों पदार्थों का साधर्म्य निरूपण

वैशेषिक दर्शन में मान्य तृतीय पदार्थ 'कर्म' है. अन गुण के पश्चात् अब 'कर्म' पदार्थ का लक्षण भेद पूर्वक विवेचन किया जा रहा है.-

कर्म पदार्थ द्रव्य तथा गुण आदि पदार्थों से भिन्न तत्व है, किन्तु भासर्वज्ञ इसे गुण से पृथक, नहीं मानते,[1] किन्तु न्याय-वैशेषिक इस पक्ष को स्वीकार नहीं करते वे कर्म को द्रव्य और गुण से पृथक् ही मानते हैं । कर्म के विषय में अनेक मत मतान्तर हैं, विश्लेषण करने पर 'कर्म' शब्द के अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं, यथा उत्तरदेश संयोग, क्रिया आदि । कुछ लोगों ने किसी कार्य के कारणी भूत उपाय को भी 'कर्म' शब्द का अर्थ बताया है। और कुछ ने 'कृति' को कर्म कहा है। इस प्रकार कर्म शब्द नानार्थक है।

अब जहां तक 'कर्म' के लक्षण का प्रश्न है तो नैयायिक और वैशेषिक दार्शनिकों ने 'संयोग और विभाग के प्रति निरपेक्ष कारण को ही कर्म' बतलाया है।[2] यहां 'निरपेक्ष' शब्द का अभिप्राय किसी दूसरे भाव पदार्थ की अपेक्षा न रखना है।

न्याय वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में 'कर्म' का लक्षण दो प्रकार से किया गया है :-

(1) संयोग विभाग का असमवायिकारण 'कर्म' पदार्थ है और दूसरा "गति रूप कर्म होता है" कुछ विद्वानों ने 'कर्तव्य जाति जिसमें रहती है' ऐसा लक्षण भी किया है। यह कर्मत्व जाति प्रत्यक्ष है, अत इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

---

1. न्याय भूषण, पृ0 158
2. वैशेषिक सूत्र - 1/1/17

तर्कसंग्रह की दीपिका टीका में "अन्नम्भट्ट" ने भी कर्म का लक्षण 'संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायि कारणं कर्म' किया है।

कर्म का आश्रय:- अब यह जानना भी आवश्यक है कि कर्म किन-किन पदार्थों में रहता है- यह तो ज्ञात ही है कि कर्म पदार्थ केवल द्रव्य में ही रहता है, यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच मूर्त द्रव्यों में ही समवाय सम्बन्ध से रहता है । आकाश, काल, दिग् और आत्मा इन चार द्रव्यों में कर्म पदार्थ नहीं रहता । ये कर्म अनित्य ही होते हैं । क्योंकि ये उत्पाद और विनाशशाली होते है ।

कर्म के आश्रया के विषय में केशवमिश्र तथा अन्नभट्ट में मतभेद है - केशव मिश्र ने कर्म को सभी द्रव्यों में रहने वाला बताया है, जबके अन्नभट्ट ने कर्म को पृथ्वी आदे चार मूर्त द्रव्यों तथा मन में रहने वाला बताया है ।

कर्म प्रक्रिया :- कर्म प्रक्रिया का विवेचन जगदीश तर्कालंकार ने 'तर्कामृत' में इस प्रकार किया है :-

नोदन नामक संयोग से प्रथम कर्म उत्पन्न होता है, द्वितीयादि कर्म वेग से उत्पन्न होता है, क्रिया से विभाग, विभाग से पूर्व संयोग नाश, पूर्व संयोग नाश से उत्तर देश संयोग की उत्पत्ति होती है, फिर कर्म और विभाग का नाश होता है ।

कर्म की उत्पत्ति:- कर्म सदैव द्रव्य में ही उत्पन्न होता है तथा उत्पन्न होकर द्रव्य में ही रहता है इस लिए कर्म का आश्रय तथा कारण, द्रव्य ही होता है[1] । द्रव्य कर्म का असमवायिकरण होता है- 'गुण कर्म मात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्य समावायिहेतुत्वेम्'[1] अर्थात असमवायिकाणत्व गुण तथा कर्म मात्र में रहने वाला धर्म है, इससे सिद्ध होता है कि कर्म जब भी होगा तो असमवायिकारण ही होगा ;

कर्म की उत्पत्ति वेग से, गुरूत्व से तथा द्रवत्व से भी होती है ।

---

(1) भाषा परिच्छेद ।

कर्म की स्थिति:- कर्म की स्थिति के विषय में विभिन्न मत-मतान्तर हैं, कुछ दार्शनिक कर्म की स्थिति, उत्पत्ति के क्षण सहित चार क्षण मानते हैं, तथा कुछ छः अथवा सात क्षण मानते हैं । कर्म का नाश कहीं उत्तर संयोग के नाश से तथा कहीं आश्रय के नाश से होता है[1] ।

कर्म भेद:- कर्म अनन्त और असंख्य है, अतः उनके वर्गीकरण के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक ही है । कुछ विद्वानों ने कर्मो को तीन वर्गो में बाँटा है:-

सत्प्रत्यय कर्म, असत्प्रत्यय कर्म और अप्रत्यय कर्म । शरीर के अवयवों में प्रयत्न से उत्पन्न होने वाला कर्म 'सत्प्रत्यय कर्म' है, बिना प्रयत्न के उत्पन्न होनेवाला कर्म 'असत्प्रत्यय' कर्म और शरीर के अवयवों से भिन्न तत्वों में उत्पन्न होने वाला कर्म 'अप्रत्यय' कर्म है ।

सप्त पदार्थो में शिवादित्य ने इन सब कर्मो को विहित, प्रतिषिद्ध और उदासीन विषयों के आधार पर तीन प्रकार का माना है ।

किन्तु जहाँ तक न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में कर्म के भेदों का प्रश्न है तो इनमें कर्म के पाँच भेद बताये गये हैं :- उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुन्चन, प्रसारण और गमन । इन सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में से तर्कभाषा, तार्किकरक्षा, तर्कामृत तथा कारिकावली में तो कर्म के इन पाँच भेदों का नाम मात्र ही उल्लेख किया गया है, किन्तु तर्ककौमुदी तथा तर्क संग्रह में इन पाँचों कर्म भेदों का लक्षणपूर्वक विवेचन किया गया है ।

उत्क्षेपण:- लौगाक्षिभास्कर तथा अन्नभट्ट दोनों ने ही इसका लक्षण ' उर्ध्वदेश संयोगहेतुः कर्मोत्क्षेपणम्' किया है, अभिप्राय यह है कि उर्ध्वदेश संयोग का असमवायिकारण, जो कर्म है, वह 'उत्क्षेपण' कर्म कहलाता है । न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की विलासिनी टीका में भी इस कर्म का 'लक्षण' ऊर्ध्वदेश संयोगासमवायिकारणं कर्म

---

(1) लौगाक्षिभास्कर कृत 'तर्ककौमुदी ।

उत्क्षेपणम्' किया है, अर्थात् मूर्त द्रव्यों का जो ऊर्ध्वदेश के साथ संयोग होता है, उस संयोग के असमवायिकारणभूत कर्म को 'उत्क्षेपण' कर्म कहा जाता है। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की विलासिनी टीका में भी इस कर्म का 'लक्षण' अर्ध्वदेश संयोगासमवायिकारण कर्म उत्क्षेपणम् किया है, अर्थात् मूर्त्त द्रव्यों का जो अर्ध्वदेश के साथ संयोग होता है, उस संयोग के असमवायिकारणम् कर्म को 'उत्क्षेपण' कर्म कहा, जाता है। इसे सरल भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी मूर्त द्रव्य घट-पट आदि को उठाकर फेंकने का नाम ही उत्क्षेपण' है। उत्क्षेपण कर्म को सम्पन्न करने के लिए ऊपर फेंकी जाने वाली वस्तु में गुरूत्व तथा उसका हाथ के साथ संयोग होना आवश्यक है।

<u>अपक्षेपण</u> :- अन्नम्भट्ट तथा लौगाक्षिभास्कर ने इसका लक्षण 'अधोदेशसंयोगहेतुरपक्षेपणं' किया है, अर्थात् अधोदेश संयोग का हेतु, जो कर्म है, वह 'अपक्षेपण' कर्म कहलाता है। इसी लक्षण को और स्पष्ट करते हुये मुक्तावली की विलासिनी' टीका में इसका लक्षण 'अधोदेशसंयोगासमवायिकारणत्वमपक्षेपणत्वम्' किया है, तात्पर्य यह है कि नीचे के प्रदेश में विद्यमान द्रव्य के साथ होने वाले संयोग के प्रति असमवायिकारणीभूत कर्म को अपक्षेपण कहा जाता है। अपक्षेपण कर्म के लिये भी उत्क्षेपण के भाँति ही गुरूत्व संयोग, इच्छा एवं प्रयत्न आदि कारणों का होना आवश्यक है।

<u>आकुन्चन</u> :- इसका लक्षण 'अन्नभट्ट तथा लौगाक्षिभाष्कर ने क्रमशः 'शरीरसंनिकृष्टसंयोग हेतु राकुच्चनम' तथा 'स्वसंनिकृष्टसंयोगहेतुः कर्माकुच्चनम्' किया है, तात्पर्य यह है कि शरीर के समीप अथवा अपने समीप संयोग का हेतु 'आकुन्चन' है। इसी लक्षण को और स्पष्ट करते हुये मुक्तावली की विलासिनी' टीका में इसका लक्षण 'शरीरसन्निकृष्टसंयोगासमवायिकरणत्वमाकुन्चनत्वम्' किया है, तात्पर्य यह है कि 'शरीर के अवयवों के हाथा-पैर आदि अवयवों के संकोच करने से उन हाथ-पैर आदि अवयवों का सन्निकृष्ट देश के साथ संयोग होता है, उस संयोग के असमवायिकरणीभूत हाथ-पैर में रहने वाले कर्म को 'आकुन्चन' कहते हैं ।

प्रायः यह देखा जाता है कि शरीर के हाथ-पैर आदि अंगों के संकुचित होने से उनका सन्निकृष्ट देश के साथ संयोग हो जाता है, उस संयोग का असमवायिकारण उन हाथ-पैर आदि अंगों की क्रिया है, उसी क्रिया को आकुन्चन कहते हैं। संक्षेप में शरीर के पारस्परिक हस्त-पाद आदि अवयवों के संकोच के कारणीभूत कर्म को

प्रसारण :- इसका लक्षण अन्नभट्ट तथा लौगाक्षिभाष्कर ने क्रमशः 'विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्' तथा 'स्वविप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्' किया है । तात्पर्य यह है कि शरीर से तथा अपने से दूर संयोग का हेतु 'प्रसारण' है । इसे स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है कि - प्रसारण उस क्रिया विशेष को कहते हैं जो क्रिया आकुन्चन क्रिया से सर्वथा विपरीत हो । शरीररूप अवयवीभूत द्रव्य के हाथ-पैर आदि अवयवभूत अंगों को फैला देने से उन अंगों का विप्रकृष्ट देश के साथ संयोग होता है, उसकी कार्णभूत हस्त-पाद आदि में रहने वाली क्रिया विशेष है, उसी क्रिया-विशेष का नाम 'प्रसारण' है । संक्षेप में किसी मूर्तद्रव्य के फैल जाने के कारण संकुचित प्रदेश की अपेक्षा दूर देश के साथ होने वाले संयोग के असमवायिकारणीभूत कर्म को 'प्रसारण' कहते हैं ।

गमन :- अन्नंभट्ट तथा लौगाक्षिभाष्कर ने इसका लक्षण 'अन्यत्सर्वं गमनम्' किया है, तात्पर्य यह है कि उपरोक्त चारों कर्मो से भिन्न जितने भी कर्म हैं, वे सब कर्म 'गमन' ही हैं । गमन वह क्रिया है, जो अनियमित रूप से किसी दिक्प्रदेश के साथ संयोग और विभाग को उत्पन्न करे, पुनः मूर्तद्रव्य का नियम से रहित उत्तरदेश के साथ संयोग के असमवायिकारणीभूत कर्म को भी 'गमन' कहते हैं[1] ।

मुक्तावली के विलासिनी टीकाकार ने जो कर्म उत्क्षेपण आदि चार प्रकार के कर्मो से भिन्न हो और संयोग तथा विभाग का असमवायिकारण हो, वही गमन है 'वैशेषिक सूत्रोपस्कार' में 'गमनत्वजातिमद् गमनम्' गमन का लक्षण किया गया है ।

कर्म-भेद के विषय में शंका एवं समाधान :- कर्म-भेद के विषय में यह शंका होती है कि उत्क्षेपणादि पाँच प्रकार के ही कर्म होते हैं, यह उचित नहीं, क्योंकि भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्वजलन और तिर्यक्गमन, नमन तथा उन्नयन इत्यादि कर्मो की प्रतीति भी होती है, फिर उपरोक्त पाँच प्रकार के ही कर्म किस प्रकार माने जा सकते हैं तब इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि भ्रमणादि सभी कर्मो का अन्तर्भाव 'गमन' मे ही हो जाता है, ये भ्रमण आदि कर्म, गमन से पृथक नही है, अतः इन्हें 'गमन' कर्म से पृथक मानना उचित नहीं है ।

---

(1) प्रशस्तपादभाष्य - 'यदनियतदिक्प्रदेश संयोगसमवायिकारणम् तद् गमनम् ।

इस पर पुनः यह शंका उठ सकती है कि जिस प्रकार भ्रमण आदि कर्म, गमन में ही अन्तर्भूत हैं, उसी प्रकार उत्क्षेपण आदि चारों कर्मों को भी गमन में ही अर्न्तभूत मानना उचित है, क्योंकि उर्ध्वदेश में फेके हुये लोष्ठादि के विषय में 'उर्ध्वंगच्छति , अधोगच्छति' इस प्रकार की प्रतीति सभी को होती है, और वह प्रतीति लोष्ठादि के उत्क्षेपण के गमनत्व धर्म को ही विषय करती है, अतः भ्रमण आदि के भाँति उन उत्क्षेपण आदि को भी गमन में अन्तर्भूत मानना चाहिये।

तब इस शंका के समाधानार्थ यही कहा जा सकता है कि यद्यपि उत्क्षेपण आदि का अन्तर्भाव, गमन में ही हो सकता है, किन्तु चूँकि कणाद आदि ने पाँच प्रकार के कर्मों का उल्लेख किया है, अतः पाँच प्रकार के ही कर्म मानने चाहिये और भ्रमण आदि का 'गमन' में ही अन्तर्भाव मानना चाहिये[1]।

सामान्य

वैशेषिक दर्शन में मान्य चतुर्थ पदार्थ सामान्य है, अतः कर्म के पश्चात् अब इसका विवेचन किया जा रहा है :-

सामान्य को विभिन्न वस्तुओं में अनुगतप्रतीति के कारण ही स्वीकार किया गया है। सामान्य जाति है जो कि अनुगत प्रतीति का कारण है। किसी वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में जो एकाकार की प्रतीति अथवा अनुगत व्यवहार होता है , वह जाति अर्थात सामान्य के ही कारण होता है। जैसे अनेक मनुष्यों में रहने वाला मनुष्यत्व 'सामान्य' है, यह मनुष्यत्व सभी मनुष्यों का समान धर्म है, जिसके कारण परस्पर भिन्न मनुष्यों में एकाकार की प्रतीति होती है।

---

(1) न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 7

तथा

केशवमिश्रकृत तर्कभाषा - 'भ्रमणादयस्तुगमनग्रहणेनैव गृह्यन्ते'

अब जहाँ तक इसके 'लक्षण' का प्रश्न है तो सूत्रकार 'कणाद' ने सामान्य का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं किया है, किन्तु प्रशस्तपाद ने 'अनुवृत्तिप्रत्यय अर्थात् अनेके में एकत्व बुद्धि के हेतु को सामान्य' कहा है[1]। महर्षि वात्स्यायन[2] ने 'या समानां बुद्धि प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतेतरते न व्यावेर्तन्ते योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्ति निमित्तं तत् सामान्यम्' अर्थात् भिन्न-भिन्ने अधिकरणों में समानाकारक बुद्धि को उत्पन्न करने वाला ही सामान्य- जाति कहलाता है।

न्याय-वैशेषिक के सम्मिलित प्रकरण ग्रन्थों में सामान्ये का लक्षण - 'नित्यमेकअनेकवृत्ति सामान्यम्' नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम सामान्यम् ' तथा 'अनुवृत्ति प्रत्यय हेतुः सामान्यम्' किया गया है। अभिप्राय यह है कि जो नित्य हो, एक हो और अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहता हो, तथा जो समानाकारक प्रतीति अर्थात् अनुगतप्रतीति का कारण हो, उसे सामान्य अथवा जाति कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि एक से अधिक वस्तुओं में जो नित्य समानता की प्रतीति होती है, वह 'सामान्य' पदार्थ के कारण ही होती है। संयोग, संख्या, आकाश का परिमाण आदि 'सामान्य' (जाति) नहीं है। यह सामान्य पदार्थ, वैशेषिक दर्शन का एक महत्वपूर्ण पदार्थ है।

सामान्य भेद :- अब जहाँ तक सामान्य के भेदों का प्रश्न है तो इसका वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है :-

प्रथम वर्गीकरण - तर्कभाषा, तर्कसंग्रह, तर्ककौमुदी मे इसके भेद बताये गये है:- पर सामान्य अपर सामान्य । तर्ककौमुदीकार ने इसके व्यावहारिक दृष्टि से पुनः दो भेद बताये हैं :- जातिरूप और उपाधिरूप, किन्तु विश्वनाथ ने भाषा परिच्छेद में सामान्य के तीन भेद बताये हैं - पर सामान्य, अपर सामान्य और परापर सामान्य ।

---

(1) प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ 4.

(2) न्यायभाष्य

द्वितीय वर्गीकरण :- 'तर्कामृत' में सामान्य के अन्य ग्रन्थकारों से भिन्न तीन भेद बताये गये हैं :- व्याप्य, व्यापक और व्याप्यव्यापक । व्यापक सत्ता है, व्याप्य घटत्वादि है और द्रव्यत्वादि व्याप्य व्यापक दोनों हैं।

किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने पर यह ज्ञात होता है कि उपरोक्त दोनों विभाजन एक जैसे ही हैं, जैसा कि शिवादित्य ने भी सप्तपदार्थी में माना है कि - 'व्यापकमात्रं सामान्यम् परम्, व्याप्यमात्रं सामान्यं अपरं । व्याप्यव्यापकोभयरूपम् सामान्यं परापरम्' ।

अतः अब इन दोनों विभाजन को एक मानकर पर सामान्य, अपर सामान्य, परापर सामान्य तथा जाति और उपाधि रूप भेदों का निरूपण किया जा रहा है:-

'पर सामान्यं' का लक्षण 'अधिकदेशवृत्ति सामान्य परम्' किया गया है अर्थात् जिस जाति का क्षेत्र अधिक हो अर्थात् अधिक व्यक्तियों में रहता हो, उसे 'पर सामान्य' कहते हैं, 'सत्ता' ही पर सामान्य होती है।

'अपर सामान्य' का लक्षण 'अल्पदेशवृत्तिसामान्यमपरम्' किया जाता है, अर्थात् जिस जाति का क्षेत्र न्यून हो, वह अपेक्षा से 'अपर सामान्य' कहा जाता है, 'सत्ता जाति' सबसे बड़ी जाति मानी जाती है, अतः 'सत्ता' की अपेक्षा अन्य घटत्व आदि जातियाँ 'अपर' हैं ।

'द्रव्यत्व' आदि जातियाँ 'परापर सामान्य' हैं, क्योंकि 'पृथिवीत्व' आदि की अपेक्षा बड़ी होने से 'पर' हैं तथा 'सत्ता' आदि की अपेक्षा छोटी होने में 'अपर' हैं, अतः ये 'परापर' सामान्य हैं ।

न्यायलीलावतीकार बल्लभाचार्य ने भी पर और अपर में दो भेद माने हैं, किन्तु उनका कथन है, कि 'परापर' को मानने में भी कोई क्षति नहीं है।[1]

---

1. न्यायलीलावती - पृष्ठ 697, 'अस्तु वा परापरव्यतिरिक्तमपि तृतीयम् तथापि न कश्चित्क्षतिः । तथा च समुच्चये चकारः परमपरं चेति ।'

अभी तक तो 'सामान्य' के जातिरूप भेदों का विवेचन किया जा रहा था, अब उपाधि के भेदों का निरूपण किया जायेगा -

लौगाक्षिभास्कर ने 'साक्षात्सम्बद्धं जातिरूपं' अर्थात् साक्षात्सम्बन्ध को जातिरूप कहा है तथा 'परम्परा सम्बद्धं सामान्यम् उपाधिः' कहा है। सामान्यतया जाति से भिन्न जितने भी धर्म हैं, उन्हें 'उपाधि' कहा जाता है। यह उपाधि दो प्रकार की होती हैं सखण्ड उपाधि और अखण्ड उपाधि ।

बहुपदार्थघटितो धर्मः सखण्डोपाधिः, अर्थात् कई खण्डों से सम्पन्न निर्वचन योग्य उपाधियाँ सखण्ड उपाधियाँ हैं, यथा - कालत्व दिक्त्व आदि । 'अनिर्वचनीयों धर्मः अखण्डोपाधिः' अर्थात् जिस धर्म का किसी भी प्रकार निर्वचन नहीं किया जा सकता, वे 'अखण्ड उपाधियाँ' हैं, यथा - प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व, अभावत्व आदि धर्म अखण्ड उपाधियाँ हैं।

वैसे न्याय-वैशेषिक शास्त्र में सखण्ड और अखण्ड की विभाजक रेखा, अत्यन्त अस्पष्ट, संकीर्ण और मत विभिन्नता के कारण जटिल है, यथा - 'आकाशत्व' को कुछ लोग सखण्ड उपाधि कहते हैं और कुछ अखण्ड । शिवादित्य [1] का कहना है कि मात्र अनेक पदार्थवृत्ति साधारण धर्म को सामान्य मानकर उसके दो रूप हो सकते हैं - उपाधि और जाति ।

सामान्य की सिद्धि :- जातिरूप सामान्य का विभाग तभी सिद्ध हो सकता है, जब पहले किसी प्रमाण से सामान्य की सिद्धि की जाय, क्योंकि सामान्य की सिद्धि के बिना उपरोक्त विभाग सम्भव ही नही है, अतः सामान्य की सिद्धि जिस प्रकार ग्रन्थकारों एवं उनके टीकाकारों [2] ने की है, उसका संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है :-

---

1. सप्तपदार्थी - पृष्ठ 39.
2. वैशेषिकसूत्रोपस्कार :- 1/2/3 और 1/2/6 तथा पदार्थधर्मसंग्रह - पृष्ठ 746-754 तथा बल्लभाचार्य कृत न्यायलीलावती-सामान्य प्रकरण-पृष्ठ 685-697.

द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थो में 'द्रव्यं सत्, गुणः सन्, कर्म सत्' इस प्रकार की सत्-सत् रूप की अनुगत प्रतीति सभी को होती है, नाना धर्मियों के सम्बन्ध में एक धर्म प्रकारक एकाकार प्रतीति का नाम ही 'अनुगत-प्रतीति' है। यह अनुगत प्रतीति किसी एक विषय के बिना सम्भव नहीं, अतः द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों आपस में विलक्षण होने से, उस अनुगत प्रतीति के कारण नहीं हो सकते। अतः 'परिशेषानुमान' से उन द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में कोई 'सत्ता' नामक अनुगत धर्म माना जाता है, जिस सत्ता रूप अनुगत धर्म से उक्त अनुगत प्रतीति होती है। अतः द्रव्य, गुण, कर्म के सम्बन्ध में वह सत्ताकार अनुगत प्रतीति ही उस सत्ता जाति का साधक है, इस प्रकार परस्पर विलक्षण पृथिवी, जलादि के सम्बन्ध में तथा गुण, कर्म आदि के सम्बन्ध में भी 'सत्ता जाति' की सिद्धि उपरोक्त प्रकार से हो जाती है।

इस पर यह शंका होती है कि जैसे अनुगत प्रतीति से जाति की सिद्धि होती है, उसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँचों में भी 'अयं भूतः, अयं भूतः' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति सभी को होती है, अतः इन पाँचों में भूतत्व जाति की भी सिद्धि होनी चाहिये तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में 'अयं मूर्तः, अयं मूर्तः' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति भी सभी को हाती है, अतः इन पाँचों में 'मूर्तत्व' जाति की भी सिद्धि होनी चाहिये। तब इसके समाधानस्वरूप यह कहा जा सकता है कि भूतत्व और मूर्तत्व धर्म की सिद्धि होने पर भी, उनकी जातिरूपता की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि उन्हीं धर्मों में जातिरूपता सिद्ध होती है, जिनके होने में 'जातिबाधक दोष' नहीं होता । 'जातिबाधक दोष' के विद्यमान रहने पर वह धर्म जाति रूप नहीं कहलाता । इन जातिबाधक दोषों का विवेचन उदयनाचार्य ने 'किरणावली'[1] में किया है, जिसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जा रहा है :-

उदयनाचार्य का वक्तव्य इस प्रकार है :-

> 'व्यक्तेरभेदः तुल्यत्वम् संकरोऽथानवस्थितिः ।
> रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक संग्रहः ।।'

---

1. किरणावली - पृष्ठ 161.

अब इसका विवेचन किया जा रहा है -

व्यक्तेरभेद :- व्यक्ति के अभेद का लक्षण -

'स्वाश्रयनिष्ठस्वाश्रयप्रतियोगिकोभेदाभावः व्यक्त्यभेदः' किया गया है । एक व्यक्ति में रहने वाला धर्म, जातिरूप सामान्य न होकर, उपाधि होता है, क्योंकि न्याय-वैशेषिक के अनुसार आकाश, काल, दिक् एक-एक हैं, अनेक नहीं, अतः आकाशत्व, कालत्व आदि दिक्त्व उपाधियाँ हैं, जातियाँ नहीं ।

तुल्यत्व :- इसका लक्षण 'स्वभिन्नजातिसमनियतत्व तुल्यत्व' किया गया है। यदि कोई धर्म अलग-अलग प्रतीत होते हों, परन्तु वे जिन व्यक्तियों में रहते हों, वे व्यक्ति यदि तुल्य हों, अथात् एक ही हों तो वे अलग-अलग सामान्य नहीं माने जा सकते। यथा - घट और कलश ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, अतः वे दोनों धर्म घटत्व और कलशत्व जिस व्यक्तियों में रहेगें, वे व्यक्ति नहीं, अतः घटत्व और कलशत्व दो अलग-अलग जातियाँ नहीं मानी जा सकतीं, वह एक ही जाति है, अर्थात् घटत्व जाति और कलशत्व उपाधि हैं।

संकरदोष :- इसका लक्षण 'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः संकरः' अर्थात् परस्पर अत्यन्ताभाव के साथ समानाधिकरण वाले जो दो धर्म हैं, उन दोनों धर्मों का जो एक अधिकरण के विषय में वृत्तिपन है, उसी का नाम संकर है। अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न आधार मे वर्तमान होकर भी कहीं एक आधार में उपलब्ध होने वाले दो धर्मों का पारस्परिक धर्म 'संकर' माना जाता है। ऐसे दोनों ही धर्म 'उपाधि' है, यथा-भूतत्व और मूर्तत्व आदि । न्याय-वैशेषिक में पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन 'मूर्त' हैं, इनमें 'मूर्तत्वं' हैं तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश 'भूत' हैं अर्थात् 'भूतत्व' नामक साधारण धर्म है। यह स्पष्ट है कि मन (एक मूर्त) में न रहने वाला और आकाश (एक भूत) में रहने वाला 'भूतत्व' एवं आकाश (एक मूर्त) में न रहने वाला किन्तु मन (एक मूर्त) में रहने वाला 'मूर्तत्व' पृथिवी, जल, तेज और वायु में साथ-साथ रहता है, अतः इन दोनों में कोई जाति नहीं हो सकती।

अनवस्था :- कल्पना का अनन्त हो जाना ही 'अनवस्था' है, अर्थात् जाति में रहने वाली यदि जाति मानी जाये तो अनवस्था दोष हो जायेगा। जैसे- यदि सामान्य में रहने वाली सामन्यत्व नामक जाति मानी जाये या द्रव्यत्वत्व, पृथिवीत्वत्व आदि नाम की जातियाँ मानी जायें तो उसी प्रकार उनमें भी 'त्व' लगाकर अन्य जातियों की भी कल्पना की जा सकती हैं, इस प्रकार कहीं भी समाप्ति न होगी, अतः जाति में जाति नहीं मानी जा सकती ।

रूपहानिः- यदि किसी साधारण धर्म को जाति मानने पर उसके आश्रयों का स्वरूप ही नष्ट होने लगे, तो उस साधारण धर्म को जाति नहीं माना जा सकता, यथा - 'विशेषत्व' न्याय-वैशेषिकशास्त्र में नित्य-पदार्थों,परमाणु आदि को परस्पर भिन्न सिद्ध करने वाला 'विशेष' नामक पदार्थ माना गया है, इसे 'स्वतोव्यावृत्त' स्वीकार किया गया है, इसकी संख्या अनन्त हैं, इन सबमें एक 'विशेषत्व' नामक साधारण धर्म है, यह जाति नहीं हो सकती, क्योंकि वैसा मानने पर 'विशेष' पदार्थ का स्वरूप - 'स्वतोव्यावृतत्व' नष्ट हो जायेगा, अतः विशेषत्व को जाति नहीं माना जा सकता ।

असम्बन्ध :- किसी साधारण धर्म तथा उसके आधारों के मध्य, जाति-व्यक्ति के मध्य स्वीकृत सम्बन्ध समवाय का न होना भी उस असाधारण धर्म के जाति होने में बाधक हैं। अभाव के सभी भेदों में वर्तमान एक अभावत्व नामक साधारण धर्म है। न्याय-वैशेषिक 'अभाव' और 'अभावत्व' के मध्य समवाय सम्बन्ध नहीं मानता, अतः 'अभावत्व' उपाधि है। समवाय में, अनवस्था के कारण दूसरा समवाय न मानने से समवायत्व के जाति न होने में भी यही, असम्बन्ध कारण हैं।

किन्तु नवीन नैयायिक इन छः जातिबाधकों में से 'संकर' को जातिबाधक नही मानते ।[1]

सामान्य को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ :- यह 'जातिरूप सामान्य' घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन इन छः इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाता है, अभिप्राय यह

---

1. दिनकरी - पृष्ठ 58.

है कि जिस-जिस इन्द्रिय से जिस-जिस द्रव्य का तथा जिस-जिस गुण का तथा जिस-जिस कर्म का प्रत्यक्ष होता है, उसी इन्द्रिय से उस द्रव्यनिष्ठ जाति का, गुण निष्ठजाति का तथा कर्मनिष्ठ जाति का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

सामान्य विषयक अन्य मत :- सामान्य के विषय में विद्वानों में विभिन्न मतभेद हैं:-

नवीन नैयायिकों का मत :- नवीन नैयायिकों का मत है कि सत्-सत् इस प्रकार की अनुगत-प्रतीति का विषय सत्ता नामक जाति नहीं है किन्तु द्रव्य आदि छः पदार्थों में रहने वाला जो भावत्व धर्म है, वह भावत्व धर्म ही उस प्रतीति का विषय है, इसीलिये सामान्यादि के सन्दर्भ में सत्ता जाति का अभाव होने से भी 'सामान्यं सत्' इस प्रकार का सत् व्यवहार होता है।

इस पर यह शंका हो सकती है कि यदि उस भावत्वधर्म को उस सत् प्रतीति का विषय माना जाये तो अभाव में उस भावत्व धर्म का अभाव होने पर 'सत्' प्रतीति नहीं होनी चाहिये, किन्तु उस अभाव के विषय में भी 'भूतले घटाभावोऽस्ति' इस प्रकार का सत् व्यवहार तो होता है। तब इसके समाधान में नवीन नैयायिक कहते हैं कि अभाव के विषय में जो सत् व्यवहार होता है, वह भी काल का सम्बन्धरूप सत्व ही उस सत् प्रतीति का विषय है, वह काल का सम्बन्ध रूप सतः उन द्रव्यादि सात पदार्थों में रहता है, इस प्रकार की सत्ता जाति की सिद्धि होती है, अतः पर, अपर सामान्य ये दो भेद जो वेशेषिकशास्त्र में माने गये हैं, वे अनुपपन्न ही हैं, ऐसा नवीन नैयायिकों का मत है।

जाति के विषय में बौद्ध मत तथा खण्डन :- न्याय-वैशेषिक के सामान्य सिद्धान्त के विरूद्ध, बौद्ध दार्शनिकों ने बहुत से तर्क-वितर्क दिये हैं और अन्त मे इस सामान्यवाद का खण्डन भी कर दिया है (सामान्य के विषय में बौद्धों का मत है कि 'व्यक्तिव्यतिरिक्तं सामान्यं नास्ति'[1] अर्थात् घट, पट आदि किसी पदार्थ व्यक्ति से भिन्न 'सामान्य'

---

1. केशवमिश्र कृत तर्कभाषा तथा चिन्नम्भट्ट कृत 'तर्कभाषा प्रकाशिका' टीका - पृष्ठ 246 - 247.

(जाति) नाम की कोई वस्तु नहीं है, तात्पर्य यह है कि 'घट-पट' आदि व्यक्तियाँ ही 'घटत्व-पटत्व' रूप है, उन घटत्व-पटत्व नाम की कोई 'जाति नामक वस्तु नहीं है, अर्थात् घट में घटत्व धर्म जाति के रूप में रहता है, यह कथन उचित नहीं है।

बौद्धों के उक्त मत का खण्डन करते हुये नैयायिक तथा वैशेषिक दार्शनिक कहते हैं कि बौद्धों के मतानुसार, यदि सामान्य कोई वस्तु नहीं है तो अनेकानेक विलक्षण घट-पदादि व्यक्तियों में अनुभूयमान जो 'एकाकार प्रतीति' होती है, उसके होने में घट-पदादि में स्थित 'सामान्य' के अतिरिक्त अन्य कौन सा आधार है, जिसके द्वारा यह एकाकार प्रतीति होती है, अतः यह मानना पड़ता है कि उस एकाकार प्रतीति का आधार वहीं 'सामान्य' (जाति) ही है।

इस पर बौद्ध पुनः आपेक्ष करता है कि जिस 'एकाकार प्रतीति' को न्याय-वैशेषिक मानता है, वह 'एकाकार प्रतीति' 'अत्व्यावृत्ति' के द्वारा ही हो रही है, ऐसा बौद्ध मत है, यथा - सभी गो पिण्डों की अँगों अर्थात् गो भिन्न अश्वादि से भिन्नता हो जाती है, अतः अनेक गो व्यक्तियों में होने वाली जो एकाकार प्रतीति है, वह 'अतद्व्यावृत्ति' (गोभिन्नभिन्नत्व) को ही बताती है, एकाकार प्रतीति भावरूप सामान्य को नहीं बताती ।

बौद्धों के उक्त आक्षेप का खण्डन करते हुये नैयायिक कहते हैं कि बौद्धों का उक्त मत ठीक नही है, क्योंकि 'एकाकार प्रतीति' 'भावरूप' से ही होती है अर्थात् उस प्रतीति में 'अतद्व्यावृत्तिरूप अभाव' का अनुभव नहीं होता। अतः भावरूप सामान्य (जाति) को मानना अत्यावश्यक है, ऐसा नैयायिकों का मत हैं।[1]

<u>सामान्य विषयक मीमांसक मत</u> :- न्याय - वैशेषिक के भाँति, मीमांसक भी वस्तुवादी हैं। मीमांसकों में भी भाट्ट तथा प्रभाकर दोनों ही जाति की नित्यता स्वीकार करते हैं। प्रभाकर का मत प्रायः न्याय-वैशेषिक के समान ही है, केवल विरोध एक

---

1. इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है - न्यायवर्तिक - 2/1/31,
वैशेषिक सूत्रोपस्कार :- 1/2/3 तथा न्यायकंन्दली - पृष्ठ 755-765.

मात्र समवाय को लेकर ही है, जिसके आधार पर जाति और व्यक्ति में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। भाट्ट तथा न्याय-वैशेषिक मत में भेद इतना ही है कि भाट्ट लोग समवाय नहीं मानते और जहाँ न्याय-वैशेषिक समवाय मानते हैं, वहाँ भाट्ट जाति - व्यक्ति एवं गुण-गुणी आदि स्थलों में भेदाभेद के सिद्धान्त को मानते हैं। कुमारिल भट्ट के अनुसार सामान्य आकृतिरूप है, अर्थात् जाति और आकृति एक ही है, जाति के द्वारा ही किसी व्यक्ति का स्वरूप अवगत हो सकता है।[1] कुमारिल जाति और व्यक्ति का सम्बन्ध स्वाभाविक अर्थात् तादात्म्य मानते हैं।[2]

सामान्य विषयक जैन मत :- जैन मत में भी सामान्य या जाति की सत्ता स्वीकार की गयी है। जैन दार्शनिक बौद्धों की तरह सामान्य को नाम-मात्र ही नहीं मानते जैनियों के अनुसार सामान्य 'अनुगत प्रतीति' का कारण है, सामान्य या जाति किसी वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में पाया जाने वाला धर्म है, परन्तु न्याय-वैशेषिक के सामान्य के समान, जैन 'सामान्य' को व्यक्ति से भिन्न नहीं मानते ।

सामान्य विषयक उदयनाचार्य का मत :- उदयनाचार्य कारणवाद तथा तर्कवाद इन दो वादों के आधार पर 'जातिवाद' के सिद्धान्त को अकाट्य बताते है, किसी भी वसतु की जाति की अनुभूति व्यावहारिक होती है, इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता, जयन्तभट्ट[3] भी कहते हैं कि जातिविहीन व्यक्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती।

विशेष

वैशेषिक दर्शन में मान्य यह पाँचवाँ पदार्थ है। इसी पदार्थ को मानने के कारण ही, इस शास्त्र को वैशेषिक शास्त्र कहा जाता है, यह वैशेषिक दर्शन का अत्यन्त

---

1. श्लोकवार्तिक-3 'जातिरेवाडकृतिं प्राह व्यक्तिर्विज्ञायते त या सामान्यं तश्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ।।'
2. श्लोकवार्तिक - 'स्वाभाविकश्च सम्बन्धोजातिव्यक्ति - यो हेतुमान्' ।
3. यथा रूपाद्यसम्बद्धा न व्यक्तिरूपलभ्यते ।
   तथैव जात्युक्तेति का ते व्यसनसन्ततिः - न्याय मन्जरी और प्रशस्तपादभाष्य पृष्ठ 286.

महत्वपूर्ण पदार्थ है, इसका लक्षण इस प्रकार बताया गया है :-

वैशेषिक सूत्रकार कणाद ने इसका लक्षण - 'अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः' किया है। तर्कभाषाकार तथा तर्क संग्रहकार ने 'विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्ति' तथा 'नित्य द्रव्य वृत्तों व्यावर्त्तका विशेषाः' किया है, जबकि तर्कामृतकार तथा कारिकावलीकार ने 'अनित्यद्रव्यवृत्तयों अन्त्याविशेषाः' तथा 'अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिविशेषः परिकीर्तितः' किया है।

इन उपरोक्त लक्षणों का अभिप्राय यह है कि 'जो नित्य है, नित्य द्रव्यों में रहता है, अन्तिम है अर्थात् जिसकी अपेक्षा कोई अन्य विशेष नहीं है, अर्थात् जो केवल एक वस्तु में ही रहता है, उसे 'विशेष' पदार्थ कहते हैं। किन्तु 'तर्ककौमुदीकार' ने इसका लक्षण कुछ भिन्न प्रकार से किया है - 'अयमस्माद्व्यावृत्त इति व्यावृत्ति बुद्धिमात्रहेतुविशेषः' अर्थात् यह इससे भिन्न है, इस पृथक्त्व की बुद्धि का जो हेतु है, वह 'विशेष' पदार्थ कहा जाता है, किन्तु 'तार्किकरक्षाकार' ने उपरोक्त दोनों से भिन्न 'विशेष' पदार्थ का लक्षण 'अजातिरेकवृत्तिश्च विशेष इति शिष्यते' किया है अर्थात जाति से रहित और एक में रहने वाला पदार्थ 'विशेष' पदार्थ कहलाता है।

शिवादित्य ने भी 'सप्तपदार्थी' में इसी प्रकार का लक्षण किया है।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नित्य द्रव्य में रहने वाला, एक पदार्थ को दूसरे से भिन्न करने वाला तथा सबके अन्त में रहने वाला जो पदार्थ है, वही पदार्थ 'विशेष' कहलाता है।

वैशेषिक पदार्थ को सूत्रकार कणाद ने भी 'अन्त्य' कहा है।[1] यही इसका स्वरूप है। 'अन्त्य' शब्द की व्याख्या के विषय में वैशेषिक आचार्यों में मतभेद है। प्राचीन भाष्यकार आत्रेय, प्रशस्तपाद तथा वृत्तिकार आदि 'अन्त्य' शब्द के अन्तर्गत 'अन्त' शब्द का अर्थ नित्य द्रव्य 'अन्त्य' शब्द का अर्थ नित्य द्रव्य में रहने वाला

---

1. वैशेषिक सूत्र - 1/2/6

मानते हैं, किन्तु 'अन्त' शब्द उपर्युक्त अर्थ अत्यन्त और अस्वाभाविक है, अतः 'उदयनाचार्य' आदि ने इसका अर्थ 'अन्तिम' किया है, इसका अभिप्राय यह है कि विशेष पदार्थ व्यावर्तक तत्वों में अन्तिम है, इसके पश्चात कोई दूसरा व्यावर्त्तक तत्व नहीं रह जाता, अतएव इसे 'स्वतोव्यावृत्त' कहा जाता है।[1] समन्वयात्मक दृष्टि से 'नित्य द्रव्यमात्र' में वर्तमान 'स्वतोव्यावृत्त तत्व' विशेष कहा जाता है[2] यह इसकी परिभाषा सिद्ध होती है।

स्वात्मव्यावर्त्तक :- यह विशेष जैसे स्वाश्रयभूत नित्यद्रव्य का दूसरे नित्य द्रव्य में स्वतः ही व्यावर्तक होता है, वैसे ही वह विशेष भी स्वाश्रयभूत द्रव्य से अपना भी स्वतः ही व्यावर्त्तक होता है, जैसे :- 'विशेषः द्रव्याद् भिन्नः विशेषात्' अर्थात यह विशेष द्रव्य से भिन्न है, विशेष होने से तथा वह विशेष, दूसरे विशेष से अपना भी स्वतः ही व्यावर्त्तक होता है, यथा - 'एतद्विशेषः तद् विशेषाद् भिद्यते, एतद् विशेषात्' अर्थात यह विशेष, दूसरे विशेष से भिन्न है, एतत् विशेष होने से, इस प्रकार वह विशेष अपने स्वरूप से ही अपना दूसरे विशेष से व्यावर्त्तक होता है। उस विशेष को अपने से भिन्न की सिद्धि करने के लिये, अपने से भिन्न विशेष की आवश्यकता नहीं होती, अतः यह 'स्वतोव्यावर्त्तक' ही होता है। जिस परमाणु आदि नित्य द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से विशेष रहता है, वही उस परमाणु आदि नित्य द्रव्य को दूसरे परमाणु आदि नित्य द्रव्य से अपने स्वरूप के द्वारा ही भिन्न करता है, जैसे यह पार्थिव परमाणु, इस दूसरे पार्थिव परमाणु से भिन्न है, इस विशेष से युक्त होने के कारण।

उपरोक्त स्वरूप वाला यह विशेष पदार्थ परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में ही समवाय सम्बन्ध से रहता है, द्वयणुकादि अनित्य द्रव्यों में यह नहीं रहता, वे परमाणु आदि नित्य द्रव्य अनन्त है, अतः विशेष भी अनन्त अर्थात अनेक है। नित्य द्रव्यों के समान ये विशेष उत्पत्ति-विनाश से रहित होने के कारण नित्य है, कोई भी विशेष अनित्य नहीं है, धर्माधर्म के भांति यह विशेष अतीन्द्रिय भी होते हैं, कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के विषय, ये विशेष नहीं होते, है।[3] यह अनुमान इस प्रकार है :-

---

1. भाषा परिच्छेद - कारिका 10
2. सप्तपदार्थी - 'विशेषास्तु नित्यद्रव्य समवेताः'
3. दिनकरी, रामरूद्री टीका - कारिका 10

'परमाणुभेदः किन्चिल्लिङ्ज्ञाप्यः भेदत्वात् । कपालभेदज्ञाप्यघटभेदवत्' अर्थात सजातीय परमाणुओं का जो परस्पर भेद है, वह भेद किसी लिंग से ज्ञाप्य है, भेदरूप होने से जो भी भेद होता है, वह किसी लिंग से ज्ञाप्य हुआ करता है, जैसे - दो घटों में परस्पर भेद है, वह भेद, उन दो घटों के परस्पर समवायिकारणरूप कपालों के भेद से ही ज्ञाप्य होता है, उसी प्रकार परमाणुओं का भेद भी, भेद होने के कारण, किसी लिंग से ज्ञाप्य अवश्य होगा। सजातीय परमाणुओं के भेद का अन्य कोई ज्ञापक न होने से 'परिशेषानुमान' से यह 'विशेष' ही उन परमाणुओं के भेद का ज्ञापक सिद्ध होता है।

इस प्रकार 'अनुमान प्रमाण' से 'विशेष' पदार्थ की सिद्धि की जाती है।

विशेष पदार्थ की आवश्यकता :- यद्यपि 'विशेष' पदार्थ का लक्षण तथा अनुमान प्रमाण से उसकी सिद्धि ऊपर की जा चुकी है, किन्तु फिर भी यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि 'विशेष' पदार्थ का प्रयोजन क्या है ? अथवा 'विशेष' पदार्थ को एक अतिरिक्त पदार्थ मानने की आवश्यकता क्या है ? अतः इस शंका का समाधान करने के लिये अब 'विशेष' पदार्थ का प्रयोजन बताया जा रहा है - कार्यद्रव्यों में परस्पर भेदक बहुत सी बातें होती है [1] - अवयव भेद से अवयवियों का भेद जान लिया जाता है, स्व-लक्षण, नित्य द्रव्यों को परस्पर भिन्न कर देता है, किन्तु एक ही द्रव्य के स्वलक्षण से सम्पन्न परमाणुओं को एक दूसरे से पृथक कराने वाला भेदक कोई तत्व अपेक्षित है, 'विशेष' पदार्थ इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये माना जाता है।

इस विशेष पदार्थ की आवश्यकता के विषय में वैशेषिकों का मत इस प्रकार हैः- वैशेषिक दार्शनिक कहते हैं कि नित्य द्रव्यों की परस्पर भिन्नता सिद्ध करने के लिये इसकी आवश्यकता है, अभिप्राय यह है कि वैशेषिक का प्रत्येक तत्व, अन्य तत्वों से किसी न किसी रूप में भिन्न अवश्य है, यह भिन्नता किसी न किसी कारण

---

1. तर्कसंग्रह, तारोदय, पृष्ठ 107-108

के आश्रित अवश्य होगी क्योंकि निराधार भिन्नता का कोई अर्थ नहीं होता, जितने अनित्य द्रव्य है, उनकी पारस्परिक भिन्नता तो उनके अवयवों, गुणों तथा कर्म आदि की भिन्नता के कारण मानना सरल है।[1] अतः अनित्य द्रव्यों की पारस्परिक भिन्नता के लिये 'विशेष' की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु नित्य द्रव्यों, विशेषकर परमाणुओं में पारस्परिक भिन्नता, किसी भी वाह्य आधार पर सम्भव नहीं, अतः इन सब नित्य-द्रव्यों में एक-एक 'विशेष' की सत्ता मानी जाती है।[2] जैसे - घटादि से लेकर द्वयणुक पर्यन्त प्रत्येक वस्तु का परस्पर भेद अपने अपने अवयवों के भेद से होता है, परन्तु परमाणुओं का परस्पर भेद करने वाला 'विशेष' ही है। अतः विशेष की आवश्यकता परमाणुओं के परस्पर भेद करने के लिये है, ये विशेष आपस में भिन्न होते हैं, यह इनका स्वभाव है, अतः इन्हें 'अन्त्य' अथवा स्वतोव्यावृत्त' कहा जाता है। इन विषयों के आधार पर, नित्य द्रव्यों के परस्पर भिन्न सिद्ध हो जाने पर, उनमें वर्तमान गुण आदि का भेद स्वतः ही सिद्ध हो जाता है, अतः विशेष को नित्य द्रव्यों में ही वर्तमान माना गया है, नित्य गुण आदि में नहीं ।

विशेष सम्बन्धी नवीन नैयायिकों का मत :- नवीन नैयायिकों का मत है कि 'विशेष' पदार्थ के विषय में कोई प्रमाण नहीं है तथा विशेष पदार्थ को स्वीकार करने का कोई प्रयोजन भी नही है। [3] इनका कहना है कि यदि विशेष को स्वतोव्यावृत्त मानना ही है तो फिर उन नित्य द्रव्यों, परमाणु आदि को ही स्वतोव्यावृत्त क्यों न माना लिया जाये ? फिर विशेष पदार्थ की कल्पना से क्या लाभ, उसकी कल्पना करना व्यर्थ ही है, अन्य दार्शनिक भी इसे स्वीकार नहीं करते ।

प्रशस्तपाद[4] ने एक तर्क द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि

---

1. किरणावली, पृष्ठ 129-130.
2. मुक्तावली, कारिका 10.
3. दिनकरी और रामरूद्री टका - कारिका 10.
4. पदार्थधर्म संग्रह - पृष्ठ 770-771.

परमाणु स्वयं परस्पर भिन्न सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि परमाणुओं का परस्पर व्योवृत्त होना स्वभाव नही है [1] किन्तु यह तर्क बहुत कमजोर है। प्रशस्तपाद की यह मान्यता, कल्पना पर ही निर्भर प्रतीत होती है, अतः नवीन नैयायिकों के उपरोक्त मत को, किसी भी प्रकार खण्डित नहीं किया जा सकता।

इस पदार्थ को सप्तपदार्थों को मानने वाले कणाद ने ही स्वीकार किया है कि, षोडश पदार्थों को मानने वाले गौतम ने इसे स्वीकार नहीं किया है ऐसा प्रतीत होता है कि इस 'विशेष' पदार्थ को स्वीकार करने के कारण ही कणादप्रणीत शास्त्र को 'विशेष शास्त्र' तथा इस मत के अनुयायियों को 'वैशेषिक' कहा जाता है।

समवाय

वैशेषिक दर्शन में मान्य सात पदार्थों में से 'समवाय' छँठा पदार्थ है, अतः अब इसका विवेचन किया जा रहा है :-

जहाँ तक 'समवाय' के स्वरूप का प्रश्न है, तो वह इसकी व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है - 'समवाय' शब्द की व्युत्पत्ति सम+अव्+इ+घञ् से हुई है, इसका शाब्दिक अर्थ है 'एक साथ अवगति', प्रवृत्ति निमित्त की दृष्टि से यह शब्द 'दो पदार्थों का हमेशा एक साथ होना' अर्थ में है। इसका लक्षण 'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इह प्रत्यय हेतुः स समवायः[2] किया गया है।

न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में इसका लक्षण दो प्रकार से किया गया है :-

वरदराज, लौगाक्षिभास्कर तथा जगदीश तर्कालंकार ने इसका लक्षण नित्यसम्बन्धः समवायः[3] किया है अर्थात जो पदार्थ नित्य और सम्बन्धरूप होता है,

---

1. पदार्थधर्मसंग्रह - पृष्ठ 771.
2. प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ 289 तथा पदार्थ धर्मसंग्रह - पृष्ठ 773.
3. तार्किकरक्षा, तर्कामृत, तर्ककौमुदी ।

उसे 'समवाय' कहते है, यह समवाय उत्पत्ति और विनाश से रहित होने से नित्य भी है तथा गुण-गुणी आदि का सम्बन्ध भी है, अतः यह उक्त समवाय का लक्षण सम्भव है।

केशवमिश्र और अन्नम्भट्ट ने 'समवाय' का लक्षण 'अयुत्तसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः'[1] किया है, अर्थात अयुत्तसिद्ध पदार्थों का परस्पर जो सम्बन्ध है, वह समवाय कहलाता है, जैसा कि वैशेषिक सूत्रकार[2] ने भी कहा है कि इहेदमिति कार्यकारणयोः स समवायः'

विश्वनाथ ने 'समवाय' का विवेचन इस प्रकार किया है :-

'घटादीनोकपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणो ।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः [3] ।।'.

उपरोक्त लक्षणों में 'अयुत्तसिद्ध' शब्द आया है, अतः 'अयुत्तसिद्ध' का स्वरूप तथा भेदों को समझना भी आवश्यक है, अतः अब 'अयुत्तसिद्ध' का विवेचन किया जा रहा है :-

'अयुत्तसिद्ध' का सामान्य अर्थ है' जो युत्तसिद्ध न हो, 'अयुत्तसिद्ध' का लक्षण 'ययोर्द्धयोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रित मेवावतिष्ठते तावयुत्तसिद्धौ' किया गया है, तात्पर्य यह है कि जिन दो पदार्थों के मध्य, एक पदार्थ अपनी अविनाश अवस्था तक दूसरे पदार्थ के आश्रित ही रहता है, स्वतन्त्र नहीं रहता, वे दोनों पदार्थ 'अयुत्तसिद्ध' कहे जाते हैं। इस अयुत्तसिद्ध के 'तर्कभाषाकार, तर्कसंग्रहकार तथा कारिकाकार' ने निम्नलिखित पांच भेद बताये हैं :- अवयव-अवयवि, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य ।

---

1. तर्कभाषा, तर्कसंग्रह
2. वैशेषिक सूत्र - 7/2/26
3. कारिकावली - कारिका ।

अवयव-अवयवि :- तन्तु अवयव और पट अवयवि है, तन्तु से पट को पृथक् नहीं किया जा सकता, अतः ये दोनों अयुत्तसिद्ध हैं।

गुण - गुणी :- गुण आधार्य है और गुणी आधार, यथा पट और उसका रूप। ये परस्पर अयुत्तसिद्ध हे।

क्रिया - क्रियावान् :- क्रिया वाले के बिना क्रिया नहीं रह सकती, अतः क्रिया-क्रियावान् परस्पर अयुत्तसिद्ध है।

जाति - व्यक्ति :- जाति स्वयं नष्ट न होती हुई, व्यक्ति में आश्रित होती है, जाति समवेत है और व्यक्ति समवायि । ये दोनों परस्पर अयुत्तसिद्ध है।

विशेष - नित्यद्रव्य् :- विशेष स्वयं नष्ट न होता हुआ, नित्य द्रव्य में स्थित रहता है। विशेष आधार्य है, अतः समवेत है और नित्य द्रव्य (पृथिवी आदि चार द्रव्यों के परमाणु के परमाणु और आकाश) परस्पर अयुत्तसिद्ध अर्थात समवायी है।

इन पाँचों का सम्बन्ध समवाय कहलाता है, जो सम्बन्ध दो द्रव्यों के मध्य होता है, वह तो 'संयोग' कहा जाता है, यथा - दण्ड और पुरूष का संयोग। परन्तु कभी-कभी ऐसी दो वस्तुओं में भी सम्बन्ध दिखायी देता है, जिनमें से एक वस्तु दूसरी के बिना अलग नहीं पायी जाती है, यथा-द्रव्य और गुण का सम्बन्ध, यही सम्बन्ध समवाय कहा जाता है और नित्य ही होता है।

समवाय की सिद्धि :- विश्वनाथ[1] ने समवाय की सिद्धि 'अनुमाण प्रमाण' से की है, यह अनुमान इस प्रकार है :-

गुण और कर्म से विशिष्ट होने का ज्ञान, विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध को ग्रहण करता है, विशिष्ट ज्ञान होने से 'दण्डी पुरूष' इस विशिष्ट ज्ञान के समान।' इस अनुमान से संयोग स्वरूप और तादात्म्य आदि सम्बन्धों का बोध होता है। संयोग आदि सम्बन्धों का बोध किस प्रकार होता है ? यह बताया जा रहा है:- उपरोक्त

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका ।

अनुमान से यह सिद्ध हो जाता है कि गुण-विशिष्ट द्रव्य के ज्ञान में विशेषण और विशेष्य अर्थात गुण और द्रव्य में रहने वाले किसी सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है, अतः अब यह शंका उठती है कि, जिस सम्बन्ध का ज्ञान होता है, वह सम्बन्ध कौन सा है ? वह सम्बन्ध 'संयोग' तो हो नहीं सकता, क्योंकि संयोग दो द्रव्यों के मध्य ही होता है और अनित्य होता है। यह सम्बन्ध 'तादात्म्य' भी नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्य और गुण में तादात्म्य हो ही नहीं सकता। यह 'स्वरूप सम्बन्ध' भी नहीं हो सकता। मीमांसक तो द्रव्य, गुण, व्यक्ति, जाति आदि अयुतसिद्ध पदार्थों में स्वरूप सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु नैयायिक समवाय सम्बन्ध मानते हैं। मीमांसक कहता है कि जिस उपरोक्त अनुमान से नैयायिकों ने 'समवाय' सम्बन्ध की सिद्धि की है, वही अनुमान 'स्वरूप सम्बन्ध' का भी साधक है, अतः 'स्वरूप सम्बन्ध' के सिद्ध होने से नैयायिक का अनुमान पहले से ही सिद्ध वस्तु का साधन बन रहा है, अतः नैयायिकों के उपरोक्त अनुमान में 'सिद्धसाधन दोष' है तथा 'अर्थान्तर दोष' भी है, क्योंकि वह समवाय को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त हुआ था, किन्तु उसने समवाय के स्थान पर 'स्वरूप' को सिद्ध कर दियां ।

किन्तु उपरोक्त आक्षेप का समाधान करते हुये नैयायिक कहते हैं कि 'समवाय के स्थान पर यदि स्वरूप सम्बन्ध मान लिया जाये तो जिन अनन्त वस्तुओं में समवाय रहता है, उन सभी वस्तुओं के स्वरूप को ही सम्बन्ध मानना पड़ेगा, वस्तुओं के अनन्त होने से सम्बन्ध भी अनन्त होंगे, इस प्रकार अनन्त सम्बन्ध मानने की अपेक्षा 'समवाय' को मानने मे ही लाघव है, क्योंकि समवाय तो एक ही होता है, इस प्रकार 'विश्वनाथ' ने उपरोक्त अनुमान से समवाय की सिद्धि की है।

संयोग तथा समवाय सम्बन्ध 'मुख्य सम्बन्ध' कहे जाते हैं तथा स्वरूप, तादात्म्य आदि सम्बन्ध 'गौण' कहे जाते हैं। अब यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि 'सम्बन्ध' कहते किसे हैं ? अतः ग्रन्थकारों ने सम्बन्ध का लक्षण 'सम्बन्धि भिन्नत्वे सति सम्बन्ध्याश्रितः सम्बन्धः' किया है, तात्पर्य यह है कि 'जो अनुयोगी और प्रतियोगी रूप दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होता है, तथा उनके आश्रित होता है, उसे 'सम्बन्ध' कहते हैं।

तर्कभाषाकार[1] केशवमिश्र ने 'सम्बन्ध' का लक्षण 'सम्बन्धिभ्योभिन्नो भवत्युभय-सम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च' अर्थात सम्बन्ध, सम्बन्धियों से भिन्न, उभयाश्रित और एक होता है।

समवाय के आश्रय पदार्थ :- यह समवाय पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य इन पाँच पदार्थों में रहता है तथा समवाय और अभाव में समवाय नहीं रहता ।

समवाय के एकन्व की सिद्धि :- यह समवाय एक ही होता है, अनेक नहीं, ऐसा ग्रन्थकारों एवं उनके टीकाकारों का कथन है : वह एक ही समवाय, द्रव्यादि पाँच पदार्थों में रहता है। यदि एक ही 'समवाय' से काम हो सकता है तो 'समवाय' को अनेक मानने की क्या आवश्यकता है ? अनेक मानने में गौरवदोष भी होगा और उसे अनेक मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है। सत्ता जाति के समान ही 'अनुगत प्रतीति' से 'समवाय की एकता' सिद्ध होती है, परस्पर विलक्षण द्रव्य गुणादि में 'तन्तुषु पटः समवेतः, कपालेषघटः समवेतः, द्रव्ये गुणः समवेतः, कर्म समवेतम्, सामान्य समवेतम्' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है, यह एकाकार प्रतीति तन्तु आदि में अनुगत एक समवाय के बिना नहीं हो सकती। इस अनुगत प्रतीति के आधार पर द्रव्य, गुणादि अयुतसिद्ध पदार्थों में 'समवाय' को एक ही मानना चाहिये ।

इस पर यह शंका हो सकती है कि यदि समवाय को एक माना जाये तो फिर रूपरहित वायु में भी 'रूपवान वायुः' इस प्रकार रूपवत्ता की प्रतीति होनी चाहिये, क्योंकि पृथिवी आदि में रहने वाला रूप का जो समवाय है, तथा वायु में रहने वाला स्पर्श का जो समवाय है, वह रूप का समवाय और स्पर्श का समवाय तो न्यायमत में एक ही है, अतः रूपरहित वायु में भी रूप की प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु यह होती नहीं । तब इसके समाधान में नैयायिक कहते हैं कि रूपविशिष्ट समवाय की जो अधिकरणता है, वही 'रूपवान अयं' इस प्रतीति का कारण है। वायु में रूप गुण का अभाव होने से रूप विशिष्ट समवाय की ही अधिकरणता है, अतः वायु में 'रूपवान्

---

1. तर्कभाषा - अभावनिरूपणम् ।

अयं' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती, किन्तु उस रूपविशिष्ट समवाय की अधिकरणता वाले पृथिवी, जल, तेज में रूपवत्ता की प्रतीति होती है, अतः समवाय को एक मानने में भी रूपादिविशिष्ट समवाय की अधिकरणताओं का भेद होने से रूपवान् वायुः, स्पर्शवान् आकाशः, गन्धवत् जलं' इत्यादि प्रतीतियों की आपत्ति नहीं होती ।

समवाय की नित्यत्व की सिद्धि :- प्रशस्तपाद[1] ने समवाय को उत्पत्ति-विनाश रहित होने से नित्य कहा है, समवाय का कोई समवायिकारण नहीं होता। जब उसका कोई समवायिकारण नहीं तो असमवायिकारण भी नहीं हो सकता, किन्तु समवायिकारण और असमवायिकारण के बिना किसी भी भाव कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः समवाय को उत्पत्तिरहित ही मानना चाहिये, इस प्रकार उत्पत्ति-विनाश रहित होने से समवाय की नित्यता की सिद्धि होती है।

समवाय के प्रत्यक्ष के विषय में न्याय और वैशेषिक में मतभेद :- समवाय की एकता तथा नित्यता के विषय में वैशेषिकों और नैयायिकों में कोई मतभेद नहीं है, किन्तु समवाय के प्रत्यक्ष के विषय में उनमें मतभेद है। वैशेषिक ने समवाय को 'अतीन्द्रिय' मानकर, उसे अनुमान प्रमाण का विषय माना है और नैयायिकों ने उसे चक्षुरादि इन्द्रियों से जन्य मानकर प्रत्यक्ष का विषय माना है।[2]

वैशेषिक मत :- वैशेषिकों ने समवाय की अतीन्द्रियता की सिद्ध 'अनुमान प्रमाण' से इस प्रकार की है :-

'समवायः अतीन्द्रियः आत्मान्यत्वे सति असमवेतभावत्वात् आकाशादिवत्' अर्थात् समवाय अतीन्द्रिय होने योग्य है, क्योंकि आत्मा से भिन्न होता हुआ, असमवेत भावरूप होने से जो भी पदार्थ, आत्मा से भिन्न होता है तथा असमवेत और भावरूप होता है, वह पदार्थ 'अतीन्द्रिय' होता है, यथा :- आकाश, आत्मा से भिन्न है

---

1. प्रशस्तपादभाष्य - पृष्ठ 297.
2. प्रशस्तपादभाष्य - पृष्ठ 297 तथा वैशेषिकसूत्रोपस्कारः 7/2/26 से 7/2/28

तथा किसी भी पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से वृत्ति न होने से 'असमवेत' भी है और भावरूप भी है, अतः उसे भी अतीन्द्रिय मानना चहिये ।

किन्तु इस प्रकार के अनुमान से तो समवाय के अतीन्द्रियता की ही सिद्धि होती है, समवाय की सिद्धि तो होती नहीं, अतः ग्रन्थकारों ने 'समवाय' की सिद्धि इस अनुमान से की है - 'रूपवान घटः इति विशिष्टज्ञानम् विशेषणविशेष्योभय सम्बन्ध विषय विशिष्टज्ञानत्वात् दण्डीतिविशिष्टज्ञानवत्' अर्थात् यह घट रूप वाला है, इस प्रकार का जो विशिष्ट ज्ञान है, वह विशेषण - विशेष्य दोनों के सम्बन्ध वाला होने योग्य है, विशिष्ट ज्ञान होने से । जो भी विशिष्टज्ञान होता है, वह विशेषण - विशेष्य इस उभयसम्बन्ध वाला ही होता है, यथा-दण्डी पुरूष ।

इस प्रकार वैशेषिक मतानुसार समवाय अनुमेय है, उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

नैयायिक मत :- नैयायिक समवाय को अनुमेय व अतीन्द्रिय न मानकर, उसे प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका कथन है कि 'इह कपालेषु घट समवायः', इह तन्तुषु पट समवायः' यह प्रतीति उन कपाल और तन्तु आदि अवयवों में उन घट-पट आदि अवयवियों के समवाय सम्बन्ध को ही विषय बनाती है। अतः समवाय को अतीन्द्रिय नहीं कहा जा सकता, अपितु यह समवाय चाक्षुषादि प्रत्यक्ष ज्ञान का ही विषय है। 'नीलो घटः' यह चाक्षुष प्रत्यक्ष भी 'नीलरूप विशेष' को तथा घटरूप 'विशेष्य' को तथा दोनों के समवाय को भी विषय करता है, इस प्रकार जिस-जिस द्रव्य का जिस-जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, उस-उस द्रव्यवृत्ति-गुण कर्म का समवाय का भी उस-उस इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि समवाय का प्रत्यक्ष होता है।

नवीन नैयायिक मत :- नवीन नेयायिक समवाय को अनेक मानते हैं, क्योंकि पृथ्वी में ही गन्ध का समवाय है, जल में नहीं, यह प्रतीति सभी को होती है, इस प्रतीति के आधार पर समवाय के 'नानत्व' की सिद्धि होती है। पृथ्वी में गन्ध गुण का 'समवाय'

पृथक् है। इस प्रकार जिस-जिस द्रव्य में जो-जो गुण रहता है तथा जो-जो कर्म तथा जाति रहती है, उनका समवाय पृथक-पृथक ही उन द्रव्यों में रहता है, अतः समवाय का नानात्व ही सिद्ध होता है।

मीमांसक मत :- 'समवाय' के विषय में 'प्राभाकर मीमांसक' का मत है कि यह अनेक तथा अनित्य है। उसे नित्य कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'नीलो नष्टः रक्तः उत्पन्नः' इस प्रतीति का विषय नील रूप के समवाय का विनाश तथा रक्त रूप के समवाय की उत्पत्ति है, इस प्रतीति के आधार पर समवाय की अनेकता और अनित्यता सिद्ध होती है।

किन्तु प्राभाकर का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उपरोक्त प्रतीति से 'समवाय' के उत्पत्ति-विनाश की प्रतीति नहीं हो सकती, बल्कि नील और रक्तरूप का ही उत्पत्ति-विनाश प्रतीत होता है।

'समवाय' के सम्बन्ध में 'कुमारिलभट्ट' का मत है कि जिन अयुतसिद्ध पदार्थों का नैयायिकों ने समवाय सम्बन्ध माना है, उनका तो स्वरूप सम्बन्ध माना ही है, अतः उससे भिन्न, एक समवाय सम्बन्ध की कल्पना करना व्यर्थ ही है।

इस पर नैयायिकों का कथन है कि 'भट्टपाद' का यह मत उचित नही है, क्योंकि द्रव्य-गुण-कर्म आदि अनेक स्वरूपों में सम्बन्ध की कल्पना करने में अत्यन्त गौरव दोष होगा। अतः 'एक' समवाय सम्बन्ध की कल्पना में ही लाघव हैं।[1]

अभाव

वैशेषिका दर्शन में मान्य सप्त पदार्थों में यह 'अभाव' सातवाँ पदार्थ है, अतः अब क्रम प्राप्त अभाव पदार्थ का विवेचन किया जा रहा है:-

जहाँ तक 'अभाव' पदार्थ का प्रश्न है तो कणाद इसे मानते हैं, अथवा

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका ।।
तथा
दृष्टव्य - भारतीय दर्शन - नन्दकिशोर देवराज ।

नहीं, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है[1] - प्रशस्तपाद की दृष्टि में यदि कणाद की स्थिति का विवेचन किया जाये, तो यह मानना ही पड़ेगा कि कणाद ने 'अभाव' की पदार्थ के रूप में गणना तो नहीं की है, किन्तु वैशेषिक सूत्र के नवें अध्याय के, प्रथम आह्निक में अभाव पदार्थ की व्याख्या की है, इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि 'कणाद' अभाव के अस्तित्व के विरोधी नहीं थे, किन्तु फिर भी कणाद ने अभाव की पदार्थ के रूप में गणना क्यों नहीं की, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। पदार्थ के रूप में अभाव की गणना 'शिवादित्य' की 'सप्तपदार्थी' से ही प्रारम्भ हुयी है।

इसी प्रकार न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में से 'तार्किकरक्षा' में वैशेषिक के छः पदार्थों का ही विवेचन है, जबकि तर्ककौमुदी, तर्कभाषा, तर्कसंग्रह, तर्कामृत तथा कारिकावली में वैशेषिक के सातों पदार्थों का विवेचन प्राप्त होता है, इनमें अभाव को षड्भाव पदार्थों से भिन्न सप्त पदार्थ के रूप में माना गया है।

कणाद के समान ही बल्लभाचार्य ने भी 'न्यायलीलावती' में छः पदार्थों का ही विवेचन किया है, किन्तु 'अभाव की सत्ता मानने से इन्कार नहीं किया है, क्योंकि उन्होंने भी 'अभावश्च वक्तव्यः निःश्रेयसोपयोगित्वात्' कहकर अभाव को निःश्रेयस के लिये उपयोगी बताया है।

अब अभाव पदार्थ का लक्षण, भेद पूर्वक विवेचन किया जा रहा है :-

लक्षण :- अब जहाँ तक 'अभाव' पदार्थ के लक्षण का प्रश्न है तो इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है :-

तर्ककौमुदीकार ने इसका लक्षण 'भावभिन्नोऽभावः', मुक्तावलिकार ने 'अभावत्वं द्रव्यादि षट्कान्योन्याभाववत्वम्' किया है, तात्पर्य यह है कि भाव से भिन्न तथा द्रव्यादि छः पदार्थों का जिसमें अन्योन्याभाव रहे, अर्थात्, जो भाव पदार्थों से भिन्न

---

1. प्रमितिविषयाः पदार्थाः, ते च द्रव्यगुणकर्म सामान्य विशेष समवायाऽभावाख्याः सप्तैव प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानोऽभावः । सप्तपदार्थी ।

हो वही अभाव है। किन्तु 'तर्कभाषाकार' ने उपरोक्त लक्षणों से भिन्न, इसका लक्षण 'निषेधमुख-प्रमाण गम्योडभावरूपः सप्तमः पदार्थः' किया है, अर्थात निषेधमुख प्रमाण से गम्य, जो पदार्थ है, वह 'अभाव' पदार्थ कहलाता है, ऐसा किया है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में 'अभाव' का लक्षण दो प्रकार से किया गया है :-

(1) भावभिन्नोडभावः तथा

(2) निषेधमुखप्रमाणगम्यो अभावः ।

किन्तु कुछ ग्रन्थकारों [1] ने इन दोनों से भिन्न, तृतीय प्रकार का लक्षण किया है कि 'सम्बन्ध सादृश्यादि भिन्नत्वे सति प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञान विषयः अभावः' अर्थात जो पदार्थ सम्बन्ध से तथा सादृश्य से भिन्न होता है तथा प्रतियोगि विषयक ज्ञान के अधीन जो ज्ञान है, उस ज्ञान का विषय होता है, वह पदार्थ 'अभाव' कहलाता है।

अभाव के भेद :- अब अभाव के भेदों का निरूपण किया जा रहा है - 'अभाव' पदार्थ के भेद के विषय में विद्वानों में मतभेद है। न्यायसूत्र 2/2/9 पूर्वपक्ष के रूप में यह मत रखा गया है कि 'एक मात्र प्रध्वंस ही अभाव है' किन्तु न्याय सूत्र 2/2/12 में किये गये सिद्धान्त की न्याय भाष्यकार सम्मत व्याख्या प्रागभाव तथा प्रध्वंस इन दो रूपों को बताती है, वर्त्तिककार का भी यही मत है, परन्तु वैशेषिक सूत्र में प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव की व्याख्या देखकर 'वाचस्पति मिश्र' ने न्यायसूत्र 2/2/12 की व्याख्या करते समय 'भाष्यकार' आदि के वक्तव्य का प्रसंग विशेष के साथ सम्बन्ध मानकर चार प्रकार के अभावों के सिद्धान्त को ही अपनाया है।[2]

---

1. सिद्धान्तयन्द्रोदय - 'प्रतियोगि ज्ञानाधीन ज्ञानविषयत्वे वाडभावत्वं'

2. तात्पर्यटीका - 2/2/12

किन्तु 'न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों - 'भाषापरिच्छेद,[1] तर्कामृतम, तर्ककौमुदी तथा तर्कभाषा में प्रथमतः अभाव के दो भेद किये हैं - संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव तथा पुनः संसर्गाभाव के भी तीन प्रकार के भेद माने हैं:- प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव ।

'सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों' में वर्णित इस विभाजन पर वैशेषिक सूत्र का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है।

जयन्तभट्ट द्वारा उल्लिखित एक ऐसी भी परम्परा थी जो उक्त चार अभावों के साथ-साथ 'अपेक्षा भाव तथा सामर्थ्याभाव' नामक दो अभाव और मानती थी।[2] इनके अतिरिक्त एक ऐसा सम्प्रदाय भी था, जो 'सामयिकाभाव' को भी मानता था ।[3] । जयन्तभट्ट[4] प्रागभाव मात्र अथवा प्रागभाव और प्रध्वंसा भाव इन दो को ही वास्तविक अभाव मानते हैं, किन्तु वैशेषिक दर्शन उपरोक्त चार अभावों को ही मानता है।

अब न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में प्रतिपादित अभाव के भेदों का निरूपण किया जा रहा है :-

प्रथम विभाजन - संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव ।

द्वितीय विभाजन - संसर्गाभाव के ही तीन भेद :-

प्रागभाव, प्रध्वंसा भाव और अत्यन्ताभाव ।

संसर्गाभाव :- 'संसर्ग' का अर्थ है 'सम्बन्ध' और 'संसर्गाभाव' का अर्थ हुआ 'एक वस्तु से दूसरी वस्तु का किसी सम्बन्ध से रहने का अभाव', जैसे - भूतल में घट का अभाव अर्थात भूतल में घट का संयोग - सम्बन्ध से रहने का अभाव है।

---

1. भाषा परिच्छेद - करिका 12, 13
2. न्यायमंजरी, भाग-1 पृष्ठ 59
3. वैशेषिक सूत्रवितृत्तिः - 9/1/5
4. न्यायमंजरी, भाग-1 पृष्ठ 59

संसर्गाभाव का लक्षण - विश्वनाथ तथा 'लौगाक्षिभास्कर' ने 'अन्योन्याभाव भिन्नोऽ भावः संसर्गाभावः' किया है।[1] इस संसर्गाभाव के तीन भेदों का विवेचन किया जा रहा है :-

प्रागभाव :- इसका लक्षण मुक्तावलीकार ने 'विनाश्यभावः प्रागभावः', तर्कामृतकार ने 'प्रागभावो विनाशी अजन्यः, तर्कभाषाकार तथा तर्ककौमुदीकार ने क्रमशः 'उत्पत्तेः प्राक् कारणे कार्यस्य अभावः प्रागभावः' तथा 'उत्पत्तेः प्राक् समवायिकारणे कार्यस्य संसर्गाभावः प्राग्भावः' किया है। उपरोक्त सभी लक्षणों का एक सामान्य अभिप्राय है कि 'जो अभाव विनाश वाला है, अजन्य है तथा अपनी उत्पत्ति के पूर्व 'कार्य' का अपने 'कारण' में जो अभाव रहता है, उस अभाव को 'प्रागभाव' कहते हैं। यथा - तन्तुओं में उत्पन्न होने से पूर्व, पट के अभाव को 'पट-प्रागभाव' कहते हैं।

तन्तुओं में पट का अभाव अनादिकाल से चला आ रहा है, परन्तु पट के उत्पन्न होने पर, वह अभाव नष्ट हो जाता है, अतः प्रागभाव, विनाश होने वाला अभाव है, वह अनादि और सान्त है। यहाँ तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से पट के रहने का अभाव कहा गया है, अर्थात् पट, जो प्रागभाव का प्रतियोगी है, उसकी प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है।

यह प्रागभाव अपने 'प्रतियोगी' के 'समवायिकारण' में ही 'स्वरूप सम्बन्ध' से रहता है, यथा - 'पट' का प्रागभाव, पट की उत्पत्ति के पूर्व उस 'पट' रूप प्रतियोगी के समवायिकारणरूप 'तन्तुओं' में ही 'स्वरूप सम्बन्ध' से रहता है, तथा 'घट' का 'प्रागभाव' उस 'घट' रूप प्रतियोगी के समवायिकारणरूप 'कपालों' में ही 'स्वरूप सम्बन्ध' से रहता है।

इस पर यह शंका होती है कि कपालादि में घट का प्रागभाव रहता है, यह किस आधार पर कहा जा सकता है ? अतः इस शंका के समाधान स्वरूप यही कहा जा सकता है कि - 'इह कपाले घटो भविष्यति' 'इह तन्तुषु पटो भविष्यति'

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-कारिका 12,13, तथा तर्ककौमुदी तथा द्रष्टव्य

ऐसी प्रतीति सभी को होती है, इस प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय, उन कपाल और तन्तु आदि में स्थित घट-पट आदि का प्रागभाव ही है।

प्रागभाव की सिद्धि :- प्रागभाव को अनुमान प्रमाण द्वारा भी जाना जा सकता है 'अयं घट: स्वोत्पत्तिक्षणावृत्तिकारणजन्य: स्वोत्पत्तिद्वितीयक्षणानुत्पन्नत्वात्'[1] अर्थात् यह घट अपने उत्पत्तिक्षण में न रहने वाले 'कारण' से जन्य है, क्योंकि वह अपनी उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में पुन: उत्पन्न नहीं होता है। इस अनुमान से यह ज्ञात होता है कि 'घट' उत्पत्ति के क्षण में 'प्रागभाव' से भिन्न अन्य 'कपाल-दण्ड-चक्र-चीवर' आदि सभी कारण विद्यमान ही है, अत: उन कारणों की सिद्धि इस अनुमान से नहीं हो सकती, अत: 'परिशेषानुमान' से घट के उत्पत्ति-क्षण में न रहने वाले उस 'प्रागभाव' रूप कारण की ही सिद्धि इस अनुमान के द्वारा की जाती है।

प्रागभाव को न मानने वाले नवीन नैयायिकों का मत[2] :- नवीन नैयायिक कहते हैं कि 'इह कपालेषु घटस्य प्रागभाव:' इस काल में 'घट' का कपालों में प्रागभाव है, इस प्रकार की प्रागभावविषयक प्रतीति सब लोगों को नहीं होती है, इस कारण प्रागभाव के होने में कोई प्रमाण नही है, यदि कपालों में घट के प्रागभाव का प्रत्यक्ष होता हो तो न्यायशास्त्र के संस्कारों से हीन लोगों को भी, उन कपालों के समान उस प्रागभाव का प्रत्यक्ष होना चाहिये, किन्तु होता नहीं, यथा प्राचीन नैयायिकों ने 'इह कपाले घटो भविष्यति' इस प्रतीति को प्रागभाव के विषय में प्रमाण बताया है, किन्तु वह उचित नहीं क्योंकि घट में जो वर्तमानकाल के स्थान पर उत्तरकालवृत्तित्व है, यही घट में भविष्यत्ता है - इस कथन से प्रागभाव की सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार उत्पन्न घट की पुनरुत्पत्ति के निवारण के लिये प्रागभाव को स्वीकार करना आवश्यक है, ऐसा जो कहा गया है, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि जिन अवयवों में जो द्रव्य समवाय सम्बन्ध से रहता है, वहीं उन अवयवों में समवाय सम्बन्ध से दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति

---

1. दिनकरी, रामरूद्री-कारिका 12-13 तथा कारिकावली पर कृष्णवल्लभाचार्यकृत 'किरणावली' टीका-कारिका 12-13

2. कारिकावली पर दिनकरी-रामरूद्री तथा किरणावलीटीका कारिका 12-13

का प्रतिबन्धक होता है, अतः इन कपालों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला 'घट' ही अपनी उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होता है, इसी से जब पुनरुत्पत्ति का निवारण हो जाता है, तब 'प्रागभाव' को घटोत्पत्ति में कारण मानना व्यर्थ ही है, ऐसा नवीन नैयायिकों का मत हैं।

प्राचीन नैयायिकों का मत :- प्राचीन नैयायिकों का कथन है कि नवीन नैयायिकों का मत उचित नहीं है, क्योंकि घट की पुनरुत्पत्ति में उस घट को ही यदि प्रतिबन्धक माना जाये तो उस प्रतिबन्धक घट के संसर्गाभाव को उस घट की उत्पत्ति में कारण अवश्य ही मानना होगा, तब संसर्गाभाव के रूप में उस प्रतिबन्धक घट का प्रागभाव ही उसके प्रति कारण बनेगा, इस प्रकार 'घट्ट कुटी प्रभात न्याय' से नवीन नैयायिकों को 'प्रागभाव' को अवश्य ही मानना पड़ेगा। अतः प्रागभाव को मानना व्यर्थ नहीं है।

प्रागभाव के सम्बन्ध में 'अनुयोगी' और 'प्रतियोगी' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है, अतः इनके अर्थ को समझना अत्यावश्यक है। 'अनुयोगी' का अर्थ है जिस स्थान या वस्तु में अभाव होता है, उसे अनुयोगी कहा जाता है', तथा 'जिस वस्तु का अभाव होता है, उसे अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है।'

प्रागभाव के विषय में यह नियम है कि प्रतियोगी सदा उत्पन्न होने वाला कार्य ही होता है और अनुयोगी उस कार्य का समवायिकारण या उपादान कारण होताहै।

प्रध्वंसाभाव :- इसका लक्षण मुक्तावलीकार ने 'जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम्, तर्कामृतकार ने ध्वंसो जन्यो अविनाशी, तर्क कौमुदीकार ने उत्पत्तेरनन्तरं समवायिकारणे कार्यस्य संसर्गाभावः प्रध्वंसः, तर्कभाषाकार ने उत्पन्नस्य कारणेऽभावः प्रध्वंसभावः, तर्कसंग्रहकार ने सादिरनन्तः प्रध्वसंः उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य किये हैं। इन लक्षणों का एक सामान्य अभिप्राय यह है कि 'उत्पन्न हुये कार्य का जो आदि से युक्त, अन्त से रहित अर्थात् जन्य और अविनाशी है, उसे 'प्रध्वंसाभाव' कहते हैं। जैसे :- जब तन्तुओं में पट उत्पन्न हो जाता है, उसके बाद यदि पुनः तन्तु अलग-अलग कर दिये जायें तो पट का नाश हो जाता है, इसी को पट का 'ध्वंस' कहते हैं। तन्तुओं में पट का ध्वंसाभाव हो गया,

यह अभाव तन्तु संयोग के नाश होने पर उत्पन्न होता है, किन्तु यदि एक बार उत्पन्न हो जाता है तो सर्वदा बना ही रहता है, अतः इसे सादि और अनन्त अभाव भी कहते हैं। प्रध्वंसाभाव में भी तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध में पट के रहने का अभाव है, अतः ध्वंसाभाव का प्रतियोगी जो पट है, उसकी प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है।

प्रध्वंसाभाव का भी प्रतियोगी सदा उत्पन्न पदार्थ ही होता है और अनुयोगी यदि असमवायिकारण के नाश से कार्य का विनाश हुआ हो तो, उत्पन्न पदार्थ का समवायिकारण होता है, किन्तु यदि उत्पन्न पदार्थ का नाश, समवायिकारण के नाश से होगा, तब तो इस ध्वंस का अनुयोगी अन्य तत्व भी हो सकते हैं।

'अनुयोगी' और 'प्रतियोगी' पदों का अर्थ 'प्रागभाव' के सन्दर्भ मे बताया जा चुका है।

प्रध्वंसाभाव के विषय में प्रमाण :- अभी तक तो प्रध्वंसाभाव का लक्षण किया जा रहा था, किन्तु अब यह शंका होती है कि प्रध्वंसाभाव के अस्तित्व में प्रमाण क्या है।[1] अतः अब इस शंका का समाधान साधक प्रतीति के आधार पर इस प्रकार किया जा सकता है कि - 'मुद्गरप्रहारादि' से जब घट नष्ट हो जाता है, तब इस घट के कपालादि अवयवों को देखकर 'अत्र घटो ध्वस्तः, अत्र घटो विनष्टः' इस प्रकार की प्रतीति सभी को होती है, अतः यह प्रत्यक्ष प्रतीति ही घट के 'प्रध्वंसाभाव' के विषय में 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'प्रध्वंसाभाव' की सिद्धि' प्रत्यक्ष प्रमाण' से होती है।

अब यह शंका उठना भी स्वाभाविक ही है कि प्रध्वंसाभाव की उत्पत्ति किससे होती है ? अतः इस शंका के समाधान में यह कहा जा सकता है कि 'जो-जो कार्य होता है, वह-वह प्रागभाव से जन्य ही होता है, उस प्रागभाव के बिना

---

1. वैशेषिक सूत्रोपस्कारः - 9/1/2 तथा सप्तपदार्थी तथा मुक्तावली पर किरणावली टीका - कारिका 12-13.

किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती 'यह कार्यरूपता जिस प्रकार घटादि के विषय में होती है, उसी प्रकार प्रध्वंसाभाव के विषय में भी होती है, अतः घटादि भाव कार्यों के समान ही, वह 'प्रध्वंसाभाव' रूप कार्य भी अपने 'प्रागभाव' से जन्य होता है। तात्पर्य यह है कि 'प्रागभाव' से 'प्रध्वंसाभाव' की उत्पत्ति होती है।

अत्यन्ताभाव :- इसका लक्षण 'मुक्तावलीकार' ने नित्यसंसर्गाभावत्वम् अत्यन्ताभावत्वम् तर्कामृतकार ने अत्यन्ताभावो तु अजन्यो अविनाशिनो, तर्ककौमुदीकार ने त्रैकलिक संसर्गाभावोऽत्यन्ताभावः', तर्कसंग्रकार ने त्रैकलिक संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिता कोऽत्यन्ता भाव, तर्कभाषाकार ने भी 'त्रैकालिको प्रभावोऽत्यन्ताभाव' किये हैं।

उपरोक्त सभी लक्षणों का सम्मिलित अर्थ लेकर 'अत्यन्ताभाव' का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है कि - नित्य संसर्गाभाव को तथा जो अनादि, अनन्त कभी न उत्पन्न होने वाला, न कभी नष्ट होने वाला अर्थात तीनो काल में होने वालाहो उसे 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं, इसकी प्रतियोगी वस्तु इसके अनुयोगी अर्थात अधिकरण में संसर्ग (समवाय से इतर) सम्बन्ध से रहती है, जिसका कि वह निषेध करता है।

प्राचीन नैयायिक वायु में रूपाभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं, क्योंकि वायु में रूप का अभाव नित्य, अनादि और अनन्त है। प्राचीन नैयायिक भूतल में घटाभाव को उत्पत्ति और विनाश वाला चौथे प्रकार का अर्थात् 'सामयिकाभाव' मानते हैं,[1] क्योंकि उनके मत में घट को भूतल से हटाने पर यह अभाव उत्पन्न हो जाता है और घटको पुनः लाने पर नष्ट हो जाता है, किन्तु नवीन नैयायिक, भूतल में घटाभाव को भी नित्य 'अत्यन्ताभाव' ही मानते हैं। 'भूतल में घटाभाव' इस स्थान पर अभाव का प्रतियोगी घट है, उस घट का भूतल में संयोग से रहने का निषेध है, अतः घट की प्रतियोगिता संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न है, किन्तु वायु में रूप का अभाव, इस स्थल पर वायु में समवाय सम्बन्ध के रूप गुण के होने का निषेध है, तात्पर्य यह है कि यहां रूप जो कि प्रतियोगी है, उसकी प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है।

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 12

अब यह शंका उठना उचित ही है कि यह अत्यन्ताभाव किन-किन स्थलों पर नही रहता, अतः विश्वनाथ [1] ने इस शंका के समाधान के लिये यह बताया है कि यह अत्यन्ताभाव, अपने प्रतियोगी के प्रागभाव के अधिकरण में तथा अपने प्रतियोगी के प्रध्वंसाभाव के अधिकरण में कभी नहीं रहता, क्योंकि उस प्रागभाव के साथ तथा प्रध्वंसाभाव के साथ, अत्यन्ताभाव का सदैव विरोध रहता है, और परस्पर विरोधी पदार्थ एक अधिकरण में नहीं रह सकते, ऐसा तो सभी को विदित है।

किन्तु 'नवीन नैयायिकों' का कथन है कि अत्यन्ताभाव अपने प्रतियोगी प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव के साथ विरोध होने में कोई प्रमाण नहीं है, अतः अत्यन्ताभाव के अधिकरण तथा प्रध्वंसाभाव के अधिकरण अपने प्रतियोगी प्रागभाव में ही रहता है। अतः 'श्यामघटे रक्तो नास्ति' इस प्रतीति का विषय रक्तरूप का अत्यन्ताभाव भी हो सकता है तथा 'रक्त घटे श्यामो नास्ति' इस प्रतीति का विषय श्याम रूप का अत्यन्ताभाव भी हो सकता है।

सामयिकाभाव :- कुछ विद्वान संसर्गाभाव का एक चौथा भेद सामयिकाभाव भी मानते हैं, जैसा कि मुक्तावलीकार ने भी कहा है, और उसका लक्षण 'उत्पत्ति विनाशवान् अभावः सामयिकाभावः' किया है, अर्थात जो अभाव उत्पत्ति और विनाशवान् होता है, वह सामयिकाभाव कहलाता है। मुक्तावलीकार ने इसका दूसरा लक्षण इस प्रकार किया है :- 'उत्पादविनाशशाली चतुर्थोऽयमभावः' [2] इन दोनों का अभिप्राय एक ही है।

सामयिकाभाव के विषय में नवीन नैयायिक यह मानते हैं कि इसको पृथक मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसको मानने में कोई प्रमाण नहीं है और उसे अत्यन्ताभाव से पृथक् मानने में गौरव दोष भी है।

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 12
2. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 12

इस अभाव-भेद का विवेचन न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों में नहीं किया गया है, अतः इसका विस्तृत विवेचन नहीं किया जा रहा है।

अभी तक तो 'संसर्गाभाव' के तीनों भेदों का निरूपण किया जा रहा था, किन्तु अब अभाव के द्वितीय भेद अन्योन्याभाव का निरूपण किया जा रहा है:-

अन्योन्याभाव :- तर्कभाषाकर ने अन्योन्याभाव का लक्षण 'तादात्म्य प्रतियोगिताकोऽभावः' किया है, इसका तात्पर्य यह है कि तादात्म्य का विरोधी जो अभाव होता है, उसे अन्योन्याभाव कहते हैं। इस लक्षण का अभिप्राय यह है कि 'तादात्म्यं प्रतियोगि यस्य सः'' अर्थात् तादात्म्य है प्रतियोगी जिसका, ऐसा अभाव । जिसका अभाव होता है, वही उस अभाव का प्रतियोगी कहलाता है, 'तादात्म्य' का अर्थ है - तद्रूपता, एकरूपता अर्थात् अभेद । इस प्रकार दो वस्तुओं के तादात्म्य का अभाव ही अन्योन्याभाव है।

तर्कसंग्रहकार, मुक्तावलीकार तथा तर्ककौमुदीकार ने भी ऐसे ही लक्षण किये हैं - 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावोऽन्योन्याभावः' ।

इसे दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है, यथा - 'घटः पटो न भवति' अर्थात् घट, पट नहीं है, यहां पर घट तथा पट के अभेद का निषेध किया गया है। घट का अपने स्वरूप के साथ तादात्म्य है, लेकिन उसका पट के साथ तादात्म्य नहीं है, अथवा जैसे:- 'घटेपटाभावः' घट में पट का अभाव - यहां पर घट में जो पटाभाव है, उसका प्रतियोगी घट है, वह तादात्म्य सम्बन्ध से घट में नहीं रहता ।

'तर्कामृतकार' का कथन है कि 'अन्योन्याभावः तु अजन्यः अविनाशिनः' अर्थात् अन्योन्याभाव, अजन्य और अविनाशी हैं।

अब यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि - अन्योन्याभाव के विषय में क्या प्रमाण हैं ? अतः इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि अन्योन्याभाव भी अत्यन्ताभाव के समान ही उत्पत्ति-विनाश से रहित होने के कारण 'नित्य' माना जाता है, अतः भूतल में संयोग सम्बन्ध से घट के विद्यमान रहने पर भी 'भूतलं घटो न' इत्याकारक जो प्रतीति होती है, वह अन्योन्याभाव को ही विषय

करती है उसी प्रकार तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से पट के विद्यमान रहने पर भी 'तन्तुः पटो न' इत्याकारक जो प्रतीति होती है, वह भी तन्तुओं में पट के अन्योन्याभाव को ही विषय करती है। उसी प्रकार तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से पट के विद्यमान रहने पर भी 'तन्तुः पटोन' इत्याकारक जो प्रतीति होती है, वह भी तन्तुओं में पट के अन्योन्याभाव को ही विषय करती है । उसी प्रकार पृथिवी आदि द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से गुण, कर्म, सामान्य के विद्यमान रहने पर भी 'द्रव्यं गुणों न, द्रव्यं कर्म न, द्रव्यंसामान्ये न' इत्यादि जो प्रतीति होती है, वह भी यथाक्रम द्रव्य में ग गुण-कर्म-सामान्य के अन्योन्याभाव को ही विषय करती है, अतः अन्योन्याभाव के अस्तित्व में प्रत्यक्ष प्रतीति ही प्रमाण है।

जहां तक अन्योन्याभाव के भेदों का प्रश्न है, तो मुक्तावलीकार ने 'अन्योन्याभावस्यैकविधत्वात्तद्विभागाभावात्' ऐसा कहकर अन्योन्याभाव के विभाग न होने के कारण उसे एक ही प्रकार का माना है।

किन्तु कुछ विद्वानों ने अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव के भी विषय अन्योन्याभाव सामान्य अन्योन्याभाव तथा विशेष अत्यन्ताभाव, सामान्य अत्यन्ताभाव इस प्रकार दो-दो भेद माने हैं ।

अभाव को आधार स्वरूप मानने वाले प्रभाकर का मत :- प्राभाकर के मत का प्रतिपादन तथा उसका खण्डन विश्वनाथ ने मुक्तावली टीका में इस प्रकार किया है-

प्राभाकर का मत है कि अभाव कोई अलग पदार्थ नही है, बल्कि जिस आधार में अभाव की प्रतीति होती है, वही आधार उसका स्वरूप है, अर्थात जब 'भूतल में घटाभाव' की प्रतीति होती हैतो भूतल में घट का न होना, अर्थात भूतल का घट के बिना होना, केवल अपने स्वरूप में होना, तात्पर्य यह है कि भूतल का 'कैवल्य' ही घटाभाव का स्वरूप है। भूतल के कैवल्य अर्थात केवल रूप से भिन्न घटाभाव कोई अलग पदार्थ नही है, अतः मीमांसक भूतल में घटाभाव को भूतल स्वरूप ही मानते हैं, कोई अलग पदार्थ नही मानते, ऐसा मानने से कल्पना का लाघव भी होता है, क्योंकि आधार तो पहले से ही माने हुये पदार्थ हैं, उनके अतिरिक्त किसी 'अभाव' नामक पदार्थ को नही मानना पड़ता ।

प्राभाकर के उपरोक्त मत का खण्डन करने में मुक्तावलीकार ने तीन युक्तियां दी हैं :-

(1) अनन्त आधारों को ही अभाव मानने की अपेक्षा, अभाव को एक अलग पदार्थ मानने में ही लाघव हैं, क्योंकि अभाव को एक अलग पदार्थ यदि न मानें तो अनन्त आधारों के रूप में मानने में अधिक गौरव है।

(2) 'भूतले घटाभाव' यहां पर आधार आधेयभाव की प्रतीति होती है, अभिप्राय यह है कि भूतल आधार है और घटाभाव आधेय । परन्तु यदि घटाभाव को भूतल स्वरूप ही मान लिया जाये तो आधार और आधेय की अलग-अलग प्रतीति नहीं बन सकती ।

(3) अभाव को आधार स्वरूप मानने में एक कठिनाई, यह भी होगी कि यह सभी का अनुभव है कि जिस इन्द्रिय से, जिस वस्तु की प्रतीति होती है, उसी इन्द्रिय से वस्तु के अभाव का भी ग्रहण होता है, यथा - शब्द का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है तो शब्द के अभाव का ग्रहण भी श्रोत्रेन्द्रिय से ही होगा किन्तु अभाव को यदि आधारस्वरूप मानें तो अभाव की प्रतीति उस इन्द्रिय से नहीं हो सकती, अतः सभी के अनुभव का विरोध आने से अभाव को आधार स्वरूप नहीं माना जा सकता ।

इन तीन युक्तियों से मुक्तावलीकार ने अभाव के आधारस्वरूप होने का खण्डन किया है।

अभाव की अतिरिक्त पदार्थता :- कुछ लोग (बौद्ध) अभाव को ज्ञान स्वरूप मानते हैं, इनका कथन है कि जब हम भूतल को देखते हैं और घट की याद आने पर यह ध्यान आता है कि घट यहाँ नहीं है, तब 'भूतल में घटाभाव' एक विशेष प्रकार का ज्ञान है किन्तु इसका समाधान करते हुये मुक्तावलीकार[1] कहते हैं कि ऐसा मानने पर वही दोष होगा अर्थात प्रत्यक्षता सम्भव न होगी। यह सभी का अनुभव है कि भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष, चक्षु से होता है, परन्तु अभाव यदि ज्ञानस्वरूप है,

---

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - कारिका 12

तो ज्ञान का प्रत्यक्ष मनस् इन्द्रिय से होता है, जिसे मानस प्रत्यक्ष कहते हैं, किन्तु घटाभाव का तो चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, अतः भूतल में घटभाव का ज्ञान विशेष नहीं माना जा सकता ।

कुछ विद्वानों (बौद्धों) का मत है कि 'भूतल' में घटाभाव' एक काल-विशेष है, अभिप्राय यह है कि भूतल के उस काल को, जब घट वहां नहीं होता, घटाभाव कहते हैं। अतः घटाभाव कोई अलग पदार्थ नहीं है, बल्कि भूतल के ही एक काल का तो वाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता नहीं और यदि 'भूतल में घटाभाव' कालविशेष हो तो उसका वाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष कैसे होता है ।

अतएव नैयायिक अभाव को एक पृथक पदार्थ स्वीकार करते हैं ।

<u>मीमांसक भट्टपाद का मत</u> :- इनका कहना है कि उपरोक्त दोनों से अभाव अधिकरणस्वरूप नहीं है, किन्तु उस अधिकरण से पृथक है, परन्तु उस अभाव का चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु अनुपलब्धि प्रमाण' से ही अभाव का ज्ञान होता है।

<u>वेदान्तमतः</u> :- इनका मत इस प्रकार है - भूतल आदि के विषय में जो घटादि का अभाव होता है, वह अभाव अधिकरणरूप नहीं होता, किन्तु वह घटादि का अभाव उन भूतल आदि अधिकरणों से भिन्न ही होता है, परन्तु जो वस्तु, जिस अधिष्ठान में कल्पित होती है, उस कल्पित वस्तु का अभाव, अपने अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता अपितु अधिष्ठानरूप ही होता है, यथा - रज्जु में कल्पित सर्प का अभाव रज्जुरूप ही होता है तथा शुक्ति में कल्पित रजत का अभाव शुक्तिरूप ही होता है और भूतलादिकों पर स्थित घटाभाव का चक्षुरादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु 'अनुपलब्धि प्रमाण' से ही उस अभाव का ज्ञान होता है।

<u>शक्ति तथा सादृश्य की अतिरिक्त पदार्थता का खण्डन :</u>

वैशेषिक शास्त्र सात ही पदार्थ स्वीकार करता है, किन्तु प्राभाकर मीमांसक 'शक्ति' और 'सादृश्य' को इन सात पदार्थों से भिन्न दो अलग पदार्थ मानते हैं, इस प्रकार वे सात के स्थान पर नौ पदार्थ मानते हैं ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली तथा तर्कसंग्रह की न्यायबोधिनी टीका में शक्ति और सादृश्य के अतिरिक्त पदार्थता का खण्डन किया गया है और सात ही पदार्थ माने गये हैं, मीमांसकों के मत तथा उसका खण्डन जिस प्रकार इन ग्रन्थों में किया गया है, उसका विवेचन अब किया जा रहा है :-

प्राभाकरमत :- न्यायतत्वचिन्तामणि के उपमानखण्ड में प्राभाकर के मत से सात पदार्थों से भिन्न होने के कारण 'शक्ति और सादृश्य' के भी अलग पदार्थ होने की शंका उठायी गयी है, शक्ति के अलग पदार्थ मानने के विषय में उठाई गई शंका इस प्रकार है - किसी वस्तु की शक्ति को उस पदार्थ से अतिरिक्त मानने के पक्ष में प्राभाकर मत वाले यह युक्ति देते हैं कि - अग्नि पदार्थों को जलाता है, परन्तु उसमें जो जलाने की शक्ति है, वह अग्नि से अतिरिक्त वस्तु है, क्योंकि यदि चन्द्रकान्त मणि को अग्नि के साथ रख दिया जाये तो फिर वह अग्नि जलाने का काम नहीं करती और यदि चन्द्रकान्तमणि को हटा दें तो आग फिर जलने लगती है, इस प्रकार चन्द्रकान्तमणि के पास लाने पर आग में जलाने की शक्ति नष्ट हो जाती है और चन्द्रकान्तमणि को हटा देने पर आग में जलाने की शक्ति पुनः आ जाती, अतः यह कल्पना की जाती है कि, जलाने की शक्ति, आग से पृथक पदार्थ है, इसीलिये कभी वह शक्ति आग में आ जाती है और कभी चली जाती है।

यदि शक्ति को अलग पदार्थ न माने तो फिर आग के होने पर और चन्द्रकान्त मणि के लाने पर भी जलाने का कार्य अवश्य होना चाहिये, इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि चन्द्रकान्तमणि से भिन्न एक सूर्यकान्तमणि भी होती है, इसे आग की शक्ति का 'उत्तेजक' कहा जाता है, अतः चन्द्रकान्तमणि को आग के पास लाने से यदि आग की जलाने की शक्ति नष्ट भी हो जाती है तो सूर्यकान्तमणि के पास ला देने से चन्द्रकान्तमणि के रहने पर भी पुनः आ जाती है, इस प्रकार आग में कभी शक्ति के आने अथवा कभी शक्ति के नष्ट होने से यह सिद्ध होता है कि शक्ति एक अतिरिक्त पदार्थ है, यह प्राभाकर मीमांसक का मत है।

उत्तेजक का लक्षण :- प्रतिबन्धककोटिप्रविष्टाभावप्रतियोगित्वं उत्तेजकत्वं' अर्थात्

कार्य के प्रतिबन्धक कोटि के विषय में प्रविष्ट जो अभाव है, उस अभाव का जो प्रतियोगीपन है, उसी का नाम उत्तेजकत्व है।

शक्ति की अतिरिक्त पदार्थता का खण्डन :- इसकी अतिरिक्त पदार्थता का खण्डन मुक्तावलीकार तथा उनके टीकाकारों गंगेश उपाध्याय एवं न्यायलीलावतीकार आदि ने इस प्रकार किया है :-

प्रमाण का अभाव होने से शक्ति अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, ऐसा लीलावतीकार का मत है।

किन्तु शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानने में जो युक्ति दी गई है, उसका खण्डन गंगेश उपाध्याय ने तत्वचिन्तामणि के उपमान खण्ड में जिस प्रकार किया गया है, उसी का विवेचन मुक्तावली, किरणावली टीका तथा तर्कसंग्रह की न्यायबोधिनी टीकाओं में किया गया है :-

यदि शक्ति अलग पदार्थ है तो किसी वस्तु के समीप होने से या न होने से शक्ति का बार-बार उत्पन्न होना या नष्ट होना मानना पड़ेगा, इस प्रकार अनन्त शक्तियां तथा उन शक्तियों के उत्पन्न होने से पहिले होने वाले अनन्त प्रागभावों तथा शक्तियों के नष्ट होने से उनके अनन्त ध्वंसाभावों को मानना पड़ेगा, इस प्रकार तरह-तरह के अनन्त पदार्थों की कल्पना करने की अपेक्षा, इसमें न्यून कल्पना करनी पड़ेगी कि अग्नि मात्र को दाह का कारण न मानकर, चन्द्रकान्तमणि आदि के अभाव से विशिष्ट अग्नि को दाह का कारण माना जाये, इस प्रकार जब चन्द्रकान्तमणि आ जाता है तो उस समय अग्नि 'चन्द्रकान्तमणि के अभाव से युक्त नहीं होती, अतः वह दाह नहीं कर पाती, अग्नि और चन्द्रकान्तमणि का अभाव, ये दोनों मिलकर दाह करते हैं, चन्द्रकान्तमणि के आने पर उसका अभाव नहीं रहता, अतः दाह नहीं होता।

इस पर यह शंका उठती है कि यदि चन्द्रकान्तमणि के अभाव से युक्त अग्नि या स्वतंत्र रूप से चन्द्रकान्तमणि का अभाव, दाह के प्रति कारण है, तो उत्तेजक (सूर्यकान्तमणि) के होने पर और चन्द्रकान्तमणि के रहने पर भी दाह कैसे हो जाता है, क्योंकि वहां पर दाह का कारण जो चन्द्रकान्तमणि का अभाव है, वह विद्यमान

नहीं है, फिर उस कारण के बिना दाह कैसे हो जाता है ? तब इसके समाधान में कहा जा सकता है कि केवल चन्द्रकान्तमणि के अभाव को दाह का कारण नहीं माना जाता, प्रत्युत् उत्तेजक के अभाव से विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि के अभाव को दाह का कारण माना जाता है, अतः कोई दोष नहीं होता ।

इस प्रकार शक्ति पदार्थ की अतिरिक्त पदार्थता का खण्डन, न्याय-वैशेषिक शास्त्र में किया गया है।

सादृश्य की अतिरिक्त पदार्थता का खण्डन :- शक्ति के भांति ही मीमांसक सादृश्य को भी अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं, उनका कहना है कि सादृश्य-द्रव्य, गुण और कर्म में तो रहता ही है, पर साथ ही वह सामान्य (जाति) में भी रहता है, परन्तु सामान्य में कोई भाव पदार्थ नहीं रह सकता, क्योंकि सामान्य में द्रव्य, गुण, कर्म तथा सामान्य नहीं रहते और न ही विशेष और समवाय ही रहते हैं, इसका अभिप्राय यह है कि 'सामान्य' में जो पदार्थ रहेगा, वह इन छः भाव पदार्थों से भिन्न होगा। सादृश्य अभावरूप भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'वह है' इस प्रकार उसकी भावात्मक प्रतीति होती है, उसकी अभावात्मक अर्थात् न होने के रूप में प्रतीति नही होती ।

अतः मीमांसक सादृश्य को भाव और अभाव पदार्थों से भिन्न अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं।

सादृश्य पदार्थ की अतिरिक्त पदार्थता का खण्डन न्यायसिद्धान्तमुक्तावली तथा उनके टीकाकारों एवं गंगेश उपाध्याय कृत 'तत्वचिन्तामणि' के 'उपमान खण्ड' में इस प्रकार किया गया है -

नैयायिक कहते हैं कि 'सादृश्य' को यदि कोई पदार्थ मानें तब तो यह कहा जा सकता है कि वह इन सातों पदार्थो से भिन्न एक अलग पदार्थ होगा, किन्तु 'सादृश्य' को कोई अलग पदार्थ नहीं मानते क्योंकि किसी पदार्थ से भिन्न होने पर भी, उस पदार्थ के बहुत से धर्म दूसरे पदार्थ में पाये जायें, तो उसे ही सादृश्य कहते हैं।

द्रव्य आदि पदार्थो का समान धर्म ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व और प्रमेयत्व आदि हैं। द्रव्यादि छः भाव पदार्थों का साधर्म्य 'भावत्व' अर्थात् भावरूप होना है, समवाय को छोड़कर अन्य पदार्थो (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष) का साधर्म्य 'अनेक होना है' तथा समवाय को छोड़कर अन्य पाँचों पदार्थों का साधर्म्य 'समवायी' अर्थात् पाँचों भाव पदार्थ 'समवाय' सम्बन्ध से रहते हैं, यह है। द्रव्य, गुण और कर्म का साधर्म्य 'सत्ताजाति वाला हाना है और गुण कर्म, सामान्य विशेष, समवाय और अभाव का साधर्म्य गुणरहित ओर कर्मरहित होना' है।

सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव का साधर्म्य 'सामान्य रहित' होना है। इसी प्रकार परिमाण्डल्य (अणु में रहन् वाला परिमाण) को छोड़कर अन्य सभी पदार्थो में कारणता रहती है, अतः 'कारणता' रूप धर्म परिमाण्डल्य से अन्य पदार्थो के वैधर्म्य तथा परिमाण्डल्य को छोड़कर अन्य पदार्थों के साधर्म्य को बताता है।

इसी प्रकार 'समवायिकारण होना' केवल द्रव्य का ही साधर्म्य है और 'असमवयिकारण होना' केवल गुण और कर्म का ही साधर्म्य है। किन्तु 'समवयिकारण होना' द्रव्य से भिन्न का वैधर्म्य है और 'असमवयिकारण होना' भी गुण और कर्म से भिन्न का 'वैधर्म्य' है। नित्य द्रव्यों (परमाणु, आकाश आदि) से भिन्न का साधर्म्य 'आश्रितत्व' अर्थात किसी दूसरे में समवाय सम्बन्ध से रहना है।

द्रव्य का ही विशेष रूप से 'साधर्म्य' भी विश्वनाथ[1] ने इस प्रकार बताया है:-

पृथ्वी से लेकर नौ द्रव्यों का साधर्म्य 'द्रव्यत्व' जति और 'गुण' वाला होना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मनस् का साधर्म्य - 'परत्व, अपरत्व गुण वाला होना, मूर्तत्व क्रिया वाला होना और वेग वाला होना है। इसी प्रकार काल, आकाश, आत्मा और दिशा का साधर्म्य 'सर्वव्यापकता' और परम महत् परिमाण है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश साधर्म्य 'भूत' होना तथा पृथिवी, जल, अग्नि और वायु का साधर्म्य 'स्पर्श वाला होना' है। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चारों में 'द्रव्य

---

1. भाषा परिच्छेद - करिका 24 से 29 तक

सादृश्य का लक्षण 'तद्भिन्नत्वे सतितद्गतभूयोधर्मवत्वम् सादृश्यम्' किया गया है, जिसका अर्थ है कि किसी वस्तु से भिन्न होने पर भी उस वस्तु के बहुत से धर्मों से युक्त होना ही, उस वस्तु का 'सादृश्य' कहलाता है, यथा 'चन्द्रसदृशं मुखम्' अर्थात यह मुख चन्द्रमा के सादृश है, इस प्रकार की प्रतीति में मुख से चन्द्रमा का सादृश्य सिद्ध होता है, वैसे वह मुख तो चन्द्रमा से भिन्न है, तथा उस चन्द्रमा में असाधारणरूप में रहने वाले जो आह्लादकत्व, वर्तुलत्व, तेजस्वित्व आदि बहुत से धर्म हैं, वे सभी धर्म, मुख में भी हैं, यह ही उस मुख का, चन्द्रमा से सादृश्य हैं, ये समान धर्म द्रव्य, गुण, कर्म आदि के अन्तर्गत ही होते हैं, अतः सादृश्य को कोई पृथक पदार्थ नहीं माना जा सकता ।

इस प्रकार वैशेषिक शास्त्र सम्मत सात ही पदार्थ है, न उनसे अधिक हैं और न उनसे कम । इन्हीं सात पदार्थों का विवेचन न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित ग्रन्थों में किया गया है ।

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों के आधार पर, वैशेषिक शास्त्र सम्मत पदार्थों का निरूपण किया गया ।

(ग) सातों पदार्थो का साधर्म्यवैधर्म्य निरूपण

सातों पदार्थो के साधर्म्य और वैधर्म्य का निरूपण करने के पूर्व 'साधर्म्य' और 'वैधर्म्य' का स्वरूप जानना आवश्यक है, अतः मुक्तावलीकार ने 'सामानो धर्मो येषां ते सधर्माणः, तेषां भावः साधर्म्यम' किया है, तात्पर्य यह है कि 'समान है धर्म जिनके वे सधर्मा कहलाते हैं, और उनका भाव अर्थात् उसमें रहने वाले धर्म 'साधर्म्य' कहलाते हैं, अर्थात 'समान धर्म' यह अर्थ हुआ, इसी प्रकार विरूद्धों धर्मो येषां से विधर्माणः तेषां भावो वैधर्म्यम्' अर्थात विरूद्ध हैं धर्म जिनके, वे विधर्मा कहलाते हैं और उनका भाव वैधर्म्य अर्थात विरूद्ध धर्म जिनके वे विधर्मी कहलाते हैं और उनका भाव वैधर्म्य अर्थात विरूद्ध धर्म कहलाता है।

अब विश्वनाथ द्वारा भाषा परिच्छेद में प्रतिपादित पदार्थो के साधर्म्य, वैधर्म्य का संक्षिप्त निरूपण किया जा रहा है :-

को उत्पन्न करना' साधर्म्य पाया जाता है। आकाश और आत्मा का साधर्म्य 'अव्याप्यवृत्ति' (एक देश में रहना) और क्षणिक विशेष गुण वाला होना है। पृथिवी, जल और तेजस् का साधर्म्य 'रूपयुक्त, द्रवत्वयुक्त और प्रत्यक्ष का विषय होना है। पृथिवी और जल का साधर्म्य 'गुरू (भारयुक्त होना) और रसवाले' होना है। पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश और आत्मा का साधर्म्य 'विशेषगुणवत्व' अर्थात विशेष गुण वाला होना' है।

अभी तक तो साधर्म्य का निरूपण किया गया अब वैधर्म्य बताया जा रहा है :- विश्वनाथ का कथन है कि जो जिसका साधर्म्य कहा गया है, वह उससे भिन्न का वैधर्म्य है। यह बात 'ज्ञेयत्व' आदि साधर्म्य को छोड़कर समझनी चाहिये, क्योंकि वे ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व आदि 'केवलान्वयी' हैं, अर्थात् सभी पदार्थों में रहने वाले धर्म हैं, अतः किसी के वैधर्म्य नहीं हो सकते, शेष जो-जो साधर्म्य, जिन-जिन पदार्थों के बताये गये हैं, वे उनसे भिन्न पदार्थों के वैधर्म्य हैं, तात्पर्य यह है कि उन पदार्थों से भिन्न पदार्थों में वे नहीं रहते ।

इस प्रकार विश्वनाथ ने 'कारिकावली' में पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य का निरूपण किया है, अन्य ग्रन्थकारों ने पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य का निरूपण नहीं किया है ।

x-x-x-x-x-x-x

उपसंहार

उपसंहार

न्याय और वैशेषिक दर्शनो में अत्यन्त समानता होने के कारण इन्हें समानतन्त्र शास्त्र कहा जाता है । वैशेषिक दर्शन को तो न्याय का एक अंग ही माना गया है । न्याय और वैशेषिक में अन्तर मात्र इतना है कि, वैशेषिक में प्रमेय की विवेचना को ही ध्येय माना गया है, कहने का तात्पर्य यह है कि वैशेषिक दर्शन में प्रमेय पदार्थ को प्रधानता दी गयी है, जबकि न्याय दर्शन में प्रमाण पदार्थ को प्रधानता दी गयी है । न्याय वैशेषिक शास्त्र, एक दूसरे के पूरक शास्त्र कहे जाते हैं ।

इन सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इन ग्रन्थों में परस्पर साम्य अधिक है वैषम्य कम । तर्क संग्रह, तर्क कौमुदी, तर्कामृत इत्यादि ग्रन्थों में न्याय-वैशेषिक के जिन पदार्थो का अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन किया गया है, उन्हीं पदार्थो का विस्तृत विवेचन 'कारिकावली' तथा उसकी टीका 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में किया गया है ।

कुछ वैषम्य के स्थल इस प्रकार है :-

(1) तर्ककौमुदी में 'अन्यथासिद्ध' के तीन भेद बताये गये हैं, जबकि 'कारिकावली' में इसके पाँच भेदों का विवेचन किया गया है ।

(2) इन सभी ग्रन्थों में यदि 'शब्द प्रमाण' का अध्ययन किया जाये तो यह ज्ञात होता है कि 'तर्कामृत' में शब्द प्रमाण के विवेचन की शैली अन्य ग्रन्थों से बिल्कुल भिन्न है ।

(3) पृथ्वी आदि के भेदों का विवेचन अन्य ग्रन्थों में तो उपलब्ध होता है, किन्तु 'तार्किकरक्षा' में पृथ्वी आदि के भेदों का निरूपण नहीं किया गया है ।

(4) 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में शक्ति और सादृश्य के अतिरिक्त पदार्थ होने की शंका उठाकर, उसका खण्डन किया गया है, जो अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता । इसके अतिरिक्त

पदार्थता का खण्डन किया गया है ।

(5) 'सामान्य' नामक पदार्थ के सभी ग्रन्थकारों ने दो भेद बताये है:- पर सामान्य और अपर सामान्य । किन्तु विश्वनाथ पन्चानन तथा जगदीश तर्कालंकार ने 'कारिकावली' तथा 'तर्कामृत' में 'परापर सामान्य' रूप तृतीय भेद का भी विवेचन किया है ।

(6) सभी ग्रन्थकारों ने चार प्रकार के प्रमाणों का विवेचन किया है, जबकि 'तर्ककौमुदी' में लौगाक्षिभास्कर ने पहले तो वैशेषिक के आधार पर दो प्रमाण है : प्रत्यक्ष और अनुमान तथा शब्दादि का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है, ऐसा बताते हुये न्याय में चार प्रमाण मान्य हैं, ऐसा कहकर चारों प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्द का विवेचन किया है ।

(7) तर्क के भेदों का विवेचन 'तर्कभाषा' में नही मिलता, जबकि 'तार्किकरक्षा' में वरदराज ने तर्क के पाँच भेदों का विवेचन किया है :- आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था और प्रमाणबाधितार्थ प्रसंग ।

(8) 'जाति' नामक पदार्थ के चौबीस भेदों का विवेचन 'तार्किकरक्षाकार' ने किया है, जबकि 'तर्कभाषाकार' ने उत्कर्षसमा अपकर्षसमा आदिभेदेन बहुविधा' कहकर केवल उत्कर्षसमा और अपकर्षसमा जाति भेदों का ही विवेचन किया है, अन्य का नही ।

(9) इसी प्रकार 'तार्किकरक्षाकार' ने निग्रहस्थान के बाईस भेदों के स्वरूप का विवेचन किया है, जबकि 'तर्कभाषाकार' ने न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा और विरोध आदि भेदों से बहुत प्रकार का है । ऐसा कहकर इन सात का ही विवेचन किया है ।

इसी प्रकार कुछ अन्य भी वैषम्य के स्थल हैं, जिनका उल्लेख शोध प्रबन्ध में पदार्थो का विवेचन करते समय किया गया है ।

'न्याय-वैशेषिक के सम्मिश्रित प्रक्रिया में रचित प्रमुख ग्रन्थों का महत्व'

अब यह जानना भी अत्यावश्यक है कि इन सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों की क्या उपयोगिता है, जिसके कारण इस शोध प्रबन्ध की भी उपयोगिता है:-

इन ग्रन्थों की उपयोगिता कई दृष्टियों से है, जो इस प्रकार है:-

(1) न्याय-वैशेषिक के इन सम्मिश्रित ग्रन्थों की उपयोगिता इसलिए है कि, इन ग्रन्थों के अध्ययन से न्याय और वैशेषिक इन दोनों ही दर्शनों के पदार्थों का एक साथ ही सम्यक् रूप से और सुगमता से ज्ञान हो जाता है ।

यदि केवल न्याय के ग्रन्थों यथा-न्यायसूत्र इत्यादि का अध्ययन किया जाये तो वैशेषिक के ज्ञान से वंचित रह जायेंगे और यदि वैशेषिक के ग्रन्थों यथा 'वैशेषिक सूत्र' इत्यादि का अध्ययन करें तो न्याय के ज्ञान से वंचित रह जायेंगे, किन्तु इन सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों के अध्ययन से इन दोनों ही दर्शनों के सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाता है ।

इसी प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अध्ययन से न्याय और वैशेषिक इन दोनों ही दर्शनों के सिद्धान्तों का ज्ञान एक साथ ही हो जाता है ।

(2) श्रमसाध्यता और कालसाध्यता की दृष्टि से भी इन सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों की उपयोगिता है । यदि न्याय और वैशेषिक इन दोनों ही दर्शनों का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो यदि न्याय के ज्ञान के लिये, न्याय के ग्रन्थों और वैशेषिक के ज्ञान के लिये, वैशेषिक के ग्रन्थों का पृथक-पृथक अध्ययन किया जायेगा तो इसमें समय भी अधिक लगेगा और श्रम भी अधिक लगेगा, किन्तु यदि इन सम्मिश्रित प्रकरण ग्रन्थों का अध्ययन किया जाये तो कम समय में तथा कम परिश्रम में ही न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्तों का सम्यक् रूप से ज्ञान हो जायेगा ।

अतः इस दृष्टि से भी इन ग्रन्थों की उपयोगिता है । इसी प्रकार इस शोध प्रबन्ध द्वारा दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों का एक साथ ही पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है ।

अतः मुझे आशा है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध सभी के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा ।

----000----

(सन्दर्भ ग्रन्थ सूची)

सन्दर्भ ग्रन्थ

मूल ग्रन्थ एवं टीकायें:-

तर्क कौमुदी ।। अंग्रजी अनुवाद ।। — ~~लौगाक्षि~~ लौगाक्षि भास्कर, आंग्ल अनुवाद डा0 कृष्णनाथ चट्टोपाध्याय, चौरम्भा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संवत् 2038 ।

तर्कामृतक् ।। हिन्दी व्याख्या ।। — श्री जगदीश तर्कालंकार, हिन्दी व्याख्या पं0 श्री ज्वालाप्रसाद गौड़, मोती लाल बनारसीदास, वाराणसी, 1989 ।

तर्कसंग्रह ।। हिन्दी व्याख्या ।। — डा0 दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1988 ।

तर्कसंग्रह ।। संस्कृत, हिन्दी, टीका ।। — पदकृत्य टीका, आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी:, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1989

तर्कसंग्रह ।। संस्कृत टीका ।। — बालबोधिनी, उपन्यास टीका, पं0 शिवनारायण शास्त्री, सम्पादक, भारतीय पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, वाराणसी, 1974 ।

तर्कसंग्रह तारोदय ।। हिन्दी व्याख्या।। — पं0 शिवनारायण शास्त्री, भारती पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, वाराणसी, 1974 ।

तर्कसंग्रह ।। हिन्दी व्याख्या ।। — डा0 आद्यप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, 1989 ।

तर्कभाषा ।। हिन्दी व्याख्या ।। — आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, संवत् 2039 ।

तर्कभाषा ।। हिन्दी व्याख्या ।। — गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी 1984 ।

तर्कभाषा ।। हिन्दी व्याख्या ।। — श्री निवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, 1984 ।

तर्कभाषा ।। हिन्दी व्याख्या ।। — बदरीनाथ शुक्ल, मोती लाल बनारसीदास, वाराणसी, 1976 ।

तर्कभाषा प्रकाशिका ।। संस्कृत टीका ।। — चिन्नम्भट्ट भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1979 ।

तर्कभाषा ।। अंग्रेजी अनुवाद ।। — एस0 आर0 अय्यर, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1979 ।

तार्किकरक्षा ।। संस्कृत टीका साहित्य।। — वरदराज, मोतीलाल बनारसीदास, बाराणसी, 1903 ईसवीय वर्ष ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ।। प्रत्यक्ष खण्ड हिन्दी अनुवाद।। — डा0 धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, मोतीलाल, बनारसीदास, वाराणसी 1989 ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, प्रत्यक्ष खण्ड ।।हिन्दी व्याख्या।। — डा0 श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी1984 ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ।।मयूरव, प्रकाश व्याख्या।। — पण्डितराज श्री सूर्य नारायण, शुक्ल, श्री हरिकृष्ण निबन्ध भवन, वाराणसी, 1987 तथा 1991

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ।।शब्द खण्ड।। — डा0 बदरीनारायण पाण्डेय, वाराणसेय संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1987 ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ।।शब्द खण्ड।। — अशोक चन्द्र गौड़ शास्त्री, आर्य्य प्राच्य विद्या प्रकाशन, संस्थान, वाराणसी 1977 ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ।।हिन्दी, संस्कृत टीका।। — न्यायाचार्य पं0 श्री ज्वाला प्रसाद गौड़, सरयू देवी डी0 34/185 गणेश महल, वाराणसी, 1960।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली।।संस्कृत टीका।। — पं0 श्री कृष्ण बल्लभाचार्य, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, संवत् 2039.

सहायक ग्रन्थ

अर्थसंग्रह ।।हिन्दी व्याख्या।।	डा0 वाचस्पति उपाध्याय चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, दिल्ली ।983
न्यायलीलावती ।।मूल ग्रन्थ।।	श्री वल्लभाचार्य, तुकाराम जावजी, बम्बई, ।915.
न्यायसूत्र ।।हिन्दी व्याख्या।।	स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी ।966.
न्यायदर्शन ।।हिन्दी व्याख्या।।	आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्रि, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, आफिस, वाराणसी, ।970.
न्यायकुसुमांजलि ।।हिन्दी व्याख्या।।	श्री दुर्गाधर झा डायरेक्टर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, ।973.
प्रशक्तपाद भाष्यम् ।।काशिका हिन्दी व्याख्या।।	आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, ।966.
ब्रह्मसूत्रशंकरभाष्य ।।हिन्दी व्याख्या।।	श्री सत्यानन्द स्वामी, गोविन्दमठ टेढ़ीनीम, वाराणसी, संवत् 2022.
योगसूत्रभाष्यसिद्धिः ।।हिन्दी व्याख्या।।	डा0 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य, संवित् प्रकाशन, ।97।.
वेदान्तपरिभाषा ।।हिन्दी व्याख्या।।	डा0 गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, ।977.
वेदान्तसारः ।।हिन्दी व्याख्या।।	डा0 सन्तनारायण श्रीवास्तव्य, पियूष प्रकाशन, ।33 नई कालोनी अलोपीबाग, इलाहाबाद, ।983.

वैशेषिकसूत्रोपस्कारः ।।हिन्दी, संस्कृत व्याख्या।। आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्भा, संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1969.

सांख्य तत्व कोमुदीप्रभा ।।हिन्दी व्याख्या।। डा0 आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, संवत् ~~2030.~~ 2037.

कुल अन्य सहायक ~~ग्रन्थ~~ ग्रन्थ ।। संस्कृत ।।

किरणावली, तत्वचिन्तामणि, तत्ववैशारदी, न्यायकन्दली, न्यायसार, न्यायबिन्दु, न्यायमंजरी, न्यायवर्तिक, न्यायवार्तिकतार्त्यटीका, मीमांसा सूत्र, सप्तपदार्थी, सांख्यसूत्र, सर्वदर्शनसंग्रह, श्लोकवार्तिक, शास्त्रदीपिका, शबरभाष्य, भाष्यरत्न, गीता।

हिन्दी ग्रन्थ

अनुमान प्रमाण — डा0 बलिराम शुक्ल, ईस्टर्न, बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1986.

उद्योतकर का न्यायवार्तिकः एक अध्ययन।। — डा0 दयाशंकर शास्त्री, भारतीय प्रकाशन, कानपुर, 1974.

भारतीय दर्शन में अनुमान — डा0 ब्रजनारायण शर्मा

भारतीय दर्शन — विक्रमादित्य सिंह, प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ, 1973.

भारतीय दर्शन	आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1984.
भारतीय दर्शन	सम्पादक - नन्दकिशोर देवराज, उत्तर प्रदेश हिन्दी, संस्थान, लखनऊ, 1983.
भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण	संगमलाल पाण्डेय, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 1984.
भारतीय दर्शन परिचय	प्रो0 हरिमोहन झा
भारतीय दर्शन	उमेश मिश्र
भारतीय दर्शन ।।भाग 2।।	डा0 राधाकृष्णन्
भारतीय दर्शनशास्त्र, न्याय-वैशेषिक	धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, 1953 ई0
भारतीय न्यायशास्त्र: एक अध्ययन	डा0 ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, 1967.
भारतीय न्यायशास्त्र	डा0 चक्रधर बिजल्वान, उत्तर प्रदेश हिन्दी, संस्थान, लखनऊ ।
वैशेषिक दर्शन	डा0 बद्रीनाथ सिंह, आशा प्रकाशन, वाराणसी, 1988.
वैशेषिक दर्शन: एक अध्ययन	श्री नारायण मिश्र, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1968.

अंग्रजी ग्रन्थ

A History of India Philosphy, Part 1,2,3,4.	Dr. S.N. Das Gupta.
Conception of Matter according to Nyaya and Vaishesikas-IInd adition.	Dr. M. N. Umesh Misra

शोध पत्र

व्याप्ति के सम्बन्ध में बोद्ध तथा नैयायिकों का मतभेद।	डा0 किशोरनाथ झा, तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान, 1972.
"त्रिविधमनुमानम्"	ध्रुव, अव्यक्षीय भाषण प्राच्य विद्या सम्मेलन, पूना, 1919,
नण्य न्याय में व्याप्ति का विकास	पं0 विश्वनाथ शास्त्री दातार, तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान, 1972.

न्यायस्य प्रामाण्यवाद	डा0 केदारनाथ ओझा, संस्कृतम्, फरवरी ।
हेत्वाभास सामान्य लक्षण	सु0 नीलकण्ठ शास्त्री, शारदा - 1968.